स्वर्गीय श्री इन्द्रचन्द जी
गेलड़ा की पुण्य स्मृति में
उनकी धर्म पत्नी द्वारा प्रदत्त
सहायता से प्रकाशित

मूल्य २)

दिनाक २६ जनवरी, '५५ "गणतन्त्र दिवस"

नेर में मुद्रित

प्रकाशकीय निवेदन

प्रखर प्रतिभाशाली, सन्तशिरोमणि, अध्यात्म एवं दर्शन-शास्त्र के तलस्पर्शी विद्वान्, युगनिर्माता, दिवंगत परम पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज की प्रवचन-वाणी में से संगृहीत 'अनाथ भगवान्' नामक यह किरण पाठकों के कर-कमलों में पहुँचाते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है। पूज्य श्री के प्रवचन-साहित्य के संबंध में नये सिरे से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रह गई है। कवि ठीक कहता है—

न हि कस्तूरिकाऽऽमोदो शपथेन विभाव्यते।

कस्तूरी का सौरभ बतलाने के लिए कसम खाने की आवश्यकता नहीं होती। मन को मुग्ध करने वाला वह सौरभ तो आप ही आप प्रकट हो जाता है।

पूज्यश्री के इस साहित्य की धर्मप्रिय, गंभीर विचारशील विद्वानों ने तथा सन्त-समुदाय ने एक स्वर से प्रशंसा की है। धर्मनिष्ठ जैन जनता के लिए यह स्वाध्याय की उत्तम सामग्री सिद्ध हुआ है। जहाँ सन्तों-सतियों के चातुर्मास नहीं हो पाते, उन क्षेत्रों में यह साहित्य ही व्याख्यान के रूप में पढ़ा-सुना जाता है।

इतना सब होने पर भी इस साहित्य का जितना प्रचार और प्रसार होना चाहिए था, उतना नहीं हो सका है। सर्व-साधारण जनता की ओर से जितना प्रोत्साहन मिलना चाहिए, उतना नहीं मिल रहा है। किरणावली

का जितना अधिक विक्रय होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है। इस कारण हमारी स्थिति द्विविधा-पूर्ण हो रही है। एक ओर विचारक वर्ग, साहित्य प्रेमी और तत्त्वजिज्ञासु विद्वान् किरणावली साहित्य के प्रकाशन के लिए प्रबल प्रेरणा करते हैं और दूसरी ओर यथेष्ट विक्रय के अभाव में हमारा उत्साह मन्दा पड़ता जा रहा है। यही कारण है कि पिछली किरणों की भूमिका में ५१ किरणों के प्रकाशन की अपनी भावना व्यक्त कर चुकने पर भी आज हमें नया प्रकाशन करने में हिचकिचाहट हो रही है। इसी के फलस्वरूप पिछले वर्षों में जिस तेजी के साथ प्रकाशन कार्य हुआ था, अब नहीं हो रहा है। फिर भी यह सिलसिला चालू ही है। हमें आशा है, इस साहित्य के प्रेमी पाठक एवं पूज्य श्री के भक्त गण इस ओर ध्यान देकर हमारे उत्साह की वृद्धि करेंगे।

प्रस्तुत किरण का नाम 'अनाथ भगवान्' है। पाठकों को यह नाम अनोखा सा प्रतीत होगा। भगवान् को जगत् का नाथ एवं तीनों लोकों का नाथ तो सभी कहते हैं, पर अनाथ भी भगवान् हो सकते हैं यह बात विचित्र है। फिर भी इस पुस्तक का आदि से अंत तक पढ़ने वाले समझ सकेंगे कि यह नाम कितना वास्तविक है।

इस किरण का प्रकाशन समाज में सुविख्यात भद्रभाषी सेठ श्री इन्द्रचन्द्रजी साहब गेलड़ा की धर्मनिष्ठा धर्मपत्नी जी की ओर से हो रहा है। बड़े ही सन्ताप एवं दुःख का विषय है कि आज गेलड़ाजी हमारे मध्य में नहीं हैं। विकराल काल ने उन्हें हम से अकाल में ही छीन कर समाज को जो क्षति पहुँचाई है उसकी पूर्ति होना कठिन है। श्रीमान् गेलड़ाजी परमोदार, शान्त मधुरभाषी और साहित्य प्रेमी सज्जन थे। श्रीजवाहर

साहित्य के प्रकाशन मे उनका बहुमूल्य योग रहा है। हितेच्छु श्रावकमंडल की ओर से, पूज्यश्री के भगवती-सूत्र सबंधी प्रवचनो के छह भाग आपकी सहायता से ही प्रकाशित हुए हैं। किरणावली की २५-२६-२७ वीं किरणे—उदाहरणमाला के तीन खण्ड—भी आपकी ही उदार सहायता से प्रकाश में आये हैं। प्रस्तुत किरण भी आपकी धर्मपत्नीजी की ओर से ही प्रकाशित हो रही है। आपका संक्षिप्त परिचय उन किरणों में दिया जा चुका है।

निस्सन्देह आपका सहयोग बडा ही महत्व-पूर्ण रहा है यह श्रीमानो के लिए आदर्श और अनुकरणीय है। क्या हम आशा रक्खे कि अन्य महानुभाव भी इसी प्रकार अपनी उदारता का परिचय देकर पूज्यश्री के साहित्य के प्रकाशन का परम पुण्य उपार्जन करेगे ? हम अपनी ओर से और साथ ही पाठकों की ओर से श्रीमती गेलड़ाजी का अनेकशः धन्यवाद करते हैं।

प्रस्तुत किरण मे महामुनि अनाथ भगवान् का वर्णन किया गया है। इस के सम्पादित करने मे ज्ञानोदय सोसाइटी, राजकोट की ओर से प्रकाशित गुजराती व्याख्यान संग्रह मे से अनाथी-चरित एवं रतलाम-मण्डल की ओर से प्रकाशित 'सनाथ-अनाथनिर्णय' का उपयोग किया गया है। उक्त दोनो पुस्तके भी पूज्यश्री के प्रवचन ही हैं। हिन्दी मे 'सनाथ-अनाथनिर्णय' अत्यन्त संक्षिप्त था। उसमे इस कथा की प्रतिपादक, उत्तराध्ययन सूत्र के 'महानियण्ठिज्ज' नामक बीसवें अध्ययन की गाथाओ का स्पष्टीकरण मात्र था। उस पर पूज्यश्री का विस्तृत और सारगर्भित विवेचन नहीं आ पाया था। इसी त्रुटि को दूर करने के उद्देश्य से 'अनाथ भगवान्' का प्रकाशन किया जा रहा है।

आशा है यह सारगर्भित और वैराग्य वर्धक कथानक पाठकों को रुचिकर होगा ।

इसकी प्रस्तावना लिखने का जो कष्ट विद्वद्वर विजयमुनि ने किया है उसके लिये हम मुनिश्री के अत्यन्त आभारी हैं।

निवेदक

भीनासर — चम्पालाल बांठिया,

१-१-५५ — मन्त्री, श्रीजवाहर साहित्य समिति

प्रस्तावना

जिस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने के क्षणों में मैं चल रहा हूं, वह क्या है ? मानव-जीवन को उसमें से क्या प्रेरणा मिल सकती है ? भौतिकता के अतिरेक से पीडित मानवता के नव्य और भव्य संदेश देने में यह कहां तक सफल हुई है ? प्रश्नों की एक लम्बी परम्परा हमारे समक्ष खड़ी है। उन समस्त प्रश्नों के समाधान का सम्भार मैं अपने पर न लेकर पाठकों से ही अनुरोध करता हूँ कि वे जरा प्रस्तुत पुस्तक को हाथ मे उठाकर खोलें और यदि विहंगावलोकन ही करें तब भी प्रस्तुत प्रश्नों का सुन्दर समाधान पा सकेंगे।

आत्मविकास की पूर्णता और लोक जीवन की सफलता के लिये जिन विचार स्फुलिंगों की आवश्यकता है, वे प्रस्तुत पुस्तक में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। जिसकी जितनी योग्यता तथा पात्रता है वह उतना इनमें से अधिगत कर सकता है। आत्म-साधना के महा-मार्ग पर चलने वाला साधक इस ज्ञान-सरिता के तट पर से प्यासा नहीं लौट सकेगा। ज्ञान सागर के तट ही पर बैठकर 'रत्न-रत्न' रटने से रत्न नहीं मिला करते। उसके लिए तो गहरे गोते की जरूरत है। सन्त कबीर के शब्दों में यही कहना होगा—

"जिन ढूंढा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
मैं बापुरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठ।"

प्रस्तुत पुस्तक में महान् ज्योतिधर, आचार्य प्रवर, श्रद्धेय जवाहरलाल जी महाराज के प्रवचनों का सुन्दर एवं सरस संकलन है। पूज्य प्रवर अपने युग के महान् व्याख्याताओं में से अग्रणी थे। उनकी वाणी में सहज प्रवाह, स्वाभाविक गहनता और जन्मजात प्रखरता प्रस्फुटित हो उठी है। जिस युग में, जैन जगत युग की प्रगति और विकास से अपरिचित था, उस अन्धकार पूर्ण युग के पूज्य प्रवर तमस्वी सूर्य हैं। उनकी वाणी के दिव्य आलोक का स्पर्श पाकर एक ओर हमारा प्रसुप्त समाज अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ और दूसरी ओर दूसरा समाज भी प्रखर प्रखरतम प्रतिद्वन्द्वी को पाकर अपनी मनमानी न कर सका। ज्योतिधर जवाहर ने अपने आत्म बल से उपनिषत्कालीन ऋषि के स्वर में स्वर मिलाकर आघोष किया—"भूत्यै जागरणम्, अभूत्यै स्वप्नम्।" जागने वाला विभूति पाता है और सोनेवाला उसे खो बैठता है। पूज्य श्री की वाग्धारा में बहने वाला श्रोता भलीभांति यह जान सकता है कि उनके प्रवचनों में कितना जीवन तत्त्व और कितनी जीवन ज्योति उभर कर ऊपर उठ रही है। वे केवल प्रखर प्रवक्ता ही नहीं, समाज के जीवन धन के सच्चे प्रहरी भी थे। सत्य पथ से भटक कर इधर उधर गलत प्रचार करने वालों को उन्होंने गम्भीर चेतावनी दी थी—

'रात बिचारी क्या करै पथी न चले विचार।
सत मारग को छोड़िकै, फिरै उजार उजार॥"

समाज की अकर्मण्यता पर प्रहार करते हुए पूज्यश्री जी ने कहा था—"काम करने वाले लोग कम हैं। लोगो की जीभ लम्बी हो रही है और हाथ छोटे होते जा रहे हैं।"

उनकी वाणी के रूप में उनके जो बहुमूल्य विचार-स्फुलिंग आज समुपलब्ध हैं, उसी विचार लड़ी की एक कड़ी प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के हाथों में आ रही है।

उतराध्ययन सूत्र का २० वां अध्ययन इसका आधार है। महामुनि अनाथी और महाराजा श्रेणिक—दोनों जैन संस्कृति के और जैन धर्म के विशिष्ट पुरुष हैं। दोनों दो छोरों पर स्थित हैं, एक त्यागवाद पर और दूसरा भोगवाद पर। त्याग और भोग का इसमें सुन्दर समन्वय साधा गया है। पूज्यश्री ने अपने प्रतिभा बल से उस त्याग-बिन्दु को महासागर बना दिया है।

पुस्तक की भावना, भाषा और शैली सरस और सुबोध रही है। गुजराती भाषा में प्रस्तुत पुस्तक बहुत पहले ही निकल चुकी है। प्रसन्नता है कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी में भी यह आ रही है।

श्रद्धेयवर पण्डित श्री श्रीमल जी महाराज के सत्य-यत्न से यह विशाल प्रवचन साहित्य समय समय पर प्रकाशित होता रहा है और आशा है, भविष्य में भी वे अवशिष्ट एवं अप्रकाशित प्रवचनों का प्रकाशन कराकर ज्ञान-सेवा का महान् लाभ लेते रहेंगे। श्रद्धेय श्री श्रीमल जी महाराज के जीवन-पट पर आचार्य श्री जी के विचार और आचार का सीधा प्रकाश पड़ा है वह उनकी निजी बपौती है। अपनी बपौती का अधिक से अधिक

प्रचार और प्रसार करना, पण्डित जी महाराज का अपना एक महान् कर्त्तव्य है, जिसे वह बड़ी श्रद्धा और निष्ठा से निभा रहे हैं और भविष्य में भी उनसे बहुत आशाएं की जा सकती हैं।

महावीर-भवन
अलवर, १० १ ५५

—विजय मुनि

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।
अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसिट्ठिं सुणेह मे ॥ १ ॥

अर्थ— सिद्धों को और संयतों को भावपूर्वक नमस्कार करके मैं धर्म रूप अर्थ का मार्ग क्या है, यह कहता हूँ। मेरा कथन सुनिए।

इस अध्ययन के वक्ता श्री सुधर्मा स्वामी हैं। सुधर्मा स्वामी भगवान् महावीर के पांचवें गणधर और पट्टशिष्य थे। उन्होंने अपने पट्टशिष्य श्री जम्बूस्वामी को उद्देश्य करके यह अध्ययन कहा है।

गुरु अपने शिष्य से कहते हैं— मैं तुम्हें शिक्षा देता हूँ और मुक्ति का मार्ग बतलाता हूँ, परन्तु मैं अपनी निज की शक्ति से नहीं किन्तु सिद्धों और संयतों को नमस्कार करके, उनकी शरण ग्रहण करके और उनसे शक्ति प्राप्त करके बतलाता हूँ।

साधारणतया जहां का मार्ग पूछा जाता है, वहीं का बतलाया जाता है। किन्तु यहां तो मुक्ति का मार्ग बतलाया जा रहा है। अतएव यहां कहा गया है कि मैं अर्थ और धर्म का मार्ग बतलाता हूँ।

'अर्थ' का अर्थ

'अर्थ' शब्द की व्याख्या यहां इस प्रकार की गई है :—

'अर्य्यते प्रार्थ्यते धर्मात्मभिरित्यर्थ, स च प्रकृते मोक्ष संयमादिर्वा, स एव धर्म तस्य गतिर्ज्ञान यस्या, ताम् अनुशिष्टि मम शृणुत।'

जिस वस्तु की इच्छा की जाती है, उसे अर्थ कहते हैं। साधारण जन अर्थ का अर्थ धन-दौलत समझते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए इधर उधर दौड़धूप करते हैं। किन्तु यहा यह अर्थ विवक्षित नहीं है। आप लोग धन के लिए यहा नहीं आये हैं। आप धन के लिए दौड़धाम करते हैं, किन्तु यहा धन मिलने की संभावना न होने पर भी आये हैं, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अर्थ का धन के अतिरिक्त और भी कुछ अर्थ है और उसी के लिए आप यहा आये हैं।

किसी गृहस्थ की कदाचित् ऐसी इच्छा हो सकती है कि हम साधुओं के पास जायेंगे तो किसी दूसरे बहाने हमे धन की प्राप्ति हो जायगी परन्तु साधु या सती की ऐसी भावना भी नहीं होती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यहा धन की प्राप्ति न होने पर भी आप आये हैं, अतएव अर्थ का अर्थ धन ही नहीं, कुछ और भी है।

कहा जा चुका है कि जिस वस्तु की इच्छा की जाती है, उसका नाम अर्थ है। किन्तु इस प्रकरण मे यह विशेष समझना चाहिए कि धार्मिक जन जिसकी इच्छा करें वह धर्म है। धार्मिक जन धर्म की ही इच्छा करते हैं। अतएव यहा अर्थ का अर्थ धर्म विवक्षित है।

इसी गाथा में आगे कहा गया है कि धर्म रूपी अर्थ में जिसके द्वारा गति होती है, उसको मैं शिक्षा देता हूँ। धर्म रूप अर्थ मे ज्ञान द्वारा गति होती है और ज्ञान द्वारा ही धर्म रूपी अर्थ प्राप्त

किया जा सकता है, अतएव इस कथन का आशय यह होता है कि 'मै ज्ञान की शिक्षा देता हूँ।'

ज्ञान का अर्थ भी व्यापक है। संसार व्यवहार का ज्ञान भी ज्ञान ही कहलाता है, परन्तु यहां यह कहा गया है कि धर्म रूपी अर्थ में गति कराने वाले तत्त्व का ज्ञान देता हूँ। यह ज्ञान आपके अन्तर में विद्यमान है, किन्तु वह जागृत नहीं है। अतएव मैं शिक्षा देकर उस ज्ञान को जागृत करने का प्रयत्न करता हूँ।

दीपक में तेल भी हो और बत्ती भी हो, फिर भी अग्नि का संयोग हुए विना वह प्रकाश नहीं दे सकता। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में ज्ञान विद्यमान है, किन्तु वह ज्ञान महापुरुष के सत्संग के बिना विकसित नहीं हो सकता। अगर आत्मा में ज्ञान की सत्ता ही न होती तो महापुरुप का सत्संग भी क्या काम आता? वह किसको विकसित करता? जिस दीपक में तेल नहीं है या बत्ती नहीं है, उसे दूसरे जलते हुए दीपक का स्पर्श कराया जाय तो भी क्या परिणाम निकलने वाला है? खाली चूल्हे में फूँक मारने से आंखों में राख ही पड़ती है, और कोई सुपरिणाम नहीं निकलता। इसी प्रकार जब तक अपनी आत्मा में शक्ति न हो तब तक महापुरुषों की संगति या उनकी शिक्षा भी व्यर्थ जाती है।

इस गाथा में कहा गया है कि—'मै शिक्षा देता हूँ' इस कथन से यह फलित होता है कि महापुरुषों ने हमारे भीतर शक्ति देखी है, इसी कारण वे हमें शिक्षा देते हैं। हमारे अन्दर ऐसी शक्ति विद्यमान है— हममें उस ज्ञान की सत्ता है जो महापुरुषों की

शिक्षा के द्वारा विकसित हो सकता है, अतएव हमें सावधान होकर उनकी शिक्षा को सुनना चाहिए।

'सिद्ध' पद का अर्थ

शिक्षा देने वाले महापुरुष ने कहा है— मैं सिद्ध और सयत को नमस्कार करके शिक्षा को प्रारभ करता हूँ। परन्तु यहा हमें जानना चाहिए कि सिद्ध का अर्थ क्या है? पचनमस्कारपद में भी सिद्धों को नमस्कार किया गया है। अतएव हमें 'सिद्ध' शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

'सिद्ध' पद मे का 'सित्' शब्द 'सिञ् व धने' धातु से बना है। जिस महान् आत्मा ने सित् को अर्थात् आठ कर्म रूप लकडियों के बधे भार को, ध्यातम् अर्थात् शुक्लध्यान रूप जाज्वल्यमान अग्नि केद्वारा भस्म कर डाला हो, वह सिद्ध कहलाता है।

'षिधु गतौ' धातु से भी सिद्ध शब्द बनता है। इसका अभिप्राय यह निकलता है कि जो ऐसे स्थान पर गमन कर चुके हैं— पहुँच गये है कि जहाँ से वापिस नहीं लौटना पड़ता, वह सिद्ध कहलाते है।

कुछ लोग कहते हैं कि सिद्ध होने के पश्चात् भी सिद्ध ससार का अभ्युत्थान करने के लिए पुन ससार म अवतरित होते हैं। किन्तु ऐसा हो तो सिद्धिस्थान भी एक प्रकार का ससार ही बन जायगा। सच्चा सिद्धिस्थान तो वही कहला सकता है कि जिससे फिर कभी भी ससार में आना ही न पडे। गीता म कहा है —

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ।

अर्थात्—जहाँ पहुँचजाने के बाद कभी वापिस नहीं लौटना पड़ता, वही परम धाम कहलाता है। यही परम धाम सिद्धिस्थान है। जहाँ जाने के पश्चात् फिर संसार में आना पड़ता है, वह तो एक प्रकार का संसार ही है।

व्युत्पत्ति के आधार पर सिद्ध शब्द का तीसरा अर्थ भी किया गया है। 'षिधु संराद्धौ' इस अर्थ में जो कृतकृत्य हो गया हो। जिसके लिए कुछ भी करना शेष न रह गया हो, वह भी सिद्ध कहलाता है।

जैसे पकी हुई खिचड़ी को कोई दोबारा नहीं पकाता, उसी प्रकार जिन्होंने आत्मा के समस्त काम सिद्ध कर लिये हों और जिनके लिए कुछ भी करना शेष न रह गया हो, वह सिद्ध है। इस प्रकार एक ही शब्द के तीन अर्थ निकलते हैं, किन्तु उनका भावार्थ एक ही है।

'षिधूम् शास्ते मांगल्ये' इस धातु से बने सिद्ध शब्द का अर्थ है—दूसरों को उपदेश देकर जो मोक्ष पहुँचे है, वह सिद्ध हैं, शास्ता का अर्थ उपदेशक होता है। अतएव दूसरों को उपदेश प्रदान कर के जिन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, वह सिद्ध हैं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जो तीर्थंकर हो कर सिद्ध हुए हैं, उन्हें शास्ता कहना तो उचित है, क्योंकि वे दूसरों के कल्याण का उपदेश देकर मोक्ष पहुंचे हैं, किन्तु सभी सिद्ध तीर्थंकर नहीं होते। सिद्ध पन्द्रह प्रकार के होते हैं। उनमें से कई ऐसे भी हैं जो उपदेश दिये बिना ही मोक्ष पहुंचते हैं। उनके लिए 'शास्ता'

पद का प्रयोग कैसे किया जा सकता है ? जो महात्मा ध्यान मौन द्वारा मोक्ष पाते है, क्या वे भी जगत् को कोई उपदेश देते हैं ? अगर नहीं तो उन्हें शास्ता कैसे कहा जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो महात्मा ध्यान मौन द्वारा मोक्ष मे जाते हैं, वे भी ससार को किसी न किसी प्रकार की शिक्षा देते ही है। अतएव उन्हें भी शास्ता कहा जा सकता है। वे मौन का सेवन करके भी शिक्षा देते है और ससार को ऐसी शिक्षा की आवश्यकता भी है। यह ससार विशेषत मौन सेवन करनेवालों की सहायता करने से ही चल रहा है। मूक सृष्टि के आधार पर ही यह बोलती सृष्टि टिकी हुई है। अतएव यह कहना सही नहीं है कि जो महात्मा बोलते नहीं है किन्तु ध्यान-मौन द्वारा ही कल्याण करते हैं, वे ससार को कोई उपदेश या शिक्षा नहीं देते। वे भी जगत के उपकारक और शिक्षा दाता होते हैं।

सिद्ध भगवान् ने मोक्ष प्राप्त किया है और इसी से लाग मोक्ष के इच्छुक हैं। अगर वे मोक्ष न गये होते तो कोई मोक्ष की इच्छा न करता। वे महात्मा मन, वचन और काम की सशुद्धि साध कर मोक्ष गये हैं और इस प्रकार उन्होंने ससार के लोगों को मोक्ष का माग बतलाया और उनके अन्त करण मे मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न की। अतएव उन्हें भी शास्ता कहा जा सकता है।

शास्ता के साथ यह भी कहा गया है कि जो मागलिक हो, वह सिद्ध है। मागलिक का अर्थ है—पाप का नाश करने वाला। तो जो पाप का नाश करने वाला है वह सिद्ध है। इस प्रकार जो शास्ता और मागलिक है वह सिद्ध है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सिद्ध भगवान् अगर मांगलिक हैं तो बड़े बड़े महात्माओं को रोग और दुःख क्यों सहन करने पड़े? गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते हुए अंगार रक्खे गये और दूसरे महात्माओं को भी अनेक दुःख सहन करने पड़े। वहाँ सिद्धों की मांगलिकता क्यों काम न आई? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मंगल का अर्थ पाप को नाश करने वाला होता है। अगर कष्ट देने वाले पर कष्ट सहन करने वाले को द्वेष उत्पन्न हो तो उसमें मंगल नहीं है। हाँ, अगर द्वेष का भाव उत्पन्न न हो तो मंगल समझना चाहिए। गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर दहकते हुए अंगार सोमिल ब्राह्मण ने रखे, परन्तु उन मुनि ने सोमिल को शत्रु नहीं माना, अपने में मंगल जगाने वाला मित्र माना।

इस प्रकार सिद्ध भगवान् भावमङ्गल हैं। आप द्रव्य मङ्गल देखते हैं। जिनमें भाव-मांगलिकता है, वे द्रव्यमङ्गल का चमत्कार भी दिखला सकते हैं, किन्तु वे महात्मा ऐसा करने की इच्छा नहीं करते। वे तो आत्मा की शान्ति की ही रक्षा करना चाहते हैं। अगर वे किसी प्रकार का द्रव्य ने चमत्कार बताने के इच्छुक होते तो चक्रवर्त्ती का राज्य और सोलह-सोलह हजार देवों की सेवा क्यों त्याग देते? और क्यों संयम को धारण करते? जहाँ देवता सेवक बन कर रहते हों वहाँ द्रव्य चमत्कार में क्या कमी रह सकती है? किन्तु सत्य तो यह है कि ऐसे महात्मा इस प्रकार के चमत्कार की इच्छा ही नहीं करते। जैसे कोई सूर्य की पूजा करता है और कोई सूर्य को गाली देता है। मगर सूर्य गालियां देने वाले पर रुष्ट होकर उसे कम प्रकाश नहीं देता और पूजा करने वाले पर तुष्ट हो

कर उसे अधिक प्रकाश नहीं देता। वह सब को समान प्रकाश देता है। यही स्थिति सिद्ध भगवान् की है।

सिद्ध का पाचवा अर्थ है—जिनकी सिद्धि प्राप्त करने की आदि तो है किन्तु अन्त नहीं है, वह भी सिद्ध कहलाते हैं।

गुरु महाराज शिष्य से कहते हैं कि सिद्ध भगवान को नमस्कार करके, धर्म रूपी अर्थ का सच्चा मार्ग क्या है यह बात में तुम्हें बतलाता हूँ। सिद्धों को नमस्कार करके मे सयमियों को भी नमस्कार करता हूँ।

सूत्र के रचयिता गणधर चार ज्ञानों के स्वामी थे। वे भी कहते हैं कि जो सयत है—भाव से सयम का पालन करनेवाले है, मैं उन्हें भी नमस्कार करता हूँ। गणधर महाराज के इस कथन से साधुओं को समझना चाहिए कि यदि हममे भाव से साधु का गुण होगा तो गणधर भी हमे नमस्कार करते हैं और यदि साधुता का गुण न हुआ तो हममे कुछ भी नहीं है।

इस बीसवें अध्ययन म जो कुछ भी कहा गया है, उसका सक्षिप्त सार इस पहली गाथा मे दे दिया गया है। इस प्रथम गाथा मे सम्पूर्ण अध्ययन का सार किस प्रकार समाविष्ट कर दिया गया है इस बात को विशेषज्ञ ही समझ सकता है। यह बात केवल जैन शास्त्र के सम्बन्ध मे ही लागू नहीं होती, किन्तु अन्य ग्रथों मे भी पूरे ग्रन्थ का सार आदि सूत्र मे ही कह दिया गया, देखा जाता है। उदाहरण के लिए कुरान को लीजिए। मैंने कुरान का अनुवाद देखा था। उसम कहा गया है कि १२४ इलहाी पुस्तकों का सार तो तेत, इञ्जील, जबूर और कुरान इन चार पुस्तकों मे दिया गया है।

फिर चारों का सार कुरान में लाया गया है और कुरान का सार उसकी पहली आयत में दिया गया है—

विसमिल्लाह रहिमाने रहीम।

इस एक ही आयत में कुरान का सार किस प्रकार समाविष्ट है, यह एक विचारणीय बात है। परन्तु जब इस आयत में 'रहिमान' और 'रहीम' यह दोनों आगये तब कुरान में और क्या शेष रह गया ? हमारे यहाँ भी कहा गया है कि—

दया धर्म का मूल है

दया शब्द में दो ही अक्षर हैं, परन्तु क्या उसमें सभी धर्मों का सार नहीं आ जाता है ? दया सब धर्मों का सार है, यह बात कुरान, पुराण या वेद शास्त्र से ही नहीं, वरन् अपने अन्तःकरण से भी जानी जा सकती है। कल्पना कीजिए, आप जंगल में हैं और कोई मनुष्य तलवार लेकर आता है और आपकी जान लेना चाहता है। तब आप उस मनुष्य में क्या कमी देखेंगे ? यही कि उसमें दया नहीं है।

इसी समय कोई दूसरा मनुष्य आता है और उस दुष्ट मनुष्य से कहता है 'भाई, इसे मत मार। अगर मारना ही है तो मुझे मार डाल।' अब आप इस दूसरे मनुष्य में क्या विशेषता देखेंगे ? आप यही कहेंगे कि वास्तव में इस मनुष्य में दया की विशेषता है इसमें दया का गुण है।

प्रश्न यह है कि यह बात आप किस प्रकार जान सके ? इसका उत्तर आप यही देंगे कि हम अपने अन्तःकरण से ही यह बात

समझ सके हैं। हमारा अन्तःकरण ही साक्षी दे रहा है कि इस मनुष्य मे दया है। आत्मा स्वय ही अपनी रक्षा चाहता है अतएव इस व्यवहार से उसने परख लिया कि इस मनुष्य मे दया का गुण है।

इस प्रकार दया आत्मा का धर्म है अगर आपको धर्मात्मा बनना है तो दया को अपने जीवन मे ताने बाने की तरह बुन लो। शास्त्र में कहा है

एवं खु नाणिणो सारं जे न हिंसइ किंचणं।

—सूत्रकृतांग सूत्र

अर्थात्—किसी जीव को न मारना ही ज्ञान का सार है। जैसी अपनी आत्मा वैसी ही दूसरों की आत्मा है। जैसे तुम नहीं मरना चाहते, वैसे ही दूसरे भी नहीं मरना चाहते। जैसे तुम्हें खराब वस्तु पसद नहीं, वैसे ही दूसरों को भी पसद नहीं। इसी प्रकार तुम्हें अपने लिए प्रतिकूल जान पड़ता है, वही दूसरों को भी प्रतिकूल जान पडता है। ऐसा जान कर दूसरों को दु ख न पहुचाना किन्तु दूसरों पर दयाभाव रखना चाहिए। एक फारसी कवि ने कहा है –

ख्वाहि कि तुरा हेच बदी न आयद पेश,
तालानी बदी मकुन, अज कमोबेश ॥

अर्थात्—अगर तू चाहता है कि मेरे ऊपर कोई जुल्म न करे तो जिसे तू जुल्म मानता है, उसे तू दूसरों पर न कर। कोई तुम्हें

मार कर तुम्हारी चीज़ छीन लेना चाहता है, झूठ बोल कर ठगना चाहता है अथवा तुम्हारी स्त्री पर बुरी निगाह डालता है तो तुम उसे अत्याचारी समझोगे। यह बात इतनी सीधी और सरल है कि इसकी खातिरी के लिए किसी पुस्तक की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं। ज्ञानी जनों का कहना है कि जिस चीज को तुम अपने लिए अत्याचार समझते हो, वह दूसरों के प्रति मत करो। किसी की हिंसा न करो। असत्य न बोलो। किसी की स्त्री पर बुरी निगाह न डालो और किसी की चोरी न करो। यह मान लोगे तो तुम अत्याचारी नहीं रहोगे। जब तुम स्वयं अत्याचारी नहीं रहोगे तो क्या दूसरे तुम्हारे ऊपर अत्याचार कर सकेंगे? इस बात पर गहरा विचार करोगे तो तुम्हें स्पष्ट मालूम हो जाएगा कि दया धर्म का और हिंसा पाप का मूल है। करीमा में ठीक ही कहा है :—

चहल चाल उम्रे अजी जश्त गुजिश्त।
मिजाजे तो अजहाल तिफली न जश्त॥

अर्थात—तू चालीस वर्ष का हो गया फिर भी तेरा छुकड़पन नहीं गया। अब तो बचपन को छोड़ कर बात को समझ। जिसे तू जुल्म गिनता है, उसे दूसरा त्यागे, अथवा न त्यागे किन्तु अगर तुझे धर्मात्मा बनना है तो तू तो त्याग दे। कोई राजा यह नही सोचता कि सब लोग राजा नहीं हैं तो मै ही क्यों राजा रहूँ? तो फिर दूसरों ने जुल्म का त्याग किया है या नहीं, यह बात भी तुम्हें क्यों सोचनी चाहिए? दूसरे जुल्म का त्याग नहीं करेंगे तो वे भुगतेंगे, किन्तु मुझे तो धर्मात्मा बनना है। तू जुल्म का त्याग करदे।

'मैं कल्याण की शिक्षा देता हूँ' ऐसा यहाँ कहा गया है। यह कल्याण की शिक्षा शास्त्रकार न केवल साधुओं और न श्रावकों को ही, वरन् जगत् के समस्त जीवों को देते हैं। जब सूर्य सबको समान प्रकाश देता है, किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता तो फिर जो भगवान् सूर्य से भी अधिक महिमा से मण्डित हैं, वे किसी भी प्रकार का भेदभाव कैसे रख सकते हैं?

१—महान् का अर्थ

उत्तराध्ययन शास्त्र का जैन परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। इस शास्त्र के संबंध में अन्यत्र विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है। अतएव उसे यहाँ दोहराना उचित नहीं है। जिज्ञासु जन वहाँ देख ले।

यहाँ उत्तराध्ययन के वीसवे अध्ययन का व्याख्यान किया जा रहा है। इस अध्ययन का नाम 'महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन' है। अतएव यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि महान् और निर्ग्रन्थ शब्दों का अर्थ क्या है ?

पूर्वाचार्यों ने महान् शब्द का अर्थ बतलाते हुए अनेक बातें समझाई है। उन सब बातों को कहने का अभी समय नहीं है, क्योंकि सूत्र समुद्र की भाँति असीम है। अपने जैसे जीव उसकी सीमा का निर्धारण नहीं कर सकते। फिर भी इस सबंध में थोड़ा कहना आवश्यक है।

पूर्वाचार्यों ने आठ प्रकार के महान् बतलाए है—(१) नाम से (२) स्थापना से (३) द्रव्य से (४) क्षेत्र से (५) काल से (६) प्रधानता से (७) प्रतीत्य अर्थात् अपेक्षा से और (८) भाव से। इस अध्ययन मे किस प्रकार के महान् का वर्णन किया गया है, यह यहाँ देखना है; किन्तु इससे पहले उपर्युक्त आठ महानों का अर्थ समझ लेना उचित है।

(१) नाम-महान्—जिसमें महत्ता का एक भी गुण नहीं है,

परन्तु जो केवल नाम से ही महान् है, वह नाम महान् कहलाता है।

जैन शास्त्रों ने प्रारंभ और अन्त समझाने का बहुत प्रयत्न किया है। साधारणतया प्रत्येक वस्तु को नाम से ही जाना जा सकता है। किंतु नाम के साथ उसके स्वरूप को भी समझना चाहिए

(२) स्थापना महान्— किसी वस्तु मे महान्ता का आरोपण कर लेना स्थापना महान् है।

(३) द्रव्यमहान्— जब केवलज्ञानी अन्त समय मे केवलि समुद्घात करते हैं तब उनके कर्मप्रदेश चौद॰ राजू लोक मे फैल जाते हैं और उनके शरीर में से निकला महास्कन्ध समस्त लोक में समा जाता है। वह द्रव्य से महान् है।

(४) क्षेत्र महान्—समस्त क्षेत्रों मे आकाश ही महान् है, क्योंकि आकाश समस्त लोक और अलोक में व्याप्त है।

(५) कालमहान्—कालों मे भविष्य काल महान् है। जिनका भविष्य सुधरा उनका सभी कुछ सुधरा। भूतकाल कैसा ही उज्ज्वल क्यों न रहा हो, पर वह बीत चुका है। अतएव भविष्य काल ही महान् है।

(६) प्रधान महान्—जो प्रधान माना जाता है, उसे सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेद से तीन भेद हैं। सचित्त मे भी चतुष्पद, द्विपद और अपद यह तीन भेद हैं। द्विपदों मे तीर्थंकर महान्

हैं; चतुष्पदों में अष्टापद महान् गिना जाता है और वृक्ष आदि अपदों में पुण्डरीक कमल महान् माना जाता है। अचित्त में चिन्तामणि रत्न महान् है और मिश्र में तीर्थंकरों का राज्यसम्पदा युक्त शरीर महान् है। तीर्थंकर का शरीर तो दिव्य होता ही है, किन्तु राज्याभिषेक के समय वह जो वस्त्राभूषण पहन कर बैठते हैं, वह भी महान् होते हैं। स्थान के कारण वस्तु का भी महत्त्व बढ़ जाता है। इस कारण मिश्र में तीर्थंकर का वस्त्राभूषण से युक्त शरीर महान् है।

(७) अपेक्षा महान्–एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु का महान् होना अपेक्षा महान् है। जैसे सरसों या राई की अपेक्षा चने का दाना महान् है और चने के दाने से बोर महान् है।

(८) भाव महान्–टीकाकार का कथन है कि प्रधानता की अपेक्षा से क्षायिक भाव महान् है और आश्रय की अपेक्षा पारिणामिक भाव महान् हैं। क्योंकि जीव और अजीव दोनों ही पारिणामिक भाव के अधीन हैं। किसी-किसी आचार्य के मत से औदयिक भाव महान् है, क्योंकि अनन्त संसारी जीव औदयिक भाव के आश्रित हैं। इस प्रकार विभिन्न मत होने पर भी आश्रय की अपेक्षा से पारिणामिक भाव ही महान् है। क्योंकि पारिणामिक भाव में सिद्ध और संसारी-दोनों प्रकार के जीवों का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार प्रधानता की अपेक्षा क्षायिक भाव महान् है।

यहाँ महान् निर्ग्रन्थ का प्रकरण है। निर्ग्रन्थ को द्रव्य, क्षेत्र आदि की दृष्टि से महान् नहीं कहा है, परन्तु जो महापुरुष

पारिणामिक भाव से क्षायिक भाव मे प्रवर्त्तते हैं, उन्हें महान् कहा है।

२– निर्ग्रन्थ का अर्थ

अब विचार कीजिए कि निर्ग्रन्थ किसे कहना चाहिए ? निर्ग्रन्थ का अर्थ क्या है ? जो द्रव्य और भाव से बन्धनकर्त्ता पदार्थों से निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात जो द्रव्य और भाव ग्रन्थि से मुक्त होते हैं, वह निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। द्रव्यग्रन्थि नौ प्रकार की और भाव ग्रन्थि चौदह प्रकार की है। इन दोनों प्रकार की ग्रन्थियों का त्याग कर देने वाले निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

कोई व्यक्ति द्रव्यग्रन्थि को तो छोड़ दे किन्तु कषाय आदि भावग्रन्थि को न छोडे तो वह निर्ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। निर्ग्रन्थ को तो निश्चय और व्यवहार– दोनों प्रकार की ग्रन्थियों को त्यागने की आवश्यकता है। पन्द्रह प्रकार के सिद्धों मे गृहलिंगी भी सिद्ध होते हैं और अन्यलिंगी भी सिद्ध होते हैं, किन्तु वे भाव की अपेक्षा सिद्ध होते हैं। द्रव्य की अपेक्षा तो स्वलिंगी ही सिद्ध होते हैं। अतएव द्रव्य और भाव - दोनों प्रकार की ग्रन्थियों से जो विमुक्त होते हैं, वही निर्ग्रन्थ कहलाते हैं और जो सम्पूर्ण रूप से दोनों प्रकार की ग्रन्थियों से मुक्त हो जाते हैं, वह महानिर्ग्रन्थ कहलाते हैं। कोई द्रव्यग्रन्थि से ही मुक्त होते हैं और कोई भाव ग्रंथि से ही, परन्तु जो दोनों प्रकार की ग्रन्थियों से छूट जाता है, वही महानिर्ग्रन्थ कहलाता है।

आजकल लोग प्राय जो आता है उसी के यत्र जाते हैं।

परन्तु शास्त्र कहता है कि तुम निर्ग्रन्थधर्म के अनुयायी हो, किसी विशेष व्यक्ति के अनुयायी नहीं। कोई निर्ग्रन्थधर्म की बात कहे उसे मानो और जो निर्ग्रन्थधर्म की बात न कहे उसे मत मानो।

निर्ग्रन्थधर्म का प्रतिपादन निर्ग्रन्थप्रवचन करता है। द्वादशांगी निर्ग्रन्थप्रवचन की वाणी को सजीवन करने वाले-- उसका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ और शास्त्र निर्ग्रन्थप्रवचन ही हैं। किंतु जो द्वादशांगी का खण्डन करता है और उसके विरुद्ध किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है उसे निर्ग्रन्थप्रवचन नहीं कहा जा सकता। निर्ग्रन्थधर्म का अनुयायी निर्ग्रन्थप्रवचन के सिद्धान्त से विरुद्ध जाने वाले ग्रंथ या शास्त्र को कदापि अंगीकार नहीं करेगा। वह तो यही कहेगा कि मेरे लिए तो निर्ग्रन्थप्रवचन ही प्रमाण है।

३—महान् कौन ?

सब की समझ में आ जाय, इस दृष्टि से इस बात पर व्यावहारिक रीति से विचार करें। महान् पुरुषों की सेवा करने की सब की इच्छा होती है; परन्तु महान् कौन है ? भागवत में कहा है—

महत्सेवा द्वारमाहुर्विमुक्तेः, तमोद्वारं योषितां संगि संगम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृद् साधवो ये ॥

अर्थात्—इस संसार में मोक्ष का द्वार महान् पुरुषों की सेवा, संगति और उपासना है और नरक का द्वार स्त्री के उपासक—कनक—कामिनी के भोगी जन की सेवा करना है। जो समभावी हों, शान्तचित्त हों, क्षमावान् हों और निर्मल अन्तःकरण वाले साधु हों, वही महान् हैं।

महान् पुरुषों की सेवा-संगति को मोक्ष का द्वार कहा गया है, परन्तु प्रश्न यह है कि महान् पुरुष किसे कहा जाय ? जो बड़े जागीरदार हैं, जो ठाठ के साथ मूल्यवान वस्त्र पहनते हैं और अकड़ते हुए चलते हैं, जो विशाल हवेलियों में रहते हैं, उन्हें महान् समझा जाय या किसी दूसरे को ? महान वास्तव में किसे कहना चाहिए इसका निर्णय शास्त्र द्वारा किया ही जायगा, परन्तु भागवत पुराणकार कहते हैं कि ऐसी उपाधियों को धारण करने वाले महान् नहीं हैं। किन्तु जिनका चित्त सम है—समतोल है, वही महान् कहलाने योग्य है। जिनका मन आत्मा में है, पुद्गलों में रचा पचा नहीं रहता है, वह महान् है।

महान् पुरुष का मन हमेशा समतोल रहना चाहिए। मन को समतोल रखने का अर्थ है—आत्मा को भूल कर पुद्गलों में रमण न करना। जड और चेतन का विवेक करके जड स्वभाव को दूर करना और चेतन स्वभाव को अपनाना अर्थात् यह मानना कि जड का धर्म नश्वरता और अज्ञान है और चेतन का धर्म अविनाशी और ज्ञानमय है। यही चित्त की सम स्थिति है।

कहा जा सकता है कि कामण शरीर की अपेक्षा जीव के पीछे अनादिकाल से उपाधि लगी है। यह मेरा कान है, यह मेरी नाक है, यह मेरा शरीर है इस प्रकार जड को अपना मान कर आत्मा शरीर के अधीन हो रहा है। इस उपाधि के कारण कैसे माना जाय कि किसी का चित्त सम है ? परन्तु यह तो सत्य है कि अनादि काल से आत्मा के साथ उपाधि लगी है, परन्तु उपाधि को उपाधि मानना भी समचित्त का लक्षण है।

कंकर को रत्न और रत्न को कंकर कहने वाला मूर्ख गिना जाता है। यद्यपि रत्न और कंकर दोनों जड़ हैं, फिर भी रत्न और कंकर को एक मानने वाला मूर्ख समझा जाता है, तो फिर चेतन को जड़ और जड़ को चेतन समझने वाले को समचित्तवान् कैसे कहा जा सकता है ? अज्ञान के कारण लोग चेतन को जड़ और जड़ को चेतन मानते हैं। परन्तु किसी के कहने या मानने से जड़ चेतन नहीं बनता और चेतन जड़ नहीं वन सकता। एक आदमी जंगल में जा रहा था। जाते-जाते उसने कुछ दूरी पर सीप देखी। चमचमाती सीप को वह चांदी समझने और कहने लगा। दूसरा आदमी चांदी को सीप कहने लगा। परन्तु उनके कहने से चांदी सीप न बनी और सीप चांदी न बनी। इसी प्रकार किसी के कहने से जड़ या चेतन अपना स्वभाव नहीं त्यागते। जो लोग जड़ को चेतन और चेतन को जड़ मानते हैं, वह उनका अज्ञान ही है और इस अज्ञान के कारण ही लोग समझते हैं कि यह मेरा है और यह मेरा है।

आशय यह है कि जो ऐसी उपाधियों में उलझा हुआ है, वह महान् नहीं, जड़ का गुलाम है। वह आत्मवादी नहीं, जड़वादी है। महान् पुरुष तो वह है जो अपने शरीर को भी अपना नहीं मानता। ऐसा पुरुष संसार की अन्यान्य वस्तुओं को अपनी न माने, इसमें कहना ही क्या है ?

अब यह देखना है कि महान् पुरुषों की सेवा किस उद्देश्य से करनी चाहिए ? महान् पुरुष की सेवा करेंगे तो वे कान में मंत्र

फूक देंगे अथवा मस्तक पर हाथ फेर कर आशीर्वाद दे देंगे तो हम ऋद्धि समृद्धि से सम्पन्न बन जाएँगे, इस उद्देश्य से महान् पुरुषों की सेवा करना महात्माओं की सेवा नहीं, माया की सेवा करना है। किन्तु यदि इस विचार से सेवा की जाय कि—'मैं ससार की उपाधि मे फँसा हूँ और जड को अपना मान बैठा हूँ। महान् पुरुषों की सेवा-सगति करने से मैं उपाधि से मुक्त हो जाऊँगा' तो यह सच्ची सेवा है और ऐसी ही सेवा मोक्ष का द्वार है।

जिनके मन मे समताभाव विद्यमान है उन्हें कोई लाखों गालियाँ दे तो भी उनके मन में रोष या विकार का भाव उत्पन्न नहीं होता। अपनी प्रशसा सुनकर उनका मन फूल नहीं उठता। इस प्रकार जो प्रशसा से फूलते नहीं और निन्दा से क्रुद्ध नहीं होते, वही सच्चे महान् हैं।

एक बार पूज्य उदयसागरजी महाराज रतलाम मे विराजमान थे। उस समय रतलाम नगर उन्नत दशा मे था और सेठ भोजाजी भगवानजी का अच्छा प्रभाव था। पूज्य श्री की प्रशसा सुनकर एक मुसलमान ने उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। अनुकूल अवसर देखकर वह पूज्य श्री के पास पहुँचा और मनचाही कर्णकटु गालिया देने लगा। पूज्य श्री उस समय पर धर्मध्यान कर रहे थे। मुसलमान तो अत्यन्त गदी और चुभने वाली गालिया दे रहा था और पूज्य श्री मानों गालिया सुन ही न रहे हों इस प्रकार शान्त बैठे हँस रहे थे। उनके मन मे जरा भी क्रोध न आया। जब मुसलमान को लगा कि पूज्यश्री मेरी परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हैं' तब वह उनके पैरों में गिर पड़ा और कहने लगा-मैंने आपकी

जैसी प्रशंसा सुनी थी, आप वैसे ही शान्त हैं। वास्तव में आप सच्चे फकीर हैं।

व्याख्यान में शान्त रहने का उपदेश देना तो सरल है, पर क्रोध के प्रसंग पर शान्त रहना बड़ा ही कठिन है। किन्तु महान् तो वही है जो क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी शान्त रह सकता है।

कहा जा सकता है कि कोई गालियाँ दे तो क्या चुपचाप सहनकर लेना चाहिए ? पर महापुरुष तो गालियों को गालियाँ ही नहीं मानते। वे उन गालियो में से भी अपने लिए सार तत्त्व खींच लेते हैं। कोई उन्हें दुष्ट कहे तो वे यही विचार करते हैं कि यह मुझे बोध दे रहा है। संसार में जो वस्तु दुष्ट गिनी जाती है। उसी के लिए यह मुझे दुष्ट कह रहा है। अतएव मुझे तो यही देखना चाहिये कि मुझमें कहीं दुष्टता तो नहीं आ गई है ? अगर मुझमें दुष्टता घुस गई है तो बिना विलंब उसे दूर कर देना उचित है। अगर अपने में दुष्टता नहीं है तो हँसता रहे और विचार करे कि यह किसी दूसरे को दुष्ट कहता होगा। अगर यह मुझे ही दुष्ट कहता है तो इसका अज्ञान है। इसने मेरी आत्मा को पहचाना नहीं है। मेरे जैसा कोई दूसरा दुष्ट होगा, इसी कारण यह मुझे दुष्ट कह रहा है। परन्तु जब मुझमें दुष्टता ही नहीं है तो फिर मुझे नाराज होने की क्या आवश्यकता है ?

आपने सफेद पगड़ी पहनी हो और कोई आपको काली पगड़ी वाला कहे तो आप उस पर नाराज होंगे ? उस समय आप यही

फूंक देंगे अथवा मस्तक पर हाथ फेर कर आशीर्वाद दे देंगे तो हम ऋद्धि समृद्धि से सम्पन्न बन जाएँगे, इस उद्देश्य से महान् पुरुषों की सेवा करना महात्माओं की सेवा नहीं, माया की सेवा करना है। किन्तु यदि इस विचार से सेवा की जाय कि—'मैं संसार की उपाधि में फँसा हूँ और जड़ को अपना मान बैठा हूँ। महान् पुरुषों की सेवा-संगति करने से मैं उपाधि से मुक्त हो जाऊँगा' तो यह सच्ची सेवा है और ऐसी ही सेवा मोक्ष का द्वार है।

जिनके मन में समभाव विद्यमान है, उन्हें कोई लाखों गालियाँ दे तो भी उनके मन में रोष या विकार का भाव उत्पन्न नहीं होता। अपनी प्रशंसा सुनकर उनका मन फूल नहीं उठता। इस प्रकार जो प्रशंसा से फूलते नहीं और निन्दा से क्रुद्ध नहीं होते, वही सच्चे महान् हैं।

एक बार पूज्य उदयसागरजी महाराज रतलाम में विराजमान थे। उस समय रतलाम नगर उन्नत दशा में था और सेठ मोतीजी भाभानजी का अच्छा प्रभाव था। पूज्य श्री की प्रशंसा सुनकर एक मुसलमान ने उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। अनुकूल अवसर देखकर वह पूज्य श्री के पास पहुँचा और मनचाही कर्णकटु गालियां देने लगा। पूज्य श्री उस समय पर धर्मध्यान कर रहे थे। मुसलमान तो अत्यन्त गंदी और चुभने वाली गालियां दे रहा था और पूज्य श्री मानों गालियां सुन ही न रहे हों इस प्रकार शान्त बैठे हँस रहे थे। उनके मन में जरा भी क्रोध न आया। जब मुसलमान को लगा कि पूज्यश्री मेरी परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हैं तब वह उनके पैरों में गिर पड़ा और कहने लगा-मैंने आपकी

जैसी प्रशंसा सुनी थी, आप वैसे ही शान्त हैं। वास्तव में आप सच्चे फकीर हैं।

व्याख्यान में शान्त रहने का उपदेश देना तो सरल है, पर क्रोध के प्रसंग पर शान्त रहना बड़ा ही कठिन है। किन्तु महान् तो वही है जो क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी शान्त रह सकता है।

कहा जा सकता है कि कोई गालियाँ दे तो क्या चुपचाप सहनकर लेना चाहिए ? पर महापुरुष तो गालियों को गालियाँ ही नहीं मानते। वे उन गालियों में से भी अपने लिए सार तत्त्व खींच लेते हैं। कोई उन्हें दुष्ट कहे तो वे यही विचार करते हैं कि यह मुझे बोध दे रहा है। संसार में जो वस्तु दुष्ट गिनी जाती है। उसी के लिए यह मुझे दुष्ट कह रहा है। अतएव मुझे तो यही देखना चाहिये कि मुझमे कहीं दुष्टता तो नहीं आ गई है ? अगर मुझमें दुष्टता घुस गई है तो बिना विलंब उसे दूर कर देना उचित है। अगर अपने में दुष्टता नहीं है तो हँसता रहे और विचार करे कि यह किसी दूसरे को दुष्ट कहता होगा। अगर यह मुझे ही दुष्ट कहता है तो इसका अज्ञान है। इसने मेरी आत्मा को पहचाना नहीं है। मेरे जैसा कोई दूसरा दुष्ट होगा, इसी कारण यह मुझे दुष्ट कह रहा है। परन्तु जब मुझमें दुष्टता ही नहीं है तो फिर मुझे नाराज होने की क्या आवश्यकता है ?

आपने सफेद पगड़ी पहनी हो और कोई आपको काली पगड़ी वाला कहे तो आप उस पर नाराज होंगे ? उस समय आप यही

सोचेंगे कि मैंने काली पगड़ी नहीं पहनी है, अतएव यह किसी और से कहता होगा। ऐसा विचार करने से क्या क्रोध आ सकता है ? नहीं। यदि आप यह सोचें कि मैंने सफेद पगडी पहनी है, फिर भी यह मुझे काली पगड़ी वाला क्यों कहता है ? और ऐसा सोचकर आप इस पर क्रोध करें तो यह आपकी भूल है। क्योंकि आपको अपनी पगडी पर तो विश्वास नहीं।

अगर क्रोधी के प्रति प्रेम करने के सिद्धान्त को लोग जीवन में उतारें तो ससार मे शान्ति स्थापित हो और किसी प्रकार की अशान्ति न रहे। सासू बहू और पिता पुत्र के बीच लडाई होने का कारण यही भावना है कि मैं ऐसा नहीं, फिर मुझे ऐसा क्यों कह दिया ? इसके बदले अगर यह भावना आजाय कि—जब मैं ऐसा नहीं हूँ तो मुझे नाराज होने की आवश्यकता ही क्या है ? तो अशान्ति का कारण ही न रह जाय।

आप निग्रन्थ गुरु की सेवा करने वाले हैं, अतएव आपको शान्ति का यह गुण अवश्य अपनाना चाहिए। सच तो यह है कि ससार में कोई किसी का अपमान नहीं कर सकता। अपनी आत्मा ही अपना अपमान करती है।

कहने का आशय यह है कि जो क्रोध के प्रसग पर भी प्रशान्त रह सकता है और क्रोधी पुरुष को भी प्रेम वर्षा से नहलाता है, ऐसा समचित्त वाला ही महान् कहलाता है। महान् पुरुष कदापि जड़ के वशीभूत नहीं होते। वे यही सोचते हैं –

जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल

कदा पुग्गलाधार नहीं ताथ रंगी।

पर तणो ईश नहीं अपर ए ऐश्वर्यता,

वस्तुधर्मे कदा न परसंगी ॥

—श्रीदेवचंद चौवीसी

परमात्मा के साथ जिनकी लगन लगी है. वे यही विचार करते हैं कि मै पुद्गल नहीं हूँ, मै पुद्गल का मालिक भी रहना नहीं चाहता तो फिर उसका गुलाम बन कर कैसे रह सकता हूं ?

आज लोगों को जो दुख है वह पुद्गल के प्रसङ्ग से ही है। लोग पुद्गल के गुलाम बन रहे हैं। अगर वे थोड़ा धैर्य धारण करे तो पुद्गल उनके गुलाम बन जाएँ। मगर लोगों में इतना धैर्य कहाँ है ? अतएव जितने भी दुःख हैं वे सब उनके अज्ञान के ही फल हैं। कहा है—

कहे एक सखी सयानी सुन री सुबुद्धि रानी,

तेरो पति दुखी लाग्यो और यार है।

महा अपराधी छाहि माहि एक नर सोई,

दुःख देत लाल दीसे नाना परकार है।

कहे आली सुमति कहा दोष पुद्गल को,

आपनो ही भूल लाल होता आपा वार है।

खोटो नाणो आपको सराफ कहा लागे वीर,

काहू को न दोष मेरो भौदू भरतार है॥

—श्री समयसार नाटक

इस प्रकार सारा दोष आत्मा का अपना है। इसमें पुद्गल का क्या दोष है ? महान् पुरुष इस मर्म को भलीभांति समझते हैं। अतएव वे इस दोष से बचे रहते हैं।

४–अनुबन्धचतुष्टय

शास्त्र के प्रारंभ में प्रवृत्ति, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी इन चार बातों का विचार किया जाता है। यही चार चीजें अनुबन्धचतुष्टय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करने से पहले विचार किया जाता है। जैसे किसी नगर में प्रवेश करना हो तो सर्वप्रथम उसके द्वार की खोज करनी पड़ती है। द्वार का पता न हो तो नगर में किस प्रकार प्रवेश किया जा सकता है? अतएव प्रवृत्ति के विषय में विचार पहले करना पड़ता है। इसी विचार को अनुबन्धचतुष्टय कहते हैं। अनुबन्धचतुष्टय में कही चार बातों का ध्यान रखने से सुखपूर्वक प्रवृत्ति हो सकती है और इसी अनुबन्धचतुष्टय से शास्त्र की परीक्षा हो सकती है। जैसे लाखों मन अनाज और हजारों गज कपड़े की परीक्षा उसके नमूने मात्र से हो जाती है। शास्त्र में जो कुछ कहा गया है, उसका सार पहली गाथा में बता दिया जाता है, जिससे पता लग जाय कि इस शास्त्र में क्या है?

अनुबन्धचतुष्टय द्वारा शास्त्र का मूल उद्देश्य जाना जा सकता है। उद्देश्य के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। जब आप घर से बाहर निकलते हैं तो कुछ न कुछ उद्देश्य निश्चित करके ही निकलते हैं। उद्देश्य सब का अलग अलग हो सकता है, परन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। दूध का इच्छुक दूध की दुकान की ओर जाता है और शाक पात खरीदने की इच्छा रखने वाला शाक बाजार की तरफ जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्ति करता है। अतएव यह पहले ही बतला दिया जाता है कि शास्त्र का उद्देश्य क्या है ? और उसका विषय क्या है ? और शास्त्र का अधिकारी कौन है ? फिर शास्त्र के संबंध का भी उल्लेख कर दिया जाता है कि शास्त्र में कथित वस्तु का वक्ता और श्रोता के साथ क्या सम्बन्ध है ?

इन चार बातों से शास्त्र की परीक्षा हो जाती है। इस महानिर्ग्रथीय अध्ययन में यह चारों बातें हैं, यह इसके नाम से ही स्पष्ट प्रतीत होता है। इन चारों बातों का इस अध्ययन में किस प्रकार समावेश किया गया है, यह बात यथावसर अपनी बुद्धि के अनुसार आगे बतलाई जाएगी।

अध्ययन का विषय

महानिर्ग्रंथीय अध्ययन का विषय क्या है, यह बात तो इसके नाम से ही प्रकट है। इस अध्ययन मे महान् निर्ग्रंथ के विषय मे चर्चा की जाएगी। इस अध्ययन की पहली गाथा मे स्पष्ट कहा गया है कि 'मे धर्म रूप अर्थ मे गति कराने वाले तत्व की शिक्षा देता हूँ' इससे भी यह प्रकट हो जाता है कि इस अध्ययन मे सासारिक बातों के विषय मे नहीं वरन् धार्मिक तत्त्वों के विषय मे चर्चा की जाएगी।

यहा यह विचारणीय है कि धार्मिक तत्त्वों की चर्चा से ससार को क्या लाभ पहुँचेगा ? ससार मे मलिन विचारों का वातावरण फैल जाने के कारण धार्मिक विचारों का उपदेश और प्रभाव कम हो रहा है। गदे कपडों पर रग नहीं चढता। रग चढाने के लिए कपड़ों को साफ करना ही पडता है। इसी प्रकार जब तक हृदय मलिन है, तब तक उस पर धर्मोपदेश का रग नहीं चढ सकता। परन्तु मुझे विश्वास है कि तुम्हारे सब कपडे मैले नहीं हैं अर्थात् तुम्हारा हृदय एकदम मलिन नहीं है। ऐसा होता तो तुम यहाँ उपदेश सुनने के लिए आते ही क्यों ? फिर भी यह निश्चित है कि जब तक हृदय में थोडी-बहुत भी मलिनता होती है, तब तक धर्म का रग बराबर नहीं चढता।

शास्त्रकारों का कथन है कि धर्मस्थान मे जाने के लिए घर में से निकलते समय 'निस्सही' कहना, धर्मस्थान में प्रवेश करते समय

निस्सही कहना और फिर गुरु के पास जाते हुए भी निस्सही कहना। इस प्रकार तीन बार 'निस्सही' क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि घर से निकलते समय 'निस्सही' कहने का प्रयोजन सब सांसारिक कामों का निषेध करके धर्मस्थानक में जाना है। क्योंकि जो सांसारिक कामों को छोड़कर धर्मस्थान में जाता है, वही धर्म-क्रिया का पूरा-पूरा लाभ उठा सकता है। और जो सांसारिक प्रपंचों को साथ लेकर जाता है वह धर्मस्थान में भी प्रपंच ही करता है। वह धर्म का क्या लाभ ले सकता है? धर्मस्थानक में पहुंचने पर 'निस्सही' कहने का अभिप्राय यह है कि घर से तो गाड़ी-घोड़ा आदि लेकर निकलता है, पर धर्मस्थान में तो गाड़ी-घोड़ा चल नहीं सकता। अतएव गाड़ी-घोड़ा आदि का निषेध करने के लिए उस समय दोबारा 'निस्सही' बोला जाता है।

धर्मस्थान में किस प्रकार प्रवेश करना चाहिए, इस संबंध में शास्त्र में ऐसा वर्णन मिलता है कि भगवान् या किसी महात्मा के दर्शन करने के लिए कोई जाता है तो वह पॉच अभिगमन करके प्रवेश करता है। (१) सचित्त द्रव्य का त्याग करना (२) अस्त्रशस्त्र आदि अनुचित्त अचित्त द्रव्य साथ न ले जाना और वस्त्रों का संकोच करना (३) उत्तरासन करना (४) साधु को दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़ना और (५) मन को एकाग्र करना, यह पॉच अभिगमन हैं।

धर्मस्थान में साधु के पास जाकर फिर 'निस्सही' कहने का आशय यह है कि 'मैं समस्त प्रपंचों का त्याग करता हूँ।'

इस प्रकार मन को एकाग्र करके और सासारिक प्रपचों का त्याग करके धर्मोपदेश सुना जाय या धर्मक्रिया की जाय तो वह लाभदायक सिद्ध होती है। चार अभिगमन करके भी यदि मन को एकाग्र न किया जाय तो आत्म लाभ नहीं होता। अतएव यदि धर्मसिद्धान्त को जानने की रुचि हो तो मन को स्वच्छ करके धर्मोपदेश सुनना चाहिए।

अपने मन रूपी कपडे का मैल उतारने का भार मुझ पर मत डालो। धोबी का काम धोबी करता है और रगने का काम रंगरेज करता है मैं तुम्हारे ऊपर सिद्धान्त रूपी धर्म रग चढाना चाहता हू और यह तभी चढ सकता है जब तुम्हारा मन रूपी कपडा साफ हो।

इस अध्ययन का विषय क्या है, यह बतलाया जा चुका। अब इसका प्रयोजन देखना है। इस अध्ययन का प्रयोजन धर्म मे गति करना है, अर्थात् साधु जीवन की शिक्षा देना है।

कहा जा सकता है कि साधु जीवन की शिक्षा की साधुओं को आवश्यकता है। हम गृहस्थों को इस शिक्षा की क्या आवश्यकता है ? तुम गृहस्थाश्रम म हो और साधु साधु आश्रम मे है। अपने अपने आश्रम मे अपने अपने आश्रम के अनुरूप ही सब क्रियाएँ की जाती है। पर गृहस्थ होने का यह अर्थ नहीं कि वह धर्म का पालन ही नहीं कर सकता। अगर गृहस्थ धर्म का पालन न कर सकता होता तो भगवान् 'जगद्गुरु' न कहलाते, क्योंकि जगत् मे गृहस्थों का भी समावेश होता है। अत गृहस्थ भी धर्म का पालन कर सकते है। श्रेणिक जैसा राजा साधु जीवन को अगीकार न कर सकने पर

भी धर्मशिक्षा को सुनकर, गृहस्थ होते हुए भी तीर्थंकरगोत्र को उपार्जन कर सका तो फिर तुम्हें उस शिक्षा की आवश्यकता क्यों नहीं है ? अतएव गृहस्थों के लिए भी इस शिक्षा का प्रयोजन है।

अब यह देखना चाहिए कि इस अध्ययन का अधिकारी कौन है ? सूर्य सभी का है और सभी उससे प्रकाश पाने के अधिकारी हैं, किसी को सूर्य का प्रकाश पाने की मनाई नहीं है; फिर भी प्रकाश वही पा सकता है जिसके आँखें हैं। जिनके आँखें ही नहीं हैं अथवा जिनकी आँखों में उलूक की भांति विकृति आ गई है, उनके सिवाय सभी सूर्य के प्रकाश से लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार जिसके हृदय के नेत्र खुले हैं, वह सब इस शिक्षा से लाभ उठा सकते हैं। यह शिक्षा हृदय चक्षु के आवरण को भी दूर करती है, मगर आवरण को दूर करने की इच्छा होनी चाहिए। इस प्रकार जो इस शिक्षा से लाभ उठाना चाहते हैं, वे सब इसके अधिकारी हैं।

अब इस अध्ययन के संबंध पर विचार करना चाहिए। संबंध दो प्रकार का होता है—एक उपायोपेय संबंध और दूसरा गुरुशिष्य-संबंध। गुरुशिष्यसबंध में यह देखना है कि यह अध्ययन किसने कहा है और किसने सुना है ? धर्मोपदेशक गुरु कैसा होना चाहिए, इस विषय में शास्त्र में कहा है—

आयगुत्ते सया दन्ते, छिन्नसोए अणासवे।
ते धम्मं सुद्धमाक्खंति, पडिपुण्णं मणेलिसं ॥

इस प्रकार मन को एकाग्र करके और सासारिक प्रपचों का त्याग करके धर्मोपदेश सुना जाय या धर्मक्रिया की जाय तो वह लाभदायक सिद्ध होती है। चार अभिगमन करके भी यदि मन को एकाग्र न किया जाय तो आत्म लाभ नहीं होता। अतएव यदि धर्मसिद्धान्त को जानने की रुचि हो तो मन को स्वच्छ करके धर्मोपदेश सुनना चाहिए।

अपने मन रूपी कपडे का मैल उतारने का भार मुझ पर मत डालो। धोबी का काम धोबी करता है और रगने का काम रंगरेज करता है मैं तुम्हारे ऊपर सिद्धान्त रूपी धर्म रग चढाना चाहता हू और वह तभी चढ सकता है जब तुम्हारा मन रूपी कपड़ा साफ हो।

इस अध्ययन का विषय क्या है, यह बतलाया जा चुका। अब इसका प्रयोजन देखना है। इस अध्ययन का प्रयोजन धर्म मे गति करना है, अर्थात् साधु जीवन की शिक्षा देना है।

कहा जा सकता है कि साधु जीवन की शिक्षा की साधुओं को आवश्यकता है। हम गृहस्थों को इस शिक्षा की क्या आवश्यकता है? तुम गृहस्थाश्रम मे हो और साधु साधु आश्रम मे है। अपने अपने आश्रम मे अपने अपने आश्रम के अनुरूप ही सब क्रियाएँ की जाती है। पर गृहस्थ होने का यह अर्थ नहीं कि वह धर्म का पालन ही नहीं कर सकता। अगर गृहस्थ धर्म का पालन न कर सकता होता तो भगवान् 'जगद्गुरु' न कहलाते, क्योंकि जगत् मे गृहस्थों का भी समावेश होता है। अत गृहस्थ भी धर्म का पालन कर सकते हैं। श्रेणिक जैसा राजा साधु जीवन को अंगीकार न कर सकने पर

कोई उपाय मिल जाता है तो काम पार पड़ जाता है। किसी बहिन के पास रोटी बनाने के साधन ही न हों तो वह रोटी कैसे बना सकती है ? अगर सब साधन मौजूद हों तो रोटी बनाने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती।

मान लीजिए किसी को सब साधन और उपाय मिल गए, फिर भी वह अगर उद्योग न करे तो उसका कार्य सिद्ध होगा ? अतएव आप विचार कीजिए कि आपको क्या करना है ? इस प्रश्न का उत्तर यही मिलेगा कि गफलत की नींद छोड़कर जागृत होना और प्राप्त साधनों का उपयोग करना। आपको आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है। यह क्या कम साधन है ? फिर सिद्धान्ततत्त्व को समझने योग्य उम्र भी मिली है। तो इस उम्र में मिले साधनों का जितना उपयोग हो सकता हो, उतना कर लेना चाहिए। बालवय में सिद्धान्ततत्त्व को समझ सकने योग्य बुद्धि का विकास नहीं होता और वृद्धावस्था में शक्ति क्षीण हो जाती है। अतएव ज्ञानी कहते हैं—ऐ गाफिल मुसाफिरो! निद्रा का त्याग करके जागो कहाँ तक सोते रहोगे ? जैसे माता अपने पुत्र से कहती है—'सूर्य चढ़ गया है, बेटा, जागो, कब तक सोते रहोगे ?' इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सोने वालों को जगाते हुए कहते हैं—

मा सुवह जग्गियव्वं,
पल्ला हयव्वंमि किस्स विस्सयिह।
तिन्नि जणा अणुलग्गा,
रोगो जरा य मच्चू य ॥

—वैराग्यशतक

अर्थात्-धर्म का उपदेशक वही है जो आत्मा का दमन करता हो और आत्म गोपन करता हो। जो इन्द्रियों को सयम की ढाल मे कछुए की तरह छिपा रखता हो, वही धर्म का उपदेशक है।

इन्द्रियों को दमन करने का अर्थ इन्द्रियों का नाश करना नहीं है। किन्तु जैसे लगाम पकड़ कर घोडे को स्वच्छन्द भाव से दौड़ने नहीं दिया जाता, उसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों की तरफ न जाने देना ही इन्द्रियों का दमन है।

इसके अतिरिक्त धर्मोपदेशक आत्मसयमी, गुप्तेन्द्रिय और हिंसा असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होता है। वह समस्त स्त्रियों को माता बहिन के समान गिनता है, धर्मोपकरण के सिवाय कोई परिग्रह नहीं रखता। इस प्रकार कचन कामिनी का त्याग करके जो आस्रवरहित होता है, वही धर्मोपदेशक अनुपम धर्म को शुद्ध और परिपूर्ण रीति से कह सकता है।

स्थविरों या गणधरों ने यह धर्म कहा है, यह गुरुशिष्यसबध है, परन्तु उपायोपेय सबध क्या है इस विषय मे पहले विचार करलें। रोग को दूर करना उपेय है और औषध लेना उपाय है। इस प्रकार इस अध्ययन मे उपायोपेय सबध क्या है? मोक्ष प्राप्त करना उपेय है और इस अध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्त करना उसका उपाय है। यही इस अध्ययन का उपायोपेय सबध है।

ससार मे उपाय को पा लेना ही कठिन है। जब उपाय हाथ आ जाता है तो रोग भी चला जाता है। डाक्टर आता है और रोगनाशक दवा देता है तो रोग भी चला जाता है। इस प्रकार

कोई उपाय मिल जाता है तो काम पार पड़ जाता है। किसी बहिन के पास रोटी बनाने के साधन ही न हों तो वह रोटी कैसे बना सकती है ? अगर सब साधन मौजूद हों तो रोटी बनाने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती।

मान लीजिए किसी को सब साधन और उपाय मिल गए, फिर भी वह अगर उद्योग न करे तो उसका कार्य सिद्ध होगा ? अतएव आप विचार कीजिए कि आपको क्या करना है ? इस प्रश्न का उत्तर यही मिलेगा कि गफलत की नींद छोड़कर जागृत होना और प्राप्त साधनों का उपयोग करना। आपको आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है। यह क्या कम साधन है ? फिर सिद्धान्ततत्त्व को समझने योग्य उम्र भी मिली है। तो इस उम्र में मिले साधनों का जितना उपयोग हो सकता हो, उतना कर लेना चाहिए। बालवय में सिद्धान्ततत्त्व को समझ सकने योग्य बुद्धि का विकास नहीं होता और वृद्धावस्था में शक्ति क्षीण हो जाती है। अतएव ज्ञानी कहते हैं—ऐ गाफिल मुसाफिरो ! निद्रा का त्याग करके जागो कहाँ तक सोते रहोगे ? जैसे माता अपने पुत्र से कहती है—'सूर्य चढ़ गया है, बेटा, जागो, कब तक सोते रहोगे ?' इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सोने वालों को जगाते हुए कहते हैं—

मा सुवह जग्गियव्वं,
पल्ला इयव्वंमि किस्स विस्सयिह।
तिन्नि जणा अणुलग्गा,
रोगो जरा य मच्चू य ॥

—वैराग्यशतक

हे जीवात्माओं। रोग, जरा और मरण, यह तीन जन तुम्हारे पीछे लगे हैं। तुम अब तक गफलत में क्यों पडे हो? जागो सोते मत रहो।

यह बात बहुत विचारणीय है। अतएव एक कथानक द्वारा, सरल करके समझाई जाती है —

एक बार दो मित्र जङ्गल में जा रहे थे। रास्ते में एक मित्र थक गया और थकावट मिटाने का आश्रय भी उसे मिल गया। उसने देखा—जङ्गल में खूब घटादार सुन्दर वृक्ष हैं। कल-कल करती सरिता भी प्रवाहित हो रही है। शीतल मन्द समीर भी बह रहा है और सोने के लिए शिला भी बिछी है। यह सब देख कर वह थका मित्र विश्राम करने के लिए ललचाया और विचारने लगा यहाँ खाने को सुन्दर फल हैं, सूंघने को सुगन्धित फूल हैं, पीने के लिए नदी का मीठा पानी है, जलवायु उत्तम है और वातावरण भी शान्त है। अतएव यह स्थान खाने, पीने और सोने के लिए अनुकूल है ऐसा सोच कर वह विश्राम करने के लिए बैठ गया। परन्तु दूसरा मित्र प्रकृति का ज्ञानी था। वह जानता था कि यहाँ के जल-वायु और फल फूल आदि किस प्रकार के हैं। अतएव उसने अपने थके मित्र से कहा—भाई, यहाँ विश्राम लेना योग्य नहीं, क्योंकि यह स्थल उपद्रवमय है। यहाँ क्षण भर भी विश्राम लेना लाभप्रद नहीं है। अतएव हम जल्दी ही आगे बढना चाहिए, क्योंकि हमारे जीव के तीन शत्रु हमारे पीछे पडे हैं। इन सुन्दर फल-फूलों पर तुम ललचाये हो परन्तु यह जहरीले हैं और इसी कारण

यहाँ की हवा भी जहरीली हो गई है। यह सुन्दर दिखलाई देने वाले फल-फूल थोड़ी ही देर में तुम्हें बेभान कर देंगे। फिर तुम चल भी नहीं सकोगे। यह कलकल-निनाद करके बहने वाली नदी भी यही शिक्षा देती है कि जैसे मेरा पानी बहता जा रहा है, उसी प्रकार तुम्हारी आयु भी चली जा रही है। अतएव भाई, यहाँ विश्राम न लेकर आगे चलो।

क्या सोवे उठ जाग बाउ रे,
अञ्जलि जल ज्यों आयु घटत है,
देत पहरिया घरिय घाऊ रे ॥ क्या० ॥
इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र मुनीन्द्र चले,
कौन राजापति साह राऊ रे ॥
भमत भमत भव-जलधि पाप के,
भगवन्त भक्ति सुभाउ नाउ रे ॥ क्या० ॥
क्या विलम्ब करे अब बाउ रे,
तर भव-जलनिधि पार पाउ रे ॥
आनन्दघन चेतनमय मूरति,
शुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे ॥ क्या० ॥

शास्त्रकारों, ग्रन्थकारों, कवियों और महात्माओं का यही कहना है कि हे जीवात्माओं! क्यों सोते हो? उठो, जागो!

आप कहेंगे—क्या हमें साधु बनाना है। परन्तु साधुता क्या बुरी वस्तु है? अगर बुरी होती तो आप साधु का उपदेश ही क्यों सुनते? साधुता तो विशिष्ट शक्ति होने पर ही धारण की जा सकती

है, परन्तु आपको जो साधन मिले हैं उनका सदुपयोग करो और नींद में मत पडे रहो। जो लोग साधु नहीं बन सकते, उनके लिए ज्ञानी जन कहते हैं —

भगवन्त भक्ति सुभाउ नाउ रे।

अर्थात्—तुम्हें भगवद्भक्ति की नौका मिली है तो उसमें क्यों नहीं बैठते ?

दूसरा मित्र उस थके मित्र से कहता है—तुम पास में खड़ी इस नौका में बैठ जाओ। तुम्हें चलना ही नहीं पडेगा। मैं नौका खेऊंगा और नदी के पानी की सहायता से उसे नदी के किनारे ले जाऊंगा।

अब थके मित्र को चलना भी नहीं है, फिर भी अगर वह नौका मे नहीं बैठता और चेतावनी देने पर भी वहीं सोता रहता है तो उस जैसा अभागा और कौन होगा ? इसी प्रकार आपके सामने भगवान् की भक्ति रूपी नौका खड़ी ह। अगर आपसे और कुछ नहीं बन सकता तो इस नौका मे बैठ जाओ। पर निद्रा में मत पडे रहो।

साधु का स्थान उत्तम है, परन्तु वहाँ जाकर भी चित्त में दुर्विचार आते रहे तो यह कितनी बुरी बात होगी ? कदाचित् जितनी देर साधु के पास रहे उतनी देर अच्छे विचार रहे और बाहर जाते ही अच्छे विचारों को ताक में रख दिया तो इससे क्या लाभ ? तुम कहोगे कि यह हमारी अपूर्णता है, पर मैं कहता हूँ कि यह मेरी ही अपूर्णता है, क्योंकि तुम मेरी कही बात को भूल

जाते हो। मैं अपनी अपूर्णता को दूर करने का प्रयत्न करूँगा, परन्तु मै तो निमित्त मात्र हूँ; उपादान कारण तो तुम स्वयं ही हो। अगर उपादान कारण उत्तम होगा तो निमित्त कारण से लाभ पहुंच सकेगा। अगर उपादान उत्तम न हुआ तो निमित्त कारण से कोई लाभ नहीं हो सकता। निमित्त के साथ उपादान का शुद्ध होना आवश्यक है। घड़ी में जब तक चाबी देते रहें तब तक वह चलती रहे और ज्यों ही चाबी देना बंद किया कि घड़ी बंद हो जाय तो उस घड़ी को आप कैसी समझेंगे? आप उसे बिगड़ी घड़ी कहेंगे। इसी प्रकार जब तक मै तुम्हें उपदेश की चाबी देता रहूँ, तब तक तुम 'तहत' कहते रहो और बाद में उपदेश को भूल जाओ, क्या यह ठीक है? तुम्हारे पास भगद्भक्ति की नौका खड़ी है। तुम उसमें बैठ जाओ ता तुम्हारा बेड़ा पार हो जाय। तुलसीदासजी ने ठीक कहा है—

जग नभ वाटिका रही है फूलि फूलि रे।
धुआ कैस धौरहर देखि तू न भूलि रे॥

यह संसार की वाटिका, आकाश में बिखरे तारों की तरह फूली फली है, परन्तु यह स्थायी नहीं है। अतएव संसार की भूलभुलैयां में न पड़कर परमात्मभजन की नौका में बैठ कर संसार-समुद्र के पार पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि भगवान् की भक्ति करने को क्या आवश्यकता है? क्योंकि भगवद्भक्ति न करनेवाले सुखी और भक्ति करने वाले दुखी देखे जाते हैं। बहुत बार ऐसा उलटा क्रम देखा

जाता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कितने ही लोग प्रकट रूप में भगवान् की भक्ति नहीं करते, किन्तु उनके नियमोपनियमों का पालन करते हैं। और कितने ही लोग ऐसे भी हैं जो प्रकट रूप में—दिखावटी तौर पर परमात्मा का नाम तो लेते हैं, परन्तु उनके बताये नियमों का पालन नहीं करते। जो प्रकट रूप में परमात्मा का नाम नहीं लेते, किन्तु उसके बताये नियमों का पालन करते हैं, वे कभी दुखी नहीं हो सकते। अतएव वे परमात्मा का नाम न लेने से सुखी हैं, ऐसा कहना उचित नहीं। वास्तव में वे परमात्मा के बताये नियमों का पालन करने के कारण ही सुखी हैं। परमात्मा का नाम न लेने से वे सुखी हैं, यह कथन वैसा ही है जैसे किसी पहलवान को गाडी मे बैठा देखकर कोई कहने लगे कि गाडी मे बैठने से शरीर बलवान् बनता है। ऐसा कहने वाला इतना भी नहीं जानता कि गाड़ी में बैठने से नहीं, किन्तु व्यायाम करने से शरीर बलवान् बना है।

वस्तुत परमात्मा का नाम लेने का महत्त्व उनके बताये नियमों का पालन करने में है। शुद्ध मन से नियमों का पालन करना भगवान् का भजन करना ही है। मित्रो। तुम भी भगवद्भक्ति की नौका मे बैठ जाओ और भव सागर के पार पहुँचो। भगवद्भक्ति के रग से हृदय को ऐसा रगो कि वह रग फिर उतर न सके।

ऐसा रग बना लो, दाग न लागे तेरे मन को।

मन को स्वच्छ बनाओ और उस पर भक्ति का रग चढाओ, बस, यही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

इस गाथा का सामान्य अर्थ ऊपर बतलाया जा चुका है, परन्तु व्याकरण की दृष्टि से इसका परमार्थ क्या है, यह विचारणीय है।

पहले बतलाया जा चुका है कि नमस्कार मंत्र में अरिहन्त सिद्ध आदि जो पांच पद हैं, उनमें एक सिद्ध हैं और चार साधक हैं। यह बात एक दृष्टि से ठीक ही है, पर टीकाकार का कथन है कि अरिहन्त की गणना भी सिद्ध में की जाती है। इस दृष्टि-कोण से दो सिद्ध और तीन साधक हैं। अरिहन्त की गणना भी सिद्ध में हो सकती है, इसके लिए टीकाकार प्रमाण उपस्थित करते हैं—

एवं सिद्धा वदन्ति परमाणुं ।

—अनुयोग द्वार

अर्थात्—सिद्ध परमाणु की व्याख्या करते हैं।

यह निर्विवाद है कि सिद्ध बोलते या व्याख्या करते नहीं हैं, किन्तु अरिहन्त ही व्याख्या करते हैं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि अरिहन्त की गणना भी सिद्ध में की गई है। इस दृष्टि से अरिहन्त को भी सिद्ध मान कर नमस्कार किया गया है। आचार्य, उपाध्याय और साधु तो साधु-संयत हैं ही। अतः उन्हें 'संयत' पद देकर नमस्कार किया गया है।

यहां दूसरा प्रश्न खड़ा होता है। वह यह कि जब अरिहन्त को नमस्कार किया गया तो फिर आचार्य, उपाध्याय और साधु को

नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है ? जब राजा को नमस्कार किया गया हो तो परिषद् को नमस्कार करने की आवश्यकता ही क्या है ? अरिहन्त राजा के समान हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु उनकी परिषद् हैं। उन्हें अलग नमस्कार करने की आवश्यकता क्यों समझी गई ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रत्येक कार्य दो प्रकार से होता है—एक पुरुषप्रयत्न से और दूसरे महापुरुषों की सहायता से। इन दोनों कारणों के सहयोग से ही कार्य की सिद्धि होती है। यद्यपि महापुरुषों की सहायता अपेक्षित होती है, फिर भी प्रधान तो निज पुरुषार्थ ही है। अपना पुरुषार्थ हो तो ही महान् पुरुषों की सहायता भी मिल सकती है और तभी कार्य सिद्ध हो सकता है। कहावत है–

हिम्मते मर्दां मददे खुदा ।

अरिहन्त को नमस्कार करके भी आचार्य आदि को नमस्कार करने का कारण यह है इष्ट कार्य की सिद्धि में उनकी सहायता की भी आवश्यकता होती है। यद्यपि लिखने का कार्य अपने हाथ से करना पड़ता है, किन्तु सूर्य और दीपक की सहायता के बिना लिखा नहीं जा सकता क्योंकि प्रकाश की भी सहायता लेनी पड़ती है। मनुष्य अपने पैरों से चलता है, परन्तु प्रकाश न हो तो गड्ढे में गिर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ के साथ महापुरुषों की सहायता की भी आवश्यकता है।

कहने का आशय यह है कि सिद्ध सिद्ध हैं और आचार्य आदि

साधक हैं। हमें दोनों की सहायता की अपेक्षा है। अतएव यहां दोनों को ही नमस्कार किया गया है।

प्रस्तुत गाथा में एक सिद्धान्त-तत्त्व का निरूपण किया गया है। कहा गया है कि 'सिद्ध और संयत को नमस्कार करके तत्त्व की शिक्षा दूँगा।' इस वाक्य में दो क्रियाएँ हैं। पहली क्रिया त्वा प्रत्ययान्त क्रिया है। इस क्रिया का प्रयोग अपूर्ण काम के लिए होता है। जैसे कोई कहे-'मैं इस कार्य को करके उस कार्य को करूँगा, तो यहाँ दो क्रियाएँ हैं, उसी प्रकार 'मैं सिद्ध और संयत को नमस्कार करके तत्त्व की शिक्षा दूँगा' इस वाक्य में भी दो क्रियाएँ हैं। इन दोनों क्रियाओं का संबंध जोड़कर एक परमार्थ की सूचना दी गई है। जैसे सूर्य को अन्धकार के प्रति द्वेष नहीं है, अन्धकार का नाश करने के लिए ही उसका उदय नहीं हुआ है, फिर भी सूर्योदय में अन्धकार का नाश हो ही जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी को अज्ञानी या अज्ञान के प्रति द्वेष नहीं होता, परन्तु सत्य तत्त्व का प्रतिपादन करने से अज्ञान का खण्डन हो ही जाता है। अर्थात् ज्ञानी जनों के ज्ञान प्रकाश से अज्ञान का नाश हो ही जाता है।

इस गाथा में प्रयुक्त की गई दो क्रियाओं के विषय में भी यही बात है।

बौद्धों का कथन है कि आत्मा का निरन्वय नाश हो जाता है, पर ज्ञानियों का कथन है कि ऐसी बात नहीं है। आत्मा का निरन्वय नाश नहीं सान्वय नाश होता है। आत्मा पर्याय से नष्ट होती है, द्रव्य से नहीं। जैसे मिट्टी की मिट्टी पर्याय नष्ट हो

जाती है और वह घट पर्याय मे परिणत हो जाती है, तथापि मिट्टी का सर्वथा नाश नहीं होता अगर मिट्टी का सर्वथा द्रव्य से भी नाश हो जाय तो उससे घट किस प्रकार बन सकता है ? इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु, जिसमे आत्मा भी सम्मिलित है, पर्याय से नष्ट होती है, द्रव्य से नहीं। यह ज्ञानियों का कथन है। परन्तु बौद्धों का कथन है कि आत्मा का क्षण क्षण मे निरन्वय नाश होता है। ऐसा होता अर्थात् द्रव्य का भी नाश होता तो फिर पर्याय किसकी होती ?

इस गाथा से बौद्धों के इस कथन का खण्डन हो जाता है। टीकाकार कहते हैं कि इस गाथा में दो क्रियाएँ हैं। अगर आत्मा का निरन्वय नाश माना जाय तो गाथा मे प्रयुक्त दोनों क्रियाएँ व्यर्थ हो जाए क्योंकि सिद्ध और सयत को नमस्कार करने वाला आत्मा उसी समय नष्ट हो जाता है तो यह क्रिया व्यर्थ हुई। और दूसरी क्रिया की व्यर्थता तो स्पष्ट ही है, जब शिक्षा देने के लिए नमस्कार करने वाला ही कोई न रहा तो 'मैं शिक्षा दूँगा' इस तरह कहने वाला आत्मा ही कहा रहा ? परन्तु बौद्धों की मान्यता सत्य नहीं है-आत्मा का निरन्वय नाश नहीं होता, अतएव दोनों क्रियाएँ सार्थक हैं।

आत्मा का निरन्वय नाश मानने में अनेक दोष आते हैं। निरन्वय नाश की मान्यता युक्तियों द्वारा स्थिर भी नहीं रह सकती। इस तात्त्विक बात को उदाहरण द्वारा सरल करके समझाता हूँ

एक आदमी ने दूसरे पर न्यायालय में दावा किया कि प्रतिपक्षी पर मेरी इतनी रकम बकाया है, मुझे दिलाई जाय। प्रतिपक्षी ने

न्यायाधीश से कहा—यह दावा झूठा है, क्योंकि रुपया देने वाला और लेने वाला कोई रहा ही नहीं है। वह तो उसी समय नष्ट हो गए। न्यायाधीश ने सोचा—यह मनुष्य चालाकी करता है और सिद्धान्त का बहाना करके बचना चाहता है। यह सोचकर न्यायाधीश ने उससे कहा—मैं तुम्हें कैद की सजा देता हूं। यह सुनकर वह मनुष्य रोने लगा और कहने लगा—मैं रुपये देने को तैयार हूं, मुझे कैद की सजा न दी जाय।

न्यायाधीश ने कहा—तुम रोते क्यों हो ? तुम्हारे कथानुसार तो आत्मा क्षण-क्षण में नष्ट होकर नवीन उत्पन्न होती है, फिर दुःख काहे का ?

उस मनुष्य ने कहा—मैं शेष रुपये भर देता हूं, मुझे छोड़ दीजिए। इस प्रकार वह अपने सिद्धान्त पर स्थिर न रह सका।

कहने का आशय यह है कि जब आपको भावी पर्याय का अनुभव होता है तो भूत पर्याय का अनुभव क्यों न हो ? भूत पर्याय का अनुभव न माना जाय तो सब क्रियाएँ निरर्थक हो जाएँगी और कभी मोक्ष नहीं मिल सकेगा। क्योंकि आत्मा के नष्ट होने के साथ ही क्रिया भी नष्ट हो जाएगी तो न पुण्य-पाप रहेंगे, न मोक्ष ही रहेगा। अतएव आत्मा का निरन्वय नाश मानना योग्य नहीं है। टीकाकार ने इस गाथा का यह मर्म प्रकट किया है।

इस अध्ययन में एक महापुरुष का अधिकार है। इस अधिकार को कहने वाले और सुनने वाले दोनों महापुरुष थे। वक्ता महा निर्ग्रन्थ हैं और श्रोता राजाओं में प्रधान राजा है। इन महापुरुषों के बीच हुआ विचारविनिमय हमारे लिए कितना लाभप्रद है, यह सोचा जा सकता है। इस अ ययन के श्रोता का परिचय देते हुए कहा है —

पभूयरयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो।

विहारजत्त निज्जाओ, मडिकुच्छिसि चेइए ॥ २ ॥

अर्थ — विपुल सत्यक रत्नों का स्वामी और मगध का अधिपति राजा श्रेणिक विहार यात्रा के लिए निकला और मडिकुच्छ नामक बगीचे में आया।

यहाँ सर्व प्रथम यह देखना है कि रत्न का अर्थ क्या है? आप लोग हीरा, माणिक आदि को ही रत्न मानते हैं, परन्तु यही रत्न नहीं हैं। और भी रत्न हैं। मनुष्यों में भी रत्न होते हैं, हाथियों में भी रत्न होते हैं, घोड़ों में भी रत्न होते हैं और स्त्रियों आदि में भी रत्न होते हैं। इस प्रकार रत्न का अर्थ बहुत व्यापक है। रत्न का व्यापक अर्थ होता है — श्रेष्ठ। जो श्रेष्ठ होता है वह रत्न कहलाता है। राजा श्रेणिक के पास ऐसे अनेक रत्न थे, यह कह कर संक्षेप में ही उसकी सम्पत्ति का वर्णन कर दिया है।

शास्त्रकार को यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि श्रेणिक बहुत रत्नों का स्वामी था? यह प्रश्न यहाँ विचारणीय है। कितने ही

रत्न क्यों न हों, यदि आत्मा को नहीं पहचाना तो वह सब व्यर्थ हैं। क्योंकि और सब रत्नों की प्राप्ति सुलभ है, परन्तु धर्म रूपी रत्न की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। धर्म-रत्न मिल जाय तो अन्य रत्न गिनती में आ सकते हैं, अन्यथा वे किसी काम के नहीं हैं। यह बतलाना शास्त्रकार को अभीष्ट है।

आपको बड़ी से बड़ी सम्पत्ति मनुष्य जन्म की मिली है; परन्तु आप उसकी कीमत नहीं समझते। अगर आपने इसकी कीमत समझी होती तो आप सोचते-मुझे यह बहुमूल्य रत्न मिला है। मैं कंकरों के बदले इस रत्न को गँवा देने की मूर्खता कैसे करूँ? अगर तुम मनुष्यत्व-रत्न की कीमत समझते हो तो एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देकर परमात्मा की भक्ति में समय का सदुपयोग करो। ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा दिव्य और ईश्वरीय बनेगी और तुम्हारा मनुष्य जन्म मूल्यवान् बन जायगा।

आप कहेंगे आत्मा को परमात्ममय किस प्रकार बनाया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं-काल्पनिक और वास्तविक। जो वास्तविक नहीं है उसे वास्तविक समझ लेना अज्ञान है। अज्ञान जनित कल्पना ही आपको कठिनाई में डाल रही है। काल्पनिक पदार्थ और वास्तविक पदार्थ दोनों जुदा-जुदा हैं। जब तक वास्तविक पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता तब तक अज्ञान नहीं मिट सकता, यथा-एक बार सीप में चांदी की कल्पना की; किन्तु जब सीप के पास जाकर देखा और उसके सीप होने की खातिरी की, तभी समझ में आया कि यह चांदी नहीं, सीप है। इस प्रकार की कल्पना को त्यागो और परमात्मा के साथ एकतानता

स्थापित करो और यह जो कान, नाक और शरीर है, वह मैं नहीं हूँ, ऐसा विचार करो, तो आपको मिला हुआ मनुष्य जन्म रूपी रत्न सार्थक होगा।

जब आप सो जाते हैं तब आँख कान वगैरह इन्द्रियाँ अपना काम बन्द कर देती है, फिर भी स्वप्न अवस्था में आत्मा सुनता है और देखता भी है। स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ सो जाती हैं और मन जागता रहता है। इन्द्रियाँ सुप्त होती हैं फिर भी स्वप्न में इन्द्रियों का काम चालू ही रहता है। इन्द्रियों की सुपुप्त दशा मे इन्द्रियों का काम कौन चलाता है ? इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह सब काम आत्मा ही कर रहा है।

आत्मा अनन्त शक्तिमान् है, किन्तु वह भ्रम में पड़ गया है और शरीर आदि को अपना स्वरूप समझ बैठा है। आत्मा अभी कल्पना के भँवर मे फँसा है। अतएव कल्पना को त्याग कर आत्मा के वास्तविक तत्त्व को पहचानो और ससारिक पदार्थों का ममत्व त्यागो। विश्वास करो कि आत्मा मे अनन्त शक्ति है। स्वप्नावस्था में कान क सुषुप्त होने पर भी वह सुनता है और आँख बन्द होने पर भी देख सकता है। वहाँ इन्द्रियों के विषय नहीं हैं फिर भी कल्पना के बल पर आत्मा सब की सृष्टि कर लेता है। यह स्वप्नावस्था म गध, रस स्पर्श आदि की कल्पना करके आनन्द भी मानता है। स्वप्न म क्रोध भी करता है, लोभ भी करता है और सिंह आदि को देखकर भयभीत भी होता है। इस प्रकार आत्मा स्वप्न में सुख भी मानता है और दुःख का भी अनुभव करता है।

स्वप्न की इन क्रियाओं से आत्मा की शक्तियों का अनुमान लगाया जा सकता है। यह भी समझा जा सकता है कि इन्द्रियों की सहायता के बिना भी काम चल सकता है। इस प्रकार आत्मा की अनन्त शक्तियों को जान कर परमात्मा की भक्ति में उनका उपयोग करो। ऐसा करने से आपका मनुष्य-जन्म रूप रत्न सार्थक होगा।

प्रत्येक कार्य उद्देश्य के अनुसार ठीक रूप से करना होता है। ऐसा न किया जाय तो परिणाम उलटा आता है। यह बात एक उदाहरण से भली भाँति समझ में आ सकेगी :-

एक बार एक सावधान चोर ने साहस करके राजा के घर में प्रवेश किया। परन्तु उसके प्रवेश करते ही राजा जाग गया। राजा को जागा जान चोर भयभीत हुआ और 'मैं पकड़ा गया तो मारा जाऊँगा' यह सोच कर भागा। राजा ने चोर को देख लिया। उसने चोर का पीछा किया। अब चोर आगे - आगे और राजा पीछे - पीछे दौड़ रहे थे। राजा को दौड़ते देख सिपाही भी दौड़े। चोर भागता - भागता थक गया था, फिर भी किसी प्रकार भागा जा रहा था वह जानता था कि अगर पकड़ मे आ गया तो जान से मारा जाऊँगा। सामने श्मशान था। चोर ने सोचा—बचने का एक ही उपाय है। अगर मैं श्मशान में मुर्दे की तरह पड़ जाऊँ तो राजा मुझे मुर्दा समझ कर छोड़ देगा। बस, मुर्दा बनने का स्वांग रचना चाहिए।

ऐसा सोच कर चोर श्मशान में पहुंच कर नीचे गिर गया और मृतक की तरह अपनी नाड़ियों का सकोच करके ढल पड़ा। इतने

मे राजा और सिपाही वहाँ जा पहुँचे। उन्होंने चोर को पड़ा देखा। सिपाही कहने लगे – महाराज, देखिए तो सही, यह चोर आपके भय से ही गिर कर मर गया है। राजा ने कहा–मरा नहीं होगा, मृतक का ढोंग करके पड़ा होगा। अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करो।

सिपाही चोर को खूब झकझोरने लगे। परन्तु वह मुर्दे की तरह निश्चेष्ट ही पड़ा रहा।

आपत्ति भी मनुष्य को अपूर्व शिक्षा देती है और उन्नत बनाती है। राम पर वन में जाने आदि की आपत्ति न पड़ी होती तो उनका कोई नाम भी न जानता। भगवान् महावीर ने भी अगर आपत्तियाँ सहन न की होतीं तो उनका कोई नाम न लेता, उन्हें कोई महावीर न कहता। सीता, चन्दनबाला, अजना, सुभद्रा आदि ने धैर्यपूर्वक आपत्तियों को सहन किया था, इसी कारण उनकी प्रशंसा की जाती है। अतएव आपत्तियों से न घबरा कर उनका धीरज के साथ सामना करना चाहिए।

सिपाहियों ने चोर को खूब हिलाया डुलाया, मगर वह हिला डुला नहीं। तब उन्होंने राजा से कहा–महाराज, यह चोर तो बिलकुल मर चुका है। राजा ने फिर कहा – बराबर देखो, ढोंग कर रहा होगा।

सिपाही चोर को मारने पीटने लगे। उसके शरीर से रुधिर की धारा बहने लगी। फिर भी चोर ने चूँ-चाँ तक न की। तब सिपाहियों ने उसे मरा हुआ समझ कर राजा से फिर कहा—महाराज यह तो सचमुच ही मर गया है। हमने खूब मरम्मत की है, यहाँ

तक कि रक्त बहने लगा है, फिर भी उसके मुँह से वेदना की चीख नहीं निकली ।

राजा ने कहा — वह मरा नहीं, जीवित है, क्योंकि मुर्दे के शरीर में से रक्त नहीं निकलता । वह ढोंग कर के पड़ा है । उसके कान में धीरे से कहो—'राजा ने तेरे सब अपराध क्षमा कर दिये हैं ।' यह कह कर उसे मेरे पास ले आओ ।

सिपाहियों ने राजा की आज्ञा का पालन किया । चोर उठ बैठा और राजा के समक्ष उपस्थित हुआ । राजा चोर को देख कर सोचने लगा--यह मेरे डर से मुर्दा बन गया तो मुझे साक्षात् मौत के भय से क्या करना चाहिए ? फिर राजा ने उससे पूछा—तू इस प्रकार मुर्दा बन कर क्यों पड़ गया था ?

चोर -- आपके भय से ।

राजा — इतनी सख्त मार पड़ी, फिर भी बोला क्यों नहीं ?

चोर — जब मैंने मुर्दा बनने का स्वांग रचा था तो कैसे बोल सकता था ?

राजा — तब तो तू बगुला भगत जान पड़ता है ।

चोर — महाराज, मै बगुलाभगत नहीं हूँ । आपके भय से ही मैंने मुर्दा होने का स्वांग रचा था ।

राजा — तू जैसे मेरे भय से धरती पर ढल पड़ा, उसी प्रकार अगर संसार के भय से डरे और पूरा-पूरा स्वांग रचे तो तेरा कल्याण हो जाय ।

चोर — महाराज, मैं ऐसी बातों को नहीं जानता । ऐसा ज्ञान तो आपको है, मुझे नहीं ।

चोर ने अपने उद्देश्य के अनुसार कार्य की सिद्धि के लिए मार खाई। आप भी अपने उद्देश्य की रक्षा करना सीखो। आप ऊपर से कहते हैं कि हमारे हृदय में परमात्मा बसा है, परन्तु अन्दर यदि विकार रक्खो तो क्या परमात्मा हृदय में बस सकता है? अगर आपके मन में परमात्मा का वास है और आप परमात्मा के सच्चे भक्त हो तो आपको अपने ध्येय पर दृढ़ रहना चाहिए। कहा भी है —

तू तो राम सुमर जग लड़वा दे।
कोरा कागज काली स्याही, लिखत पढ़त वाको पढ़वा दे।
हाथी चलत है अपनी चाल से कुतर भुक्त वाको भुकवा दे॥
—आश्रम भजनावली

आप कहेंगे की अब राम कहाँ हैं? वह तो दशरथ के पुत्र थे और उन्हें हुए हजारों-लाखों वर्ष हो गए। उनका कैसे स्मरण किया जाय? परन्तु ज्ञानियों का कहना है कि राम आपके हृदय में ही विद्यमान हैं।

रमन्ते योगिना यस्मिन्–इति राम।

जिसमें योगी जन रमण करते हैं, वही राम है। और कोई नहीं, आपका आत्मा ही राम है। इसी आत्माराम का स्मरण करो, परन्तु यह भी विचार कर लो कि उसका स्मरण किस प्रकार करना चाहिए? मार खाकर चोर बोल जाता तो उसका स्वाग पूरा न होता। इसी प्रकार आप परमात्मा का स्मरण करके फिर सांसारिक झगड़ों में पड़ जाओ तो भक्त का स्वाग पूरा नहीं कहलाएगा। आप यही समझें कि यह आत्मा हाथी के समान है। इसके पीछे ससार के

झगड़े रूपी कुत्ते भौंकते हों तो भले भौंकें। इनसे मुझे क्या प्रयोजन ? अथवा कोई कोरे कागज पर स्याही से लिखे तो भले लिखा करे। इसमें मेरी क्या हानि है ? इस तरह विचार करके अगर आप परमात्मा की शरण में जाएँ तो आपके उद्देश्य की पूर्ति और कार्य की सिद्धि होगी। चोर ने मुर्दे का स्वांग रच कर राजा का हृदय बदल दिया तो आप दूसरों का हृदय क्यों नहीं बदल सकते ? आप अपने ध्येय को लक्ष्य में रक्खेंगे तो आपकी आत्मा महान् पद को प्राप्त कर सकेगी। आप गृहस्थ है; अतः यहाँ से जाते ही आपको सांसारिक उपाधियाँ घेर लेंगी। उस समय इस उपदेश को ध्यान में रखना। ऐसा करने से इस भव में और परभव में आपका कल्याण होगा।

अब मूल की ओर आइए। इस गाथा में राजा श्रेणिक का परिचय दिया गया है। श्रेणिक इस कथा के प्रधान पात्र हैं। शास्त्रों में बिम्बिसार नाम से भी इनका उल्लेख किया गया है। श्रेणिक का नाम बिम्बिसार कैसे पड़ा और वह कितने बुद्धिशाली थे, यह प्रकट करने के लिए एक कथा प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है:—

राजा श्रेणिक के पिता प्रसन्नचन्द्र के सौ पुत्र थे। इन पुत्रों में कौन सब से अधिक बुद्धिमान् है, यह बात प्रसन्नचन्द्र जानना चाहते थे। एक दिन सब पुत्रों की परीक्षा करने के लिए प्रसन्नचन्द्र ने कृत्रिम आग का प्रयोग किया और पुत्रों से कहा—'आग लग गई है, अतः सारभूत वस्तु लेकर बाहर निकल जाओ।' पिता का आदेश सुनते ही जिसे जो वस्तु सार रूप प्रतीत हुई, वह उसे

लेकर बाहर निकलने लगा। श्रेणिक उस समय दुदुभी लेकर बाहर निकले। यह देख कर सब भाई हँसने लगे और कहने लगे-यह भी कैसा विचित्र है। नगाडा लेकर निकला है। रत्नों के भरे भडार को छोड़ कर नगाड़ा किसलिए लाया है ?

इसलिए सब भाई श्रेणिक का उपहास कर रहे थे, मगर नगाड़ा लेकर बाहर निकलने में क्या रहस्य है, यह किसे पता था ? राजा प्रसन्नचन्द्र इस मर्म को समझ गये, किन्तु उन्होंने विचार किया जो मैं सब के सामने श्रेणिक की प्रशसा करूँगा तो एक ओर यह सभी भाई हैं और दूसरी ओर अकेला श्रेणिक है। इनमे आपस मे कलह उत्पन्न हो जायगा। यह सोच कर उन्होंने सब लड़कों को अपने पास बुला कर पूछा—क्या है ? लड़कों ने श्रेणिक को मूर्ख बतालाते हुए कहा—देखिये न यह नगाडा उठा लाया है। प्रसन्नचन्द्र ने श्रेणिक से पूछा--बेटा, रत्न न लेकर तुम नगाडा क्यों लाये हो ?

श्रेणिक—पिताजी, यह नगाड़ा और यह 'भभा' राज्य के चिह्न हैं। यह जल कर राख हो जाएँ तो राज्य के चिह्न मिट जाए। राजचिह्नों द्वारा राजा को रत्न फिर मिल सकते हैं, परन्तु यह राजचिह्न नहीं मिल सकते। अतएव मैंने राज चिह्नों की रक्षा करना उचित समझा।

राज चिह्न के रूप में आज भी नगाडे की बहुत रक्षा की जाती है। इन राज चिह्नों की रक्षा के लिए विशेष तौर पर रक्षक नियुक्त किये जाते हैं। राजचिह्न का चला जाना राजा की पराजय समझी जाती है।

श्रेणिक का कथन सुनकर प्रसन्नचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु विशेष परीक्षा करने के लिए श्रेणिक से कहा—यह बताओ कि राजचिह्नों द्वारा रत्न कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए श्रेणिक बाहर चला गया और अनेक रत्न लेकर वापिस लौटा। प्रसन्नचन्द्र श्रेणिक की बुद्धिमत्ता देखकर खूब प्रसन्न हुए और भेरी तथा भंभा को बचाने के कारण उसका नाम 'भंभासार' पड़ गया। भंभासार ही 'बिम्बिसार' के रूप में पलट गया। राजा प्रसन्नचन्द्र ने उसे ही राजसिंहासन पर बिठलाया।

'श्रेणिक' शब्द का अर्थ भी श्रीसम्पन्न किया गया है। घर से बाहर निकाल देने पर भी वह राजकुमार की भाँति ही रहा और श्रीसम्पन्न होकर श्रेष्ठ ही रहा। इसी कारण वह श्रेणिक कहलाया।

श्रेणिक संसार की सभी सम्पदाओं से सम्पन्न था, किन्तु सम्यग्ज्ञान की सम्पत्ति उसके पास नहीं थी। उसे धन आदि की सम्पत्ति देने वाले और धर्म की सम्पत्ति देने वाले में से आप किसे बड़ा समझते हैं? एक मनुष्य आपको धन-धान्य दे और दूसरा धर्म का तत्त्व समझावे। इन दोनों में आपकी दृष्टि में कौन बड़ा है? जिन्होंने आत्मा की पहचान कराई हैं और आत्मा तथा शरीर तलवार और म्यान की तरह जुदा-जुदा हैं, ऐसी प्रतीति कराई है, वे महात्मा किसी से कम नहीं हैं।

अगर आप आत्मा और शरीर को तलवार और म्यान की तरह भिन्न समझते हों तो फिर क्या चाहिए? इस बात पर तुम्हारी दृढ़

श्रद्धा और अटल विश्वास हो तो बस, तुम्हारे हाथ मे आत्मविजय की चाबी आ गई है। परन्तु बडी कमी तो यही है कि व्यावहारिक जीवन मे यह दृढ विश्वास कायम नहीं रहता ?

किसी वीर पुरुष के सामने शत्रु लड़ने के लिए आवे तो वह तलवार को सँभालेगा या म्यान को ? अगर वह तलवार को हाथ में न लेकर म्यान को ले तो क्या वीर कहलायगा ? वह अपने प्राणों की रक्षा कर सकेगा ? इसी प्रकार जब तुम्हारे ऊपर कोई आपत्ति टूट पडे, तब तुम तलवार के समान आत्मा की तरफ न देख कर म्यान के समान शरीर को ही देखने लगो तो क्या वीर श्रावक को यह शोभा देता है ?

कितनी ही विपत्तिया क्यों न आ पड़ें, शरीर को नश्वर समझ कर आपत्तियों को धैर्यपूर्वक सहन करना और धर्म की रक्षा करना ही सच्ची वीरता है। कामदेव श्रावक ने धर्म की रक्षा किस प्रकार की, यह बात संक्षेप मे कहता हूँ।

कामदेव श्रावक पौषधशाला मे धर्माराधन कर रहा था। उस समय उसके धर्म की परीक्षा करने के निमित्त एक देव पिशाच का भयकर रूप धारण करके और हाथ मे तलवार लेकर उसके पास आया और कहने लगा - कामदेव, तू अपना धर्म त्याग दे, अन्यथा तुझे बहुत कटुक फल चखना पडेगा। देख इस तलवार को। टुकडे टुकडे कर दूँगा। तू मेरा कहना मान ला।

इस प्रकार लाल आखें करके देव कामदेव को डराने लगा, परन्तु वह लेश मात्र भी नहीं डरा। शास्त्र मे तो यहाँ तक कहा है

कि देव का कथन सुन कर कामदेव का रोम भी नहीं फड़का। उसे तनिक भी भय न लगा, जरा भी त्रास न हुआ।

यहाँ विचार करना चाहिए कि कामदेव भयभीत क्यों नहीं हुआ ? क्या शरीर उसे प्रिय नहीं था ? सम्पत्ति का मोह नहीं था ? कामदेव के पास अठारह करोड़ स्वर्ण-मोहरें और साठ हजार गायें थी ? इतनी बड़ी श्रीमंताई होने पर भी जब धर्म का त्याग करने के लिए पिशाच मार डालने की धमकी दे रहा था, तब धर्म की रक्षा के सामने श्रीमंताई का और शरीर की रक्षा का मोह आड़ा न आया। धर्म के सामने सम्पत्ति और शरीर उसके लिए तुच्छ थे।

कामदेव भगवान् का भक्त और सच्चा श्रावक था। उसे विदित था कि पिशाच धर्म का परित्याग कराने आया है; अतएव धर्म-परीक्षा के समय जरा भी न घबराता हुआ और धैर्य धारण करता हुआ, उस पीरक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए परमात्मा से प्रार्थना कर रहा था— हे प्रभो ! अगर मैंने धर्म और आत्मा को पहचाना न होता और तेरी शरण में न आया होता तो यह धर्म-परीक्षा कौन लेता ? मेरे लिए तो आनन्द की बात है कि मुझे धर्म और आत्मा पर दृढ़ विश्वास है या नहीं, इस बात की परीक्षा करने के लिए मेरा यह मित्र आया है। मेरी यही प्रार्थना है कि मुझ में इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने की शक्ति आ जाय।

परीक्षा उन्हीं की ली जाती है जो शाला में पढ़ने जाते हैं। जो शाला में अभ्यास ही नहीं करता उसकी परीक्षा कौन लेता है ? कामदेव धर्म की पाठशाला में पौषधशाला में–धर्म का पाठ सीखता था और इसी कारण पिशाच परीक्षक बन कर परीक्षा लेने आया

था। परीक्षक हैसियत से पिशाच ने कामदेव की कठोर परीक्षा ली कि अगर कामदेव उस के लिए पहले से तैयार न होता तो इसमें उत्तीर्ण होना सरल नहीं था। पिशाच ने कामदेव को धर्म से च्युत करने के लिए अनेक भयकर रूप धारण किये, परन्तु वह तनिक भी विचलित न हुआ। तब पिशाच अपनी तलवार सँभाल कर शरीर के टुकडे टुकडे कर डालने को तैयार हो गया। फिर भी कामदेव जरा भी नहीं डिगा।

आज तो तुम कल्पित भूत प्रेत के भय से भी डरते हो, पर कामदेव साक्षात् भयकर पिशाच से भी नहीं डरा। तुम कहोगे हम गृहस्थ है अत भूत प्रेत से डरना पडता है, परन्तु कामदेव क्या गृहस्थ न था ? वह डरता नहीं था, फिर तुम क्यों डरते हो ? ऐसा कहो न कि हम कायर हैं और हमें इस बात पर विश्वास नहीं है कि शरीर और आत्मा म्यान तथा तलवार की तरह जुदा जुदा हैं।

पिशाच कामदेव के टुकडे टुकडे कर डालने की बात कहने लगा तो कामदेव ने क्या विचार किया ? वह विचार करने लगा यह पिशाच मेरे टुकडे टुकडे करने को कहता है, परन्तु अनन्त इन्द्र भी मेरे टुकडे नहीं कर सकते इस बेचारे की क्या चल सकती है ? मैं आत्मतत्त्व को समझता हूँ, अतएव मुझे विश्वास है कि टुकडे होंगे तो शरीर के होंगे, इससे आत्मा को कुछ भी हानि नहीं हो सकती। शरीर तो पहले से ही टुकड़ा टुकड़ा है। इससे मेरा क्या बनता बिगड़ता है ? मुझे डरने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि आत्मा के टुकडे नहीं हो सकते।

मैं पहले साधुओं और साध्वियों से कहना चाहता हूँ कि अगर श्रावकों और श्राविकाओं में भूत आदि का भय रहा तो यह आपकी दुर्बलता गिनी जाएगी। विद्यार्थी अनुत्तीर्ण होते हैं तो शिक्षक को भी लज्जित होना पडता है, इसी प्रकार श्रावक-श्राविकाओं में भूत आदि का भय रहेगा तो यह अपने लिए लज्जाजनक होगा। भगवान् का धर्म न मिला हो और आत्मा को न पहचाना हो तो भले भय का अनुभव हो, किन्तु भगवान् का धर्म पा लेने पर भी भय होना कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

हाँ, तो कामदेव ने हँसते-हँसते पिशाच से कहा—शरीर के टुकड़े करने हों तो करो, आत्मा के टुकड़े तो हो नहीं सकते ।

कामदेव तनिक भी भयग्रस्त नहीं हुआ । इसका एक और कारण मुझे प्रतीत होता है। वह यह कि कामदेव सोचता है—मैंने इसे कोई हानि नहीं पहुँचाई, फिर भी यह टुकड़ा-टुकड़ा करने को क्यों कहता है ? यही कारण जान पड़ता है कि इसने धर्म को नहीं पहचाना है ! इसने धर्म नहीं पाया, पर मैंने तो पाया है । मैं भी इसकी परीक्षा करके देखूँ कि यह कितने पानी में है ? इसका अधर्म निष्कारण ही मुझे वैर का भाजन बना रहा है, परन्तु मेरा धर्म मुझे वैरी पर भी क्रोध न करने का आदेश देता है। यह मुझे धर्म त्यागने को कहता है। इसका अर्थ यह है कि मैं अपना धर्म छोड़ कर इसके समान पिशाच बन जाऊँ।

दो प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं—दैवी और आसुरी। यहां दोनों प्रकृतियों का द्वन्द्व चल रहा है। कामदेव दैवी प्रकृति वाला और पिशाच आसुरी प्रकृति वाला है । इन दोनों प्रकृतियों का

स्वरूप बहुत विस्तृत है, किन्तु गीता में संक्षेप में इस प्रकार बतलाया है —

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य, पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ॥

दम्भ, दर्प, अभिमान, कठोरता, निर्दयता और अज्ञान, यह आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं। जिनमे यह आसुरी प्रकृति होती है, वे असुर कहलाते हैं। दैवी प्रकृति के विषय मे कहा गया है —

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसासत्यम क्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्व लौलुप्यं, मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत !

—भगवद्गीता।

निर्भयता, सत्व संशुद्धि, दान, दम, स्वाध्याय, तप, ऋजुता, अहिंसा, सत्य, क्षमा, त्याग, शान्ति, दया, अलोलुपता, मृदुता, तेजस्विता, धैर्य आदि दैवी प्रकृति के लक्षण हैं।

दैवी प्रकृति का पहला लक्षण निर्भयता है। अपने पास वस्तु हो तभी दूसरों को दी जा सकती है। इसी प्रकार जो स्वयं अभय है वही दूसरों को अभय बना सकता है। जो स्वयं भय से काँपता होगा वह दूसरों को निर्भय कैसे बनाएगा ? भयभीत मनुष्य दूसरों को अभयदान देने मे समर्थ नहीं है। जो शरीर और आत्मा को म्यान और तलवार के समान समझता है और जिसने इस समझ

ो जीवन में स्थान दिया है, वही अभयदान दे सकता है।
ामदेव निर्भय था। आत्मा के सिद्धान्त पर उसका अटल विश्वास
ा। वह अपने धर्म पर दृढ़ था।

कामदेव की धर्म पर ऐसी दृढ़ आस्था थी। परन्तु आज आप
र्म पर दृढ़ नहीं हैं और इसी कारण कोई किसी देवता को पूजता
फिरता है और कोई किसी को। स्त्रियों में तो यह बात विशेष रूप
से देखी जाती है। हम लोग ढोंग करने लगें तो हमारे पास भी
लोगों की भीड़ लग जाय, परन्तु ऐसा करना साधु का धर्म नहीं है।
हम तो भगवान् महावीर का धर्म सुनाते हैं। जिसे पसंद हो, सुने;
न पसंद हो तो न सुने। धर्म पर दृढ़ता होगी तो सभी जगह दृढ़ता
होगी। अतएव कामदेव की तरह तुम भी आत्मा पर विश्वास रख
कर दृढ़ता धारण करो।

कामदेव की दृढ़ता देखकर पिशाच विचारने लगा—'तेरे
टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा' इतना कहने मात्र से ही इसकी परीक्षा नहीं
होगी। केवल शब्दों से यह नहीं होगा।' यह सोच कर वह
कामदेव के शरीर के टुकड़े करने लगा। फिर भी कामदेव प्रसन्न
ही बना रहा। कामदेव सोचता था—पिशाच के प्रहारों से मुझे
वेदना नहीं हो रही है, बल्कि मेरे जन्म-जन्मान्तर की वेदना नष्ट
हो रही है।

ऑपरेशन करते समय दुःख होता है या नहीं ? पर जिसका
कलेजा मजबूत होता है, वे उस समय भी प्रसन्न ही रहते हैं।
जलगाँव में डाक्टर ने मेरे हाथ का ऑपरेशन करने के लिए कहा,
तब मैंने अपना हाथ उसके सामने फैला दिया। डाक्टर ने कहा–

तकलीफ होगी, क्लोरोफॉर्म सुंघाना पड़ेगा। मैंने कहा—इसकी आवश्यकता नहीं। बिना ही क्लोरोफॉर्म सुंघाये मेरा ऑपरेशन किया गया किन्तु मुझे वेदना का अनुभव न हुआ। सुना है, फ्रांस में एक मनुष्य ने यह अनुभव करना चाहा कि शरीर की नसें काटने से कैसी वेदना होती है? यह अनुभव करने के लिए वह अपनी नसें काटने लगा। यद्यपि नसें कटने से वह मर गया किन्तु अन्तिम समय तक वह हँसता ही रहा।

कामदेव भी शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाने तक हँसता ही रहा। अन्त में पिशाच थक गया—हार गया और उसे प्रतीति हो गई कि कामदेव अपने धर्म पर दृढ़ है, इसे आत्मा की शक्ति पर अटल विश्वास है अतएव यह डिगाये डिग नहीं सकता। आखिर हार मान कर उसने अपना पिशाच रूप छोड़ कर देवरूप प्रकट किया। इस प्रकार कामदेव ने आसुरी प्रकृति को दैवी प्रकृति के रूप में परिणत कर दिया।

देव कामदेव से कहने लगा—'इन्द्र महाराज का कथन सत्य सिद्ध हुआ। वास्तव में आपकी धर्म दृढ़ता अडिग है। आप धर्म की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं। मैं आपके शरीर के टुकड़े करने चला तो मेरे पाप के टुकड़े-टुकड़े हो गए। लोहे की छुरी पारस को काटने चलती है तो स्वयं सोने की बन जाती है। मैं आपकी परीक्षा करने चला तो मेरी ही परीक्षा हो गई। आपके चरणस्पर्श से मेरे पाप धुल गए। अब तक मैंने बहुत पाप किये हैं, पर अब नहीं करूँगा'।

इस प्रकार कामदेव ने देव को भी सुधार दिया।

भगवान् महावीर देवाधिदेव हैं। अनन्त इन्द्र भी उनके रोम को चलायमान नहीं कर सके। आप ऐसे महावीर भगवान् के शिष्य हैं। आपको भी थोड़ी-बहुत धर्म-दृढ़ता तो रखनी ही चाहिए। जो पानी सागर में होता है, वही पानी थोड़े परिमाण में गागर में भी आता है। इसी प्रकार भगवान के अनन्त गुणों का कुछ अंश आप अपने जीवन में उतारेंगे तो आपको जरा भी भय नहीं रह जाएगा।

राजा श्रेणिक बहुरत्नों का स्वामी था, परन्तु धर्म रूपी रत्न की उसके पास कमी थी। वह जलतारिणी, विपहारिणी और उपद्रव आदि को शान्त करने की विद्याएँ भी जानता था। इस प्रकार वह अनेक विद्या-रत्नों का नाथ होने पर भी धर्म-रत्न के अभाव में अनाथ था।

आज जिनके पास खाने-पीने को न हो, जिनके घर-द्वार न हो और जिनका कोई रक्षक न हो, उन्हें अनाथ कहा जाता है; परन्तु महानिर्ग्रन्थ किसे नाथ और किसे अनाथ कहते हैं? इस संबंध में आगे कहा जायगा।

इस गाथा में मंडि कुक्ष बाग न कह कर मंडिकुक्ष चैत्य कहा गया है। यहाँ देखना है कि चैत्य शब्द का अर्थ क्या है? इस संबंध में टीकाकार कहते हैं:—

चैत्य इति उद्यानम्।

अर्थात्-चैत्य का अर्थ बाग है। श्रेणिक चैत्य में अर्थात् बाग में गया। चैत्य शब्द चिय चयने, तथा चिती संज्ञाने धातुओं से

बना है। जहां प्रकृति का बहुत उपचय हो, जहाँ प्रभूत प्राकृतिक सौन्दर्य हो, उसे चैत्य कहते हैं। अथवा ज्ञान को भी चैत्य कहते हैं। मन को प्रसन्न करने का जो कारण हो वह भी चैत्य कहलाता है।

यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कहता, किन्तु पूर्वाचार्यों ने भी ऐसा ही कहा है। रायपसेणीसूत्र म वर्णन है कि सूर्याभ देव ने भगवान् को 'देवय चेइय' कहकर वदना की। भगवान् को चैत्य क्यों कहा? इस सबध मे टीकाकार मलयगिरि कहते हैं—

सुप्रसन्नमन हेतुत्वादिति चैत्यम्।

अर्थात्—मन को प्रसन्न करने के कारण को चैत्य कहते हैं। किसी को ससार का व्यवहार मन को प्रसन्न करने का कारण होता है तो किसी के लिए भगवान् मन को प्रसन्न करके के कारण होते हैं। सूर्याभ देव को देवलोक के सुख मन प्रसन्नता के कारण प्रतीत न हुए, वरन् भगवान् ही हुए। अतएव भगवान् को 'चेइय' कहकर उसने वदना की।

चैत्य शब्द रूढ नहीं, किन्तु व्युत्पन्न प्रतिपदिक है। अतएव उसके अनेक अर्थ होते हैं। चैत्य शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति से मूर्ति नहीं होता। मूर्ति के लिए 'पडिमा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पडिमा और चैत्य शब्दों का अर्थ अलग अलग है और दोनों शब्द भी अलग अलग हैं। चैत्य शब्द जहां आया है, बाग, ज्ञान या साधु के अर्थ मे आया है।

कहा जा सकता है कि चैत्य शब्द का अथ बाग है, इस विषय

में क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर यह है कि शान्त्याचार्यकृत टीका में 'चैत्य इति उद्यानम्' ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् श्रेणिक राजा बाग में गया, ऐसा उल्लेख मिलता है।

नाणादुमलयाइण्णं, नाणापक्खिनिसेवियं ।
नाणा कुसुम संछन्नं, उज्जाणं नंदणोवनं ॥ ३ ॥

अर्थ—भाँति-भाँति के वृक्षों और लताओं से युक्त, तरह-तरह के पक्षियों द्वारा सेवित और अनेक प्रकार के कुसुमों से व्याप्त नन्दनवन के समान उद्यान था।

व्याख्यान—पहले कहा जा चुका है कि राजा श्रेणिक के पास सब प्रकार के रत्न थे, परन्तु सम्यक्त्व रत्न नहीं था। उसे तत्त्व का ज्ञान नहीं था। वह उसकी खोज में था।

क्या आप पैसे की अपेक्षा सम्यक्त्व रूपी रत्न को बड़ा मानते हैं ? आपका एक पैसा खो जाय तो उसकी चिन्ता करते हो, परन्तु सम्यक्त्व-रत्न की उतनी चिन्ता नहीं करते। आप जानते हैं कि पीर, पैगम्बर, भूत, भवानी के पास जाकर मत्था टेकने से समकित—रत्न दूपित होगा, फिर भी स्त्री-पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए 'हम तो गृहस्थ हैं' ऐसा बहाना करके वहां जाते हो या नहीं ? गृहस्थ होने का बहाना करके आप बचना चाहते हैं, परन्तु कामदेव क्या गृहस्थ नहीं था ? पर उसकी बराबर आपको समकित-रत्न की कहाँ परवाह है ? पैसे की सुरक्षा के लिए जितनी सावधानी रक्खी जाती है, उतनी सम्यक्त्व-रत्न की रक्षा के लिए नहीं। कोई रत्न देकर कौड़ी खरीदे तो वह मूर्ख गिना जाता है। यही बात समकित-

रत्न के विषय मे समझनी चाहिए। स्वार्थपूर्त्ति के लिए सम्य क्त्व मे दूषण लगाना उचित नहीं। सम्यक्त्व मे दृढता होगी तो सभी कार्मो मे दृढता होगी। कामदेव के शरीर के टुकडे कर दिये गये, लेकिन धर्म की रक्षा के लिए उसने शरीर की परवाह नहीं की। कामदेव की इस धर्म दृढता के कारण भगवान् ने उसे उदा हरण के रूप मे लेकर साधुओं से भी यही कहा—जब कामदेव श्रावक इस तरह धर्म में दृढ रहा तो तुमको किस प्रकार दृढ रहना चाहिए, इस बात का विचार करो।

राजा श्रेणिक को अन्त मे महानिर्ग्रन्थ के पास से समकित रत्न की प्राप्ति हुई थी। इसीलिए व्रत प्रत्याख्यान न करने पर भी वह भविष्य मे पद्मनाथ तीर्थंकर होगा। यद्यपि वह चाहता था कि मैं धर्मक्रिया करूँ, कि तु वह कर नहीं सका।

आप जा धर्मक्रिया करते है, वह यदि दृढ श्रद्धा रखकर तत्त्व की जिज्ञासापूर्वक की जाय तो अत्य त लाभदायक सिद्ध हो। अगर श्रद्धापूर्वक धर्मक्रिया नहीं की जाती तो वह अक के अभाव म शू यों की तरह निरर्थक सिद्ध होती है। अतएव कषायों को पतला करके अ तरात्मा मे जागृति उत्पन्न करो।

यद्यपि श्रेणिक धर्मक्रिया न कर सका, फिर भी वह धर्मतत्त्व का जिज्ञासु था। उसकी रानी चेलना चेटक राजा की पुत्री थी। चेटक राजा की सात लड़कियां थीं और सभी सतियां थीं। चेलना की रग-रग मे धर्म का प्रवाह बहता था। राजा श्रेणिक को धर्म में दृढ करने के लिए चेलना प्रयत्न कर रही थी। 'मेरे पति

सम्यग्दृष्टि और धर्मात्मा बनें और मैं एक धर्मात्मा राजा की पत्नी कहलाऊँ' ऐसी उन्नत भावना वह भाती रहती थी, जब कि श्रेणिक चाहता था कि मेरी यह रानी धर्म का ढोंग छोड़ कर मेरे साथ मजा-मौज करे।

इस प्रकार दोनों एक दूसरे पर अपनी इच्छानुसार असर डालने के लिए प्रयत्नशील थे। रानी चेलना की धर्म भावना कैसी है, श्रेणिक इसकी मीठी परीक्षा किया करता था, परन्तु चेलना अपनी धर्म भावना का परिचय देकर उसके चित्त पर धर्म का प्रभाव अंकित करने का प्रयास करती रहती थी। दूसरों पर धर्म का प्रभाव डालने के लिए नम्रता और सरलता की बहुत आवश्यकता होती है। बलात्कार से धर्म का प्रभाव नहीं डाला जा सकता। अपना निज का जीवन ही ऐसा बनाना पड़ता है कि जिससे दूसरों पर धार्मिकता का प्रभाव पड़े।

धर्म की परीक्षा करते-करते एक दिन राजा श्रेणिक हठ पकड़ गया। एक बार उसने एक महात्मा को अपने महल के पास से जाते देखा तो चेलना को बुलाकर कहा—देखो, तुम्हारे यह गुरु नीची निगाह करके चले जा रहे हैं। इन्हें कोई मारे तो भी कुछ नहीं कर सकते। यद्यपि मेरे राज्य में यह नियम है कि कोई किसी को कष्ट न दे, पर इन्हें कोई मार-पीट दे तो यह उसका सामना नहीं करेंगे और न फरियाद करेंगे। ऐसी कायरता है इनमें! ऐसे कायर गुरु की चेली में भी कायरता ही आएगी। हम लोग वीर हैं। हमारे गुरु भी वीर होने चाहिए। ढाल-तलवार बांधकर और घोड़े पर सवार होकर फिरने वाले होने चाहिए।

रानी चेलना अपने गुरु का यह अपमान सहन न कर सकी। उसने कहा—महाराज, मेरे गुरु ऐसे कायर नहीं, जैसा आप कहते हैं। मैं कायर गुरु की शिष्या नहीं हू। मेरे गुरु की वीरता के सामने आप सरीखे सौ वीर भी नहीं टिक सकते। आपके बडे से बडे सेनापति भी काम से पराजित हैं, पर मेरे गुरु ने उस काम को भी पराजित कर दिया है। दस लाख सुभटों पर भी विजय प्राप्त करने वाले सेनापति को पराजित करने वाले काम को जीत लेना कोई साधारण वीरता है। मेरे गुरु काम विजयी हैं। काम को जीत लेना बडी से बडी वीरता है। फिर आप उन्हें कायर क्यों कहते हैं ?

चेलना के मुख से गुरु का माहात्म्य सुनकर राजा श्रेणिक ने विचार किया—यह ऐसे नहीं मानेगी। किसी वेश्या को साधु के पास भेजूँ और साधु को भ्रष्ट करूँ तभी यह मानेगी। यह सोच कर श्रेणिक ने कहा—ठीक है, देखा जायगा।

चेलना, राजा का अभिप्राय समझ गई। वह जान गई कि महाराज मेरे गुरु की परीक्षा लेंगे। किन्तु उसे विश्वास था कि परीक्षा का परिणाम अच्छा ही आएगा। अतएव धैर्य धारण करके वह परमात्मप्रार्थना करने लगी—'प्रभो। मेरी और मेरे गुरु की लाज रखना तेरे हाथ में है। मैं तेरे शरण में आई हूँ। शरणागत की रक्षा करना।' इस प्रकार प्रार्थना करके वह धर्मध्यान करने बैठ गई।

राजा ने एक वेश्या को बुला कर कहा—तू उस साधु के स्थान पर जाकर और किसी भी उपाय से उसे भ्रष्ट करके वापिस यहाँ

आना। यह काम करेगी तो मुँहमाँगा इनाम दूँगा।

वेश्या तो मुफ्त में भी राजा का काम करने को तैयार थी। तिस पर उसे राजा की ओर से इनाम मिलने की आशा हुई। उसने तत्काल हाँ भरी। वह शृंगार करके और दूसरी कामोत्तेजक सामग्री लेकर साधु के स्थान पर गई। साधु ने देखते ही उससे कहा—'खबरदार, रात्रि के समय हमारे स्थान पर स्त्रियाँ नहीं आ सकतीं। यह कोई गृहस्थ का मकान नहीं है। यहाँ साधु रहते हैं।'

वेश्या बोली—महाराज, आपकी बात ठीक है। पर आपका कहना तो वही मान सकती है जो आपकी आज्ञा शिरोधार्य करती हो। मै दूसरे अभिप्राय से यहाँ आई हूँ। मैं आपको कोई कष्ट देने नहीं आई, आपका मनोरंजन करने और आपको आनन्द देने आई हूँ।

यह कह कर वेश्या साधु के स्थान में घुस गई। साधु समझ गए कि यह मुझे भ्रष्ट करने आई है। यद्यपि मैं अपने ब्रह्मचर्यव्रत पर दृढ़ हूं, परन्तु जब यह बाहर निकलेगी और कहेगी कि मैं साधु के शीलव्रत को भंग करके आई हूं, तब मेरा कहना कौन मानेगा ?

चेलना ने पहले ही यह मालूम कर लिया था कि यह साधु लब्धिधारी है, अतएव किसी प्रकार की बाधा नहीं आएगी।

महात्मा ने उस समय अपनी लब्धि द्वारा विकराल रूप धारण किया। वेश्या घबराई और महात्मा से कहने लगी—महाराज, क्षमा कीजिए, मेरे प्राण बचने दीजिए। मुझे राजा श्रेणिक ने भेजा

है। उन्हीं के कहने से मैं आई हूँ। मैं अभी यहाँ से भाग जाती, पर क्या करूँ ? बाहर ताला बन्द है। आप मुझ पर दया कीजिए।

महात्मा ने अपना वेश बदल लिया। शास्त्र में कारणवशात वेशपरिवर्तन करने के लिए कहा है। यह अपवादविधि है। चारित्र की रक्षा तो उस समय भी की जाती है परन्तु अवसर आ जाय तो वेश बदल लेने का अपवाद सेवन करना पडता है।

इधर यह घटना घट रही थी और उधर राजा रानी से कह रहा था—तुम अपने गुरू की इतनी प्रशंसा कर रही थीं, अब उनका हाल देखो ? वह तो एक वेश्या को अपने पास रक्खे बैठे हैं। चेलना ने आश्चर्य के साथ कहा—यह बात है ? परन्तु जब तक मैं अपनी आँखों से न देख लूँ तब तक मान नहीं सकती। अगर आपका कथन सत्य हुआ तो मैं उन्हें गुरू नहीं मानूँगी। मैं तो सत्य की उपासिका हूँ। आप जो कहते हैं उसे प्रत्यक्ष दिखलाइए।

राजा—मैं स्वयं देख चुका हू। अब क्यों बात को बढाती हो ?

रानी—जब तक मैं अपनी आँखों से न देख लूँ, तब तक इस विषय में आपका कथन सत्य नहीं मान सकती। मैं स्वयं देख लूंगी तो उसी घडी उन्हें साधु रूप मे मानना छोड दूँगी।

आखिर राजा चेलना को साथ लेकर साधु के स्थान पर आया दरवाजा खोला। दरवाजा खुलते ही जैसे पींजरे में से पक्षी बाहर भागता है, उसी प्रकार वेश्या बाहर आई और राजा से कहने लगी—आप मुझे दूसरा कोई भी काम सौंप दीजिए, मगर साधु के पास जाने को न कहिए, इन महात्मा के तपस्तेज से मैं आज मर गई

होती; परन्तु इन्हीं की दया से जिंदी रह गई।

वेश्या की भय से कांपती आवाज सुनकर रानी ने राजा से कहा—महाराज, यह वेश्या क्या कह रही है ? इसके कहने से तो जान पड़ता है कि आपने ही इसे यहां भेजा था। भले आपने भेजा हो परन्तु मैं तो पहले ही कह चुकी हूं कि मेरे गुरु को इन्द्राणी भी नहीं डिगा सकती। मगर यह क्या कह रही है, इस पर विचार कीजिए।

रानी की बात सुनकर राजा लज्जित हो गया। वह बोला—वेश्या की बात पर ज्यादा विचार करने की आवश्यकता नहीं। छोड़ो इस बात को ।

रानी ने कहा--ठीक है। यह वेश्या आत्मा के सम्बन्ध से मेरी बहिन के समान है। फिर भी मैं इसकी बात छोड़ती हूँ। आप भी इसे छोड़ दें। पर आइए, उन महात्मा के पास तो चलें।

दोनों महात्मा के पास गये। देखा, महात्मा दूसरे ही वेश में हैं। यह देख कर रानी ने राजा से कहा—देखिये, यह मेरे गुरू ही नहीं हैं। मैं तो उसी को गुरू मानती हूं जो द्रव्य और भाव दोनों से मुक्त हों। इन महात्मा का वेश मेरे गुरू का वेश नहीं है। यह रजोहरण, मुंहपत्ती आदि से सुविहित वेश नहीं है। ऐसी स्थिति में यह मेरे गुरू कैसे हो सकते हैं ?

राजा फिर लज्जित होकर विचार करने लगा—रानी ठीक कह रही है। मुझे धर्म का तत्त्व समझना चाहिए। और राजा श्रेणिक के अन्तःकरण में तत्त्व को जानने की अभिलाषा उत्पन्न हुई।

आशय यह है कि धर्म के द्वारा ही धर्म की पहचान होती है। धर्म का सबंध सघ के साथ भी है, क्योंकि सघ के सहकार से ही धर्मतत्त्व को जाना जा सकता है। सघ मे श्रमण का भी समावेश होता है। भगवान् ने कहा है —

> चत्तारि समणसघे पण्णत्ते, तंजहा
> समणए, समणीए, सावयए, सवियाए ॥
>
> —स्थानागसूत्र

सघ मे श्रमण का पहला स्थान है । इसी कारण सघ को श्रमणसघ भी कहते हैं। सघ के सहकार से धर्मतत्त्व को समझा जा सकता है, अतएव सघ का सहकार साध कर श्रद्धापूर्वक धर्म क्रिया करो। ऐसा करने से तुम्हारे कल्याण के साथ औरों का भी कल्याण होगा।

राजा श्रेणिक एक महान् राजा था। अतएव अ य राजाओं की अपेक्षा उसके महल अधिक विशाल और सुन्दर होंगे। परन्तु वह रात-दिन महलों मे ही बन्द न रहकर जगल की हवा खाने के लिए बाहर भी निकला करता था।

जगल की स्वच्छ हवा के बिना जीवन स्वस्थ नहीं रह सकता, ऐसा वह समझता था और इसी विचार से हवाखोरी के लिए बाहर जाता था। शास्त्र मे वायुसेवन (सैर) के लिए 'विहार यात्रा शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शास्त्रीय शब्द का भाव समझने योग्य है।

जिसकी यात्रा की जाती है, वह उसकी रक्षा के लिए की जाती है। जैसे शरीरयात्रा, धर्मयात्रा, धनयात्रा आदि । जैसी यात्रा

होती है, वैसा ही उसका लाभ भी देखा जाता है धर्म की यात्रा में धर्म की रक्षा और धन की यात्रा में धन की रक्षा की जाती है। इसी प्रकार शरीर यात्रा का अर्थ शरीर की रक्षा करना है।

आज शरीरयात्रा के नाम पर ऐसे काम किये जाते हैं कि जिनसे शरीर अधिक बिगड़ता है। आप लोग बाहर की यात्रा करने निकलते हैं किन्तु आपकी वह यात्रा कैसी बेकार होती है, इस बात का जरा विचार करो। आज शायद ही कोई मकान बिना पाखाने का होगा। पहले के मकान कितने ही बड़े क्यों न हों, उनमें पाखाना नहीं होता था, पर आज तो छोटे से छोटे मकान में भी पाखाना होना आवश्यक माना जाता है। इन पाखानों के कारण मकानों में कितनी दुर्गन्ध भरी रहती है। यहाँ अशक्ति के कारण मैं गोचरी के लिए नहीं निकलता; परन्तु दिल्ली में गोचरी के लिए जाता था। तब कोई बिरला ही घर होगा, जिसमें प्रवेश करते पाखाने का दर्शन न हो। बम्बई और कलकत्ता की इन पाखानों के कारण कैसी खराब स्थिति होगी, यह कल्पना की जा सकती है। कलकत्ता की स्थिति के संबंध में एक मारवाड़ी भाई ने गीत सुनाया था :—

कलकत्ता नहीं जाना, यारों कलकत्ता नही जाना।
जहर खाय मर जाना, यारों कलकत्ता नहीं जाना।
कल का आटा नल का पानी, चर्बी का घी खाना ॥ यारो० ॥

मतलब यह है कि किसी भी प्रकार कलकत्ता नहीं जाना चाहिए। अगर आजीविका न मिलती हो तो जहर खाकर मर जाना, पर कलकत्ता तो नहीं ही जाना; क्योंकि वहाँ चक्की का आटा, नल

का पानी और चर्बी का घी मिलता है।

आजकल तो वनस्पति घी शुरू हुआ है। गाय रखने में तो कितने ही लोग पाप मानते हैं, परन्तु वनस्पति घृत खाने में उन्हें पाप नहीं लगता। इस प्रकार ऐसा जान पड़ता है, जैसे आज के लोग जीवनयात्रा को भूल गये हैं और जीवन को नष्ट करने वाले खान-पान का सेवन करते हैं।

श्रेणिक राजा भले अन्य कार्य भूल गया हो पर विहारयात्रा करने का काम नहीं भूला था। वह चाहे शरीर रक्षा के लिए निकला हो या वायुसेवन के लिए, लेकिन शास्त्र में कहा है कि वह विहारयात्रा के लिए बाहर निकला था।

आज कई लोग कहते हैं, शास्त्र सुन कर क्या करें। शास्त्रों में तपस्या करने को कहा है। उन्हें सुनकर क्या भूखे मरें? ऐसा कहने वाले शास्त्र का अर्थ न समझने के कारण शास्त्र की अवज्ञा करते हैं। शास्त्र में कैसे कैसे गंभीर तत्वों का निरूपण किया गया है, यह बात तो तभी जानी जा सकती है, जब किसी शास्त्राभ्यासी के मुख से उन्हें सुना जाय। यों ही अभ्यास किये बिना ही शास्त्र की अवज्ञा करना महापाप है। शास्त्र का मुख्य ध्येय तो मोक्ष है, परन्तु मोक्ष प्राप्त करने के लिए जिन साधनों एवं तत्त्वों की आवश्यकता है, उन्हें भी शास्त्रकार भूले नहीं हैं।

ग्राम या नगर कैसा ही क्यों न हो, गांव के बाहर जाने से अवश्य ही वायु-परिवर्तन हो जाता है। श्रेणिक यह बात जानता था। शास्त्र में हवा के सात लाख भेद बतलाये गये हैं। हवा के प्रत्येक भेद के साथ प्रकृति का जुदा-जुदा संबंध बतलाया गया है।

समुद्र की हवा जुदी होती है, द्वीप की हवा अलग प्रकार की होती है और इसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण आदि प्रत्येक दिशा की भी हवा अलग तरह की होती है। हवा के सम्बन्ध की बारीकियों को जानने वाला वैज्ञानिक हवा को जान कर यह भी बतला सकेगा कि इस प्रकार की हवा चली है तो ऐसा होगा। इस प्रकार शास्त्र में हवा के भेदों का वर्णन है।

हॉं, तो राजा श्रेणिक विहारयात्रा के लिए बाहर निकल कर मंडिकुक्ष बाग में आया। वह बाग शास्त्र के कथनानुसार नन्दनवन के समान था।

प्रकृति के नियमों का पालन और रक्षण करना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही आगे जाकर उन्नति हो सकती है। श्रेणिक स्वयं ७२ कलाओं का ज्ञाता था और उसके पास अनेक शरीरशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा भौतिकशास्त्र आदि के विशेषज्ञ पण्डित रहते थे। फिर भी राजा शरीररक्षा के लिए मंडिकुक्ष बाग में घूमने जाता था।

जहां अनेक प्रकार के वृक्ष और लताएँ होती हैं, वह बाग कहलाता है। वृक्ष और लता में यह अन्तर होता है कि, वृक्ष किसी की सहायता लिये बिना अपने आप ही बढ़ता जाता है और फल-फूल प्रदान करता है, पर लताएँ दूसरे की सहायता लिये बिना सीधी या ऊँची नहीं होतीं; मगर तिरछी फैलती जाती हैं और फल-फूल प्रदान करती हैं।

शास्त्र में कहा है कि मंडिकुक्ष बाग में अनेक वृक्ष थे और अनेक लताएं थीं। प्रश्न किया जा सकता है कि मोक्ष का वर्णन

करने वाले शास्त्र में बाग का वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आप जीवन का हेतु भूल गये हैं, पर शास्त्रकार जीवन के आवश्यक अंगों को नहीं भूले। साधु हो कर भी कोई वन और वृक्ष को नहीं भूल सकता। बौद्ध साहित्य में देखा गया है कि जब बुद्ध गया के जंगल में गये तब उन्होंने कहा—'हम जैसे योगियों के भाग्य से ही जंगल सुरक्षित है—नष्ट नहीं कर दिया गया है। जंगल न होता तो आत्मसाधना के लिए योगियों को बड़ी कठिनाई होती।' इस प्रकार योगी जन जंगल के महत्त्व को समझते हैं। बड़े बड़े सिंह भी बड़े जंगल में ही बसते हैं। जंगल या वृक्षों से सिंह की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु उनका रक्षण वहीं होता है। जहां केवल रेत के टीले होते हैं वहां सिंह भी दिखाई नहीं देते।

कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन के लिए जो वस्तुएँ आवश्यक हैं, उन्हें न बतला कर केवल मोक्ष की बातें करना आकाश के फूल बताने के समान है। किसी वृक्ष को बतलाना हो तो उसके मूल को भी बतलाना चाहिए। जीवन के लिए वृक्षों की बहुत आवश्यकता है।

कुछ लोगों का ख्याल है कि जीवन में मित्र का स्थान महत्त्वपूर्ण हो सकता है, किन्तु वृक्षों की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का वैज्ञानिक यह उत्तर देते हैं कि जीवन में मित्रों या बन्धु-बान्धवों की अपेक्षा वृक्षों की विशेष आवश्यकता है। क्योंकि वृक्षों की सहायता पर ही जीवन टिक सकता है। वृक्षों की सहायता से ही जीवन किस प्रकार टिक सकता है?— इस संबंध में उनका कथन

है कि मनुष्य जो हवा छोड़ता है, वह जहरीली कार्बन गैस है। अगर मनुष्य यह जहरीली हवा न छोड़े और दूसरी हवा ग्रहण न करे तो वह जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य जो जहरीली हवा छोड़ता है, उसे वृक्ष खींच लेते हैं और उसके बदले में आक्सीज़न हवा देते हैं, जिसकी बदौलत मनुष्य जीवित रह सकता है। प्रकृति की रचना ही कुछ निराली है कि मनुष्य जो जहरीली हवा छोड़ता है, वही हवा वृक्षों के लिए अमृत के समान सिद्ध होती है। इस दृष्टि से, वृक्ष यदि मनुष्य द्वारा त्यक्त विषैली वायु को पचाकर आक्सीजन हवा न छोड़े तो मनुष्य किस प्रकार जीवित रह सकता है?

इस प्रकार वृक्ष मनुष्य के लिए अतीव जीवनोपयोगी हैं, फिर भी लोग कहते हैं कि जीवन में वृक्षों की आवश्यकता ही क्या है? ऐसे लोगों को विचार करना चाहिए कि वृक्ष न होते तो उनकी जीवन-रक्षा के लिए जीवन-वायु की पूर्ति कौन करता?

वृक्ष मानव-जीवन की रक्षा करते हैं, फिर भी आजकल उन पर दया नहीं की जाती। प्राचीन काल के लोग वृक्षों की आत्मीय-जन की भांति रक्षा करते थे। किसी वृक्ष को काट दिया जाता तो उन्हें बहुत दुःख होता था। मगर आज के लोगों ने वृक्षों की दया त्याग दी है और फिर कहते हैं—हम तो सुधर गये हैं।

जो जहर पीकर अमृत प्रदान करते हैं, उन वृक्षों पर दया न करना कृतघ्नता है। महाभारत में वृक्ष को अजातशत्रु कहा गया है। अजातशत्रु का अर्थ है–जिसका कोई शत्रु न हो जो पत्थर

मारता है या कुल्हाडी मार कर घाव करता है, उसे भी वृक्ष बदले में अपने मधुर फल प्रदान करता है या अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। ऐसे जीवनोपयोगी वृक्ष की जीवन में कितनी आवश्यकता है ?

दिल्ली के लोग कहते थे कि पुरानी दिल्ली मे बहुत वृक्ष थे, किन्तु जब लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया और बम फेंकने वाला पकडा न जा सका, तब बाजार के सभी वृक्ष कटवा डाले गये। सोचने की बात यहा यह है—बम फेंका किसने और दंड मिला किसको ?

आज जगल को काटकर वीरान बना दिया जाता है, परन्तु इसके फलस्वरूप वर्षा कम होती जाती है, यह किसे मालूम है ? जब बडे-बडे जगल और बगीचे थे तब केसरीसिंह के समान महात्मा लोग भी वहा निवास करते थे, परन्तु हम साधुओं को भी अब तो नगर की शरण लेनी पडती है।

राजा श्रेणिक बाग को अपनी सब सम्पत्तियों मे बडी सम्पत्ति मानता था और इसी कारण वह बगीचों को नवपल्लवित रखता था।

शास्त्र मे बाग का वर्णन करने के बाद कहा गया है कि उस बाग मे अनेक प्रकार के पक्षी रहते थे। वह बाग भाति भाति के पक्षियों से सेवित था। इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल मे आज-कल की तरह पक्षियों की हत्या नहीं की जाती थी। अब तो अपनी विलासवृत्ति को चरितार्थ करने के लिए, परों के लिए भी पक्षियों की घात की जाती है। मैंने एक लेख में पढ़ा

था कि यूरोप और अमेरिका में लोगों की शिकारप्रियता की बदौलत पक्षियों की अनेक जातियाँ ही नष्ट हो गई हैं। इस प्रकार आधुनिक सुधार और फैशन ने वैर ही उत्पन्न किया है।

पक्षियों की रक्षा के लिए आप क्या ऐसी प्रतिज्ञा कर सकते हैं कि जिन वस्तुओं में पक्षियों के पंखों का उपयोग किया गया होगा, उन वस्तुओं को अपनी मौज-शौक के लिए काम में न लेंगे ? कदाचित् आप ऐसी वस्तुओं का उपयोग न करते हों फिर भी त्याग करना उन जीवों को अभयदान देने के समान है। आज मौज शौक के लिए कितने जीवों की हत्या की जा रही है, यह बात लोग नहीं समझते। अनेक बुद्धिमान् लोगों ने घोर हिंसाजनक रेशमी और चर्बी वाले कपड़ों का त्याग किया है, तो क्या आप लोग उन वस्तुओं का त्याग नहीं कर सकते जिनके लिए पक्षियों की हत्या की गई हो और पंखों का उपयोग किया गया हो।

मंडिकुक्ष बाग में अनेक पक्षी स्वतन्त्रता और निर्भयता के साथ किलोल करते थे। वहाँ उन्हें किसी भी प्रकार का भय नहीं था। जहाँ पक्षी इस प्रकार निर्भयतापूर्वक किलोलें करते हों समझना चाहिए कि वहाँ दया है।

पक्षियों से जीवन को लाभ होता है या नहीं, यह आपको क्या पता है ? किन्तु आपके न जानने मात्र से कोई वस्तु निरुपयोगी नहीं हो सकती। आप शायद न जानते होंगे कि हीरा की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? यह तो जानने वाले ही जानते हैं। कहावत है कि जिस देश के रत्न महान् होते हैं, वहीं महापुरुषों का जन्म

होता है। गगा, हिमालय आदि भारत मे ही है, इस कारण भारत मे ही अनेक महापुरुषों का जन्म हुआ है। जिस प्रकार प्रकृति की रक्षा की जाती है, प्रकृति उसी प्रकार का फल देती है।

उस बाग मे अनेक प्रकार के फूल खिले थे। फूलों के सौरभ से बाग महक रहा था। आज के लोग सुगध के लिए सेंट का उपयोग करते हैं। इन लोगों को भारत का अतर पसद नहीं आता। परन्तु सेंट के शौकीनों को यह पता नहीं है कि उसमे मिली हुई स्पिरिट मस्तिष्क मे जाकर कितनी हानि पहुँचाती है।

भारतीयों को भारतीय वस्तु रुचती नहीं है और विदेशी वस्तुएँ किस प्रकार बनाई जाती हैं, यह बात वे जानते नहीं हैं। वास्तव मे यह देश को लज्जित करने वाली बात है। आप तेल का भी उपयोग करते होंगे, परन्तु कौन सा तेल किस प्रकार बना है और वह आपकी प्रकृति के लिए अनुकूल है या प्रतिकूल, इन बातों पर भी कभी आपने विचार किया है? आज की पोशाक ही इतनी पापमय है कि तेल, लवडर और सेंट के बिना काम ही नहीं चल सकता। आज तो खाने की वस्तुओं की अपेक्षा भी पहनने की वस्तुएँ भारी हो रही हैं।

वास्तविक जीवनोपयोगी वस्तुओं का त्याग करके जीवन को भ्रष्ट करने वाली वस्तुओं को अपना लेने से आज बडी बेढगी स्थिति उत्पन्न हो गई है। यह सब प्रकृति के साथ वैर विसाहने के समान है। प्रकृति के साथ वैर करने के कारण ही ऐसे ऐसे रोग फूट पडे हैं जिनका कभी नाम भी नहीं सुना था।

इत्र और सेंट आदि के लिए अनेक प्रकार के पाप किये जाते हैं। उस कृत्रिम सुगन्ध से मन तथा बुद्धि में विकृति उत्पन्न होती है; परन्तु प्राकृतिक सुगन्ध में रोग उत्पन्न करने की या विकार उत्पन्न करने की बुराई नहीं होती।

अगर मै कान में इत्र का फोहा रख लूँ तो आप क्या कहेंगे? आप मुझे उपालंभ देंगे। किन्तु प्राकृतिक रीति से मेरी नाक में जो सुगंध आती हो तो क्या मुझे उपालंभ देंगे? इत्र लगाने के कारण उपालंभ देने का हेतु यही है कि इत्र लगाना प्रकृति के साथ युद्ध करने के समान है, किन्तु प्राकृतिक रूप से फूल की सुगंध को ग्रहण करना प्रकृति के साथ युद्ध करना नहीं है। वह सुगंध तो प्रकृति स्वयं प्रदान करती है। उसे कोई रोक नहीं सकता। अनाथी मुनि बाग में बैठे थे, किन्तु उनसे कोई यह नहीं कह सकता था कि आप मौज-शौक के लिए बाग में बैठे हैं! क्योंकि वहाँ जो सुगंध थी, वह प्राकृतिक सुगंध थी।

मंडीकुक्ष बाग को नन्दनवन की उपमा दी गई है। इन दोनों का सम्बंध उपमान-उपमेय का है। अर्थात् मंडीकुक्ष बाग नन्दनवन के समान था और उसी बाग में महामुनि विराजमान थे।

उदयपुर के राणा सज्जनसिह जी कहा करते थे कि बुद्धि का घर आराम है। आराम होता है तो बुद्धि उत्पन्न होती है। परन्तु आराम का स्थान शहर ही नहीं है। कदाचित् आप कहेंगे कि नगर तो आपको भी प्रिय है! आप भी गाँव में रहना पसंद नहीं करते। परन्तु आपको मालूम होना चाहिए कि शहर वालों के

कारण ही मुझे यह उपालंभ सहन करना पड़ रहा है। जहाँ रोगी ज्यादा होते हैं, वहीं डाक्टरों को ज्यादा जाना पड़ता है। इसी कारण हमें भी नगरों में अधिक आना पड़ता है। आज नगरों में जितना विकार फैला है, उतना ग्रामों में नहीं। ग्रामों में नगर के समान खराबी नहीं आई है। मैं आज ही आपसे नगर त्याग देने को नहीं कहता, परन्तु इतना तो अवश्य कहता हूँ कि आप भी अपने जीवन को सुधारने की ओर ध्यान दें।

मुझे दया और पौषध आदि प्रिय हैं, फिर भी इन पर अधिक भार न देकर शरीर और आत्मा के कल्याण की अन्य बातों पर इसलिए भार देता हूँ कि शरीर को स्वस्थ और ठीक रखने से धर्म कार्य भी भलीभांति हो सकते हैं। अतएव आप प्रत्येक वस्तु पर लाभ हानि को विवेक दृष्टि से देखो और हानिकारक वस्तु का त्याग करके लाभप्रद वस्तु को अपनाओ। धर्म को पवित्र रखने के लिए ही मैं जीवन को पवित्र और स्वस्थ रखने की बात पर विशेष बल देता हूँ।

हाँ, तो मंडीकुच बाग नन्दनवन के समान फल फूल सम्पन्न था। देवों का वर्णन करते समय नन्दनवन को भले ही बड़ा माना जाय, किन्तु असुर दृष्टि से देखा जाय तो मंडीकुच बाग की अपेक्षा वह छोटा ही कहा जायगा। नन्दनवन मंडीकुच की बराबरी नहीं कर सकता। इसका कारण है। कल्पना कीजिए, राजा का एक महल है। उसमें संगमरमर जड़ा हुआ है। चारों ओर सुन्दर और मनोरम चित्रों से सजाया गया है। उसमें सभी प्रकार के सुख साधन उपलब्ध हैं।

दूसरी ओर एक छोटा सा खेत है और उस खेत में काली मिट्टी है। जल से परिपूर्ण छोटा सा कुआ है। उस खेत में छोटे-छोटे पौधे उगे हैं।

इन दोनों में से आप किसे पसंद करेंगे ? किसी मनुष्य को उस राजमहल में रहने दिया जाय और उसके साथ यह शर्त की जाय कि खेत में पैदा हुई कोई भी वस्तु इस महल में नहीं आ सकेगी, तो क्या उसे उस महल में रहना पसंद आएगा ? इसके विपरीत उसी मनुष्य से कहा जाय कि खेत में पैदा होने वाली सभी वस्तुएँ तुम्हें दी जाएँगी, किन्तु रहने के लिए एक छोटा सा झोंपड़ा ही मिलेगा ! बताइए, वह आदमी किसमें रहना पसंद करेगा ? झोंपड़ी में या महल में ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। वह मनुष्य खेत में रहना ही पसंद करेगा। महल कितना ही सुन्दर और विशाल क्यों न हो, उसमें शरीर को टिकाने के साधन नहीं उत्पन्न हो सकते। ऐसा होने पर भी अगर कोई खेत को पसंद न करके राज-महल में ही रहना पसंद करे तो वह उसका व्यामोह ही गिना जायगा।

यही बात मंडीकुक्ष बाग और नन्दनवन के विषय में समझी जा सकती है। नन्दनवन की तरह मंडीकुक्ष बाग में यद्यपि बाहर की शोभा नहीं है, फिर भी उन दोनों में महल और खेत के समान अन्तर है। नन्दनवन में जो शोभा है, वह देवों के रमण करने के लिए ही है। वहाँ सुगंधित सुन्दर फल-फूल नहीं हैं, परन्तु मंडीकुक्ष बाग में तो अनेक प्रकार के फल-फूल हैं। नन्दनवन के विषय में

कहा गया है कि वहाँ जो कुछ है, सब रत्नों का बना है। अतएव वहाँ के पक्षियों को वैसा पोषण नहीं मिल सकता जैसा मंडीकुक्ष बाग मे मिल सकता है। कहा गया है कि मडीकुक्ष बाग मे भाँति भाँति के पक्षी किलोलें करते थे। जहाँ पक्षियों को आनन्द मिलता हो वहाँ क्या मनुष्यों को आनन्द नहीं मिलता होगा ? जहाँ पक्षियों को फल आदि खाने का आनन्द मिलता है, वहाँ मनुष्यों को भी आनन्द प्राप्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिस फल को पक्षी पसद नहीं करता उसे क्या आप पसद करेंगे ? आक के फल को पक्षी या बदर नहीं खाते तो मनुष्य भी नहीं खाता। इस प्रकार फलादि की परीक्षा पहले पक्षी करते हैं। कहने का आशय यह है कि जो फलादि पक्षियों को आनन्दप्रद होते हैं, वे मनुष्यों को भी आनन्द देते हैं।

एक दूसरी बात पर भी यहाँ विचार कर लें। साधारणतया जो पशु, पक्षी फल खाते हैं वे मास नहीं खाते। लेकिन मनुष्य कैसा प्राणी है कि यह फल भी खाता है और मास भी खा जाता है। बदर फल खाता है, मास नहीं। कबूतर अनाज के दाने चुगता है, मास नहीं खाता। इस प्रकार यह पशु पक्षी फलखाने की मर्यादा का भी पालन करते हैं, मगर मनुष्य ने तो फलाहार की मर्यादा का उल्लघन कर डाला है।

जहाँ पशु-पक्षियों को सहज पोषण मिलता है, वहाँ के मनुष्य भी सुखी होते हैं। और जहाँ पशु पक्षी दुखी रहते हैं वहाँ मनुष्य भी दुखी रहते हैं। यह प्रकृति का नियम है।

मंडिकुक्ष बाग में जीवों को फलाहार मिलता था, किन्तु नन्दन वन में वह कहाँ ? इसके अतिरिक्त मंडिकुक्ष बाग में अनाथी मुनि विराजमान थे और कदाचित् वहाँ भगवान् महावीर के चातुर्मास भी हुए होंगे। परन्तु क्या नन्दन-वन में साधु मिल सकते हैं ? इस प्रकार मंडिकुक्ष बाग नन्दन-वन से भी अनेक दृष्टियों से उत्तम सिद्ध होता है।

आप लोग स्वर्ग का वर्णन सुनकर ललचाओ मत। मैं पूछता हूँ कि आपका राजकोट बड़ा या स्वर्ग बड़ा ? आप कदाचित् स्वर्ग को बड़ा कहेंगे किन्तु राजकोट में जो धर्म जागृति हो रही है, वह क्या स्वर्ग में संभव है ? वहाँ तो मुनि भी नहीं मिल सकते। पर राजकोट में मुनियों का जमघट है और आनन्द-मंगल वर्त्त रहा है। ऐसी स्थिति में स्वर्ग को बड़ा कैसे कहा जा सकता है ? इस विषय को समझने के लिए एक भक्ति का उदाहरण लीजिए:—

कहते हैं, गोपियों की भक्ति से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उन्हें स्वर्ग में लाने के लिए विमान भेजा और कहलाया तुमने नन्दलाल की बहुत भक्ति की है। इसलिए चलो, तुम्हें स्वर्ग में स्थान मिलेगा।

इसके उत्तर में गोपियों ने क्या कहा, यह भक्तों की वाणी में ही बतलाता हूँ:—

> व्रज व्हालु म्हारे वैकुंठ नथी जावुं,
> त्यां नंदनो लाल क्यां थी लावुं ,,

गोपियों ने कहा—हमारे सामने स्वर्ग की बात मत करो। हमें

तो ब्रज ही प्रिय है ।

विमान लाने वाले बोले—क्या तुम सब पागल हो गई हो ? जरा विचार तो करो कि कहाँ स्वर्ग और कहाँ ब्रज ? यहाँ दुष्काल पड़े तो तिनका भी न मिले । इसके सिवाय यहाँ सिंह, बाघ आदि का भय है, तरह तरह की बीमारियाँ हैं और सदा मौत का भय सताता रहता है । परन्तु स्वर्ग मे यह कुछ भी नहीं है । सब प्रकार का आनन्द है । वहाँ रत्नों के महल हैं और इच्छा करने मात्र से पेट भर जाता है । भोजन करने की भी आवश्यकता नहीं रहती और भोजन सुखपूर्वक व्यतीत होता है । फिर भी तुम स्वर्ग मे आना नहीं चाहतीं और ब्रज मे रहना चाहती हो ?

गोपियों ने कहा—हम पागल नहीं हैं । जान पड़ता है तुम्हीं पागल हो गए हो । यह तो बतलाओ कि तुम क्यों विमान लेकर हमें ले जाने को आये हो ? हमने नन्दलाल की भक्ति की है, इसीलिए तो ? विचार करो कि जिस भक्ति के कारण तुम हमें स्वर्ग मे ले जाने को आए हो, वह भक्ति स्वर्ग से भी कितनी बढ़ कर है ? फिर उस भक्ति को छोड़कर हम क्यों स्वर्ग में जाना पसंद करें ? हम अपनी भक्ति का विक्रय नहीं करना चाहतीं । तुम स्वर्ग को ब्रज से बढ़कर मानते हो, पर यदि यह ठीक है तो नन्दलाल का जन्म स्वर्ग मे न होकर यहाँ क्यों हुआ ?

गोपियों का उत्तर सुनकर देव चुप हो रहे । कहने लगे वास्तव में हमारा स्वर्ग ब्रज के सामने किसी बिसात में नहीं है । धन्य है तुम्हारी श्रद्धा और भक्ति । हमारा शरीर तो रूप-रंग में

सुन्दर है, पर किस काम का ? इस शरीर में तुम्हारी सी भक्ति कहाँ ?

तुम स्वर्ग को उत्तम मानते हो तो विचार करो--क्या वहाँ व्रतधारी श्रावक साधु मिल सकते हैं ? क्या वहाँ तीर्थंकरों का जन्म हुआ है ? इस दृष्टि से विचार करो तो आपको ज्ञात होगा कि राजकोट का महत्व कितना है। यहाँ रह कर धर्म की जैसी और जितनी साधना की जा सकती है, स्वर्ग में नहीं की जा सकती।

मुसलमानों के हदीसों में कहा है--जब अल्लाह इस दुनिया को बना चुके तब फरिस्तों को बुलाकर उनसे बोले--'तुम इन्सान की प्रार्थना और बंदगी करो।'

अल्लाह के आदेशानुसार दूसरे फरिस्तों ने तो इन्सान की बंदगी की, परन्तु एक फरिस्ते ने आज्ञा नहीं मानी। उसने अल्लाह से कहा--'आप क्यों ऐसी आज्ञा दे रहे हैं ? कहाँ हम फरिस्ता और कहाँ इन्सान। फरिस्ता होकर हम इन्सान की बंदगी करें ? इन्सान खाक का बना है और हम 'पाक' हैं। इन्सान नापाक है।' इस प्रकार कहकर उसने अल्लाह की आज्ञा का उल्लंघन किया। तब अल्लाह मियां ने उसे बहुत उपालंभ दिया।

विचारणीय विषय यह है कि जब फरिस्ते भी इन्सान की बंदगी करते हैं तो दोनों में बड़ा कौन है ?

तथ्य यह है। फिर भी आप क्यों स्वर्ग की इच्छा करते हैं ? यह राजकोट स्वर्ग से बढ़ा चढ़ा है और यहां की भूमि जैसी आनन्द-मंगल-दायिनी है, वैसी स्वर्ग की भूमि नहीं। जैसी

धर्मसाधना यहाँ हो सकती है, वैसी स्वर्ग में नहीं।

इस प्रकार मानना चाहिए कि नन्दन वन की अपेक्षा मंडिकुक्ष बाग उत्तम है। देव भी मंडिकुक्ष बाग की कामना करते हैं और वहाँ आकर खड़े भी रहते हैं। परन्तु यहाँ के ज्ञानी पुरुष स्वर्ग की इच्छा नहीं करते। शास्त्र में कहा है —

नो इह लोयट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा
नो परलोयट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,,

इस प्रकार भक्त जन स्वर्ग की भी कामना नहीं करते। वे कहते हैं हम स्वर्ग की इच्छा करके अपनी भक्ति को बेचना नहीं चाहते।

आज यहाँ राजगृह तो नहीं है लेकिन राजकोट तो है ? नामराशि के लिहाज से दोनों में बड़ी समानता है। कमी है तो यही कि यहाँ अनाथी मुनि जैसे मुनिवर नहीं हैं और श्रेणिक जैसे भक्त भी नहीं हैं। फिर भी धर्म का रंग तो जमा है। अनाथी जैसे न सही, साधारण मुनि तो हैं। तप और त्याग भी हो रहा है। किन्तु स्वर्ग में साधारण साधु भी नहीं हैं और तपत्याग भी नहीं होता। अतएव स्वर्ग की इच्छा करके अपनी धर्म क्रिया का विक्रय मत करो।

तुम कह सकते हो कि हम संसारी जीवों को सभी चीज की इच्छा होती है, परन्तु ज्ञानी जनों के वचन के आधार पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि किसी वस्तु की इच्छा न करते हुए निष्काम भाव से धर्म-कार्य करोगे तो हजार गुना लाभ होगा। इच्छा करने से लाभ होगा, ऐसा समझना भूल है।

आपकी पत्नी आपसे कहे कि मैं तुम्हारे लिए भोजन बनाती हूं। इसका मुझे मेहनताना क्या मिलेगा ? तो ऐसा कहने वाली पत्नी से आप क्या कहेंगे ? यही न कि तुम मेरे यहाँ भाड़े पर नहीं आई हो कि मेहनताना माँगो।

आप अपनी पत्नी से तो ऐसा कहते हैं और भगवान् से कहते हैं, कि यह दो, वह दो। जरा विचार करो कि यह वृत्ति कहाँ तक उचित है ? अगर आप इसी प्रकार माँगते रहे तो परमात्मा के घर के अधिकारी नहीं बन सकते। अधिकारी बनने के लिए परमात्मा की प्रार्थना करोगे तो आपको सांसारिक वस्तुओं की इच्छा तुच्छ प्रतीत होगी।

इस विषय में सभी शास्त्रों का मन्तव्य एक सा है। केवल अर्थ करने में भिन्नता होती है। किन्तु स्याद्वाद दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि सभी शास्त्र सत्य के प्रतिपादक हैं। एक प्रमाण द्वारा इस बात को समझिए।

मीराँ से किसी ने कहा— आपको राणा प्रिय क्यों नहीं हैं ? तब उन्होंने उत्तर दिया:—

संसारीनुं सुख एवं, झाझवानुं नीर जेवुं।
तेते तुच्छ करी फरी रे मोहन प्यारा ॥

इसकी व्याख्या करने में देर लगेगी, फिर भी इस संबंध में थोड़ा कहूंगा। मैने शांकर भाष्य देखा तो उसमें भी यही कहा है कि संसार के जीव मृगजल की तरह भ्रम में पड़ कर भटकते फिरते हैं। जैसे सूर्य की किरणें रेत पर पड़ने से पानी का भ्रम होता है

और उसे पानी मानकर हिरण उसके पीछे दौड़ते हैं। परन्तु पानी न मिलने के कारण उनकी तृषा शान्त नहीं होती और वे हताश हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी संसार और शरीर के विषय में 'यह मेरा है' ऐसा मान बैठती है और इस भ्रम के कारण संसार में भटकती है। रेत को पानी मान लेने से जैसे वास्तव में पानी नहीं मिलता और तृषा शान्त नहीं होती, उसी प्रकार सांसारिक भोगों की इच्छा करने से वास्तविक सुख नहीं मिलता। सुख का आभास मात्र होता है।

मीरा भी यही बात कहती है कि संसार का सुख मृगजल सरीखा है। अतएव मैं सांसारिक सुख के भ्रम में भटकना नहीं चाहती। जैसे रेल की दोनों पटरियों पर चलना शक्य नहीं है, उसी प्रकार परमात्मा की भक्ति करना और संसार के सुख भोगना यह दोनों काम एक साथ नहीं बन सकते। संसार के पदार्थों का ममत्व त्याग देने पर ही परमात्मा की भक्ति हो सकती है।

कहने का आशय यह है कि यह भूमि स्वर्ग से कुछ कम नहीं है और महिकुछ बाग नन्दवन से कुछ कम नहीं है। तुम्हारा कल्याण तो यहीं हो रहा है और यहीं हो सकता है, फिर क्यों स्वर्ग की प्रशंसा अथवा इच्छा करते हो ?

एक अमेरिकन डाक्टर और, जो एक अध्यात्मवादी विद्वान् था, एक दिन अपने शिष्यों के साथ जंगल में गया। वहां उसके शिष्यों ने पूछा—'स्वर्ग की भूमि श्रेष्ठ है या यह भूमि श्रेष्ठ है ?'

डाक्टर ने उत्तर दिया—'जिस भूमि पर तुम अपने दो पैर रख कर खड़े हो और जो भूमि तुम्हारा भार वहन कर रही है, इस

भूमि को अगर तुम स्वर्ग की भूमि से हीन समझते हो तो तुम इस पर पैर रखने के अधिकारी नहीं।'

इसी प्रकार तुम्हारा कल्याण इसी भूमि पर हो सकता है और हो रहा है। फिर भी अगर तुम स्वर्ग के ही गुण गाते रहो तो यह तुम्हारा व्यामोह ही है।

मंडिकुक्ष बाग फूलों से सुगंधित था। इसी बाग में महात्मा अनाथी विराजमान थे और वहीं राजा श्रेणिक के साथ उनकी भेंट हुई। इस कथन में गहरा रहस्य भरा है। कोई पूर्ण पुरुष ही उस रहस्य को पूर्ण रूप से समझ सकता है। मैं अपूर्ण हूँ और कथन भी अपूर्ण ही होगा। फिर भी इस विषय में कुछ कहूँगा।

फूल और मनुष्य का संबंध कितना घनिष्ट है, इस विषय पर विचार करना है। मै स्वयं वैज्ञानिक नहीं हूँ, किन्तु फूल के विषय में वैज्ञानिकों के विचार मैंने सुने हैं। उन विचारों की शास्त्र के साथ क्या संगति है, यह मै दिखलाने का प्रयत्न करूँगा।

फूलों में अनेक रंग होते हैं। वैज्ञानिकों के कथनानुसार रंगों की इस विभिन्नता का सबंध सूर्य की किरणों के साथ है। सूर्य की किरणों के कारण ही फूलों में जुदा-जुदा रंग उत्पन्न होते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सूर्य की किरणें तो सब फूलों पर समान रूप से पड़ती हैं, फिर उनके अलग-अलग रंग होने का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर वैज्ञानिक देते हैं कि किरणों को ग्रहण करने में विभिन्नता होने के कारण फूलों के रंग में भी विभिन्नता देखी जाती है। अर्थात् जो फूल सूर्य की किरणें ग्रहण करके

अधिक से अधिक त्याग करते हैं, उनका रंग एकदम सफेद होता है। जो थोड़ा त्याग करते हैं वे गुलाबी रग के होते हैं। जो इनसे भी कम त्याग करते हैं वे पीले रग के होते हैं। जो उनसे कम त्याग करते है वे लाल होते है। जो किरणों को ग्रहण अधिक करते हैं और त्याग कम करते हैं, वे पीले रग के होते हैं। किंतु जो फूल सूर्य की किरणों को पूरी तरह हजम कर जाते है और त्याग बिल्कुल नहीं करते है, उनका रग एकदम काला होता है।

काला रग किरणों को हजम कर जाता है, यह बात प्रत्यक्ष से भी स्पष्ट जान पड़ती है। फोटो लेने के केमरे पर काला कपड़ा रक्खा जाता है। दूसरे रग का कपडा रक्खा जाय तो थोड़ी बहुत किरणें भीतर चली जाती हैं और फोटो अच्छा नहीं आता। मगर काला रग सूर्य की किरणों को अन्दर प्रवेश नहीं करने देता। वह सब किरणों को हजम कर जाता है, अतएव फोटो ठीक उतरता है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यह समझा जा सकता है कि काला फूल भी किरणों को हजम कर जाता है।

मंडिकुक्ष बाग में अनेक प्रकार के फूल थे। इस कथन का आशय यह है कि फूलों में किरणों को ग्रहण करने की तरतमता बतलाई गई है। जैनशास्त्र के किसी अभ्यासी को यह बात समझाई जाय तो विदित होगा कि इसमे कैसी कैसी सामग्री विद्यमान हैं। आज लोग तोता रट त करके पंडित बन जाते हैं और फिर कहते हैं— जैनशास्त्रों मे कुछ भी नहीं है। वास्तव में ऐसे लोग जैनशास्त्रों में गहरे उतर कर समझने का प्रयत्न ही नहीं करते। पोथी पढ लेने

से ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, परन्तु गुरु की उपासना करके समझने का प्रयास करने से ही शास्त्रार्थ समझा जा सकता है। गुरु की कृपा विना वस्तु पूरी तरह नहीं समझी जा सकती। एक कवि ने इस विपय में कहा है:—

पढके न बैठे पास अक्षर बाच सके,
बिना ही पढे कहो कैसे आवे फारसी।
जौहरी के मिले बिन हाथ नग लिये-
फिरो बिना जौहरी वाको संशय न टार सी।
'सुन्दर' कहत मुख रंच हूँ न देख्यो जाय,
गुरु बिन ज्ञान जैसे अन्धे तम आरसी॥

अर्थात्—पुस्तक में अक्षर तो सब हैं, किन्तु उस्ताद के बिना फारसी नहीं आती। हाथ में नग है परन्तु जौहरी की सहायता बिना उस की कीमत कौन आंक सकता है? बूटियां तो अनेक हैं परन्तु जब तक उनकी उपयोगिता न जान ली जाय तब तक वह किस काम की? दवा का उपयोग बताने वाला डाक्टर न हो तो दवा का होना किस मतलब का? इसी प्रकार पुस्तक होने पर भी उसका ज्ञान गुरु से प्राप्त करना चाहिए। गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त करना अंधेरे में आरसी लेकर मुँह देखने के समान है।

आज लोग गुरु की सहायता लिये बिना पुस्तकों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, यही बुराई है। योग्य गुरु की सहायता से जैन शास्त्रों को समझा जाय तो उनके गुह्य रहस्यों का ज्ञान हो। अगर आप प्रत्येक बात को गुरु के पास से समझ कर विश्वास करो

तो भ्रम में न पड़ो और आत्मा का कल्याण भी कर सको।

शास्त्रों में अनेक स्थलों पर लेश्या के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है। लेश्या दो प्रकार की होती है—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। इन भेदों पर विचार करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि लेश्या का अर्थ क्या है ? लेश्या की व्युत्पत्ति है—

लेश्यति-इति लेश्या

जैसे गोंद दो कागजों को चिपका देता है, उसी प्रकार आत्मा और कर्मों को जो चिपकावे वह लेश्या है। किसी-किसी आचार्य के मत से 'योगप्रवृत्ति लेश्या' अर्थात्, मन, वचन और काय की प्रवृत्ति लेश्या है। कोई कोई कहता है—

कृष्णादि द्रव्य साचिव्याद् आत्मन परिणाम विशेषो लेश्या।

अर्थात् कृष्ण आदि द्रव्यों के सयोग से आत्मा का जो परिणाम विशेष होता है, उसे लेश्या कहते हैं।

शुक्ल, पीत, तेजो, कापोत, नील और कृष्ण, यह छह प्रकार की लेश्याएँ हैं। शुक्ल का रग सफेद होता है, पीत का रग पीला होता है, तेजो का रग लाल होता है, कापोत का रङ्ग कबूतर के रङ्ग जैसा होता है, नील का रग नीला व कृष्ण लेश्या का रंग काला होता है।

अब हमें देखना है कि फूल और लेश्या के बीच क्या साम्य है ? यह आत्मा प्रकृति से कुछ न कुछ ग्रहण करती ही है। हवा, पानी आदि की प्राकृतिक सहायता लिये बिना तो जीवन ही नहीं टिक सकता, अतएव प्रकृति की सहायता लेनी ही पड़ती है। जिस

प्रकार फूल सूर्य की किरणों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी किसी न किसी की सहायता लेता है। जो आत्मा जितनी सहायता लेता है, उससे भी अधिक त्याग करता है, वह शुक्ल लेश्या वाला है। ज्यों-ज्यों त्याग में कमी आती जाती है त्यों-त्यों लेश्या भी हीन और हीनतर होती जाती है। अन्त में जो दूसरों की सहायता लेना ही जानता है, देना नहीं जानता, वह कृष्ण लेश्या वाला है।

वर्ण के साथ ही लेश्या के वर्ण, गंध और रस और स्पर्श का भी सम्बंध है। शास्त्र में इनका वर्णन मिलता है। कृष्ण लेश्या वाले के भाव खराब होते हैं, अतएव उसकी गध भी खराब होनी चाहिए पर इस बात का निर्णय अगर अपनी नाक से सूंघ कर कोई करना चाहे तो यह उसकी भूल है। प्रत्येक बात उसके समुचित साधनों द्वारा ही जानी जा सकती है। कहते हैं, मन का भी फोटो उतरता है। अब कोई साधारण केमरा द्वारा मन का फोटो लेना चाहे तो कैसे ले सकता है? मन का फोटो लेने के लिए केमरा भी विशेष प्रकार का होना चाहिए। इसी प्रकार लेश्या के वर्ण, रस, गंध और स्पर्श के वगैरह को जानने के लिए उपयुक्त साधनों की आवश्यकता है। यह द्रव्यलेश्या की बात हुई। द्रव्यलेश्या और भावलेश्या परस्पर सम्बंधित हैं। अतः द्रव्यलेश्या की तरह भाव-लेश्या भी समझनी चाहिए।

जैसे फूलों का सुधार किया जा सकता है, उसी प्रकार लेश्या का भी सुधार किया जा सकता है। गुलाब सफेद भी होता है और

काला भी होता है, जो काला होता है उसका भी सुधार हो सकता है। इसी प्रकार अशुभ लेश्या को भी सुधारा जा सकता है। अतएव आप भी लेश्या को सुधारने का प्रयत्न करो।

आप पूछ सकते हैं लेश्या का सुधार किस प्रकार हो सकता है? और उसका सुधार करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आजकल के लिए भगवान् महावीर ने विधान किया है कि साधु सफेद वस्त्र धारण करें। फिर भी कोई रंगीन वस्त्र पहने तो आप दोष मानेंगे या नहीं? रंग में भाव का भी सम्बध है और रंगीन वस्त्रों के परिधान से भावों में भी अन्तर पड जाता है। सफेद रंग स्वाभाविक है। अतएव भगवान् ने सफेद वस्त्र पहनने का विधान किया है। स्वाभाविक रंग में भावों की भी स्वाभाविकता रहेगी। भावों में अस्वाभाविकता न आ जाय, इसी उद्देश्य से भगवान् ने साधुओं के खान पान आदि की भी विधि बतलाई है और यह भी बतलाया है कि साधु क्या खाय और क्या न खाय?

कुछ लोग कहते हैं, जिसमें जीव विद्यमान है, जैसे वनस्पति आदि, उसे छोड़ कर कोई भी वस्तु खाई जाय तो क्या बाधा है? इसका उत्तर यह है कि खाने की कोई कोई वस्तु रजोगुणी होती है, कोई तमोगुणी होती है और कोई सतोगुणी होती है। खानपान में केवल जीव का ही विचार नहीं किया गया है, परन्तु प्रकृति का भी विचार किया गया है। गीता में भी कहा है कि जो जैसा भोजन करता है, उसकी प्रकृति भी वैसी ही हो जाती है।

कृष्ण की मूर्ति के सामने मद्य, मांस, प्याज, या लहसुन का भोग क्यों नहीं चढ़ाया जाता ? यह सब चीजे तमोगुण को उत्पन्न करने वाली हैं, इसीलिए इनका निषेध है। इसी हेतु लहसुन आदि खाने का महात्मा निषेध करते हैं। वे केवल जीवन की दृष्टि से ही नहीं, वरन् प्रकृति की दृष्टि से भी उनका निषेध करते हैं। जीवों के विचार के साथ प्रकृति का भी विचार किया गया है। शास्त्र में कहा है कि साधु को तमोगुणी वस्तु खाने में बहुत विवेक और विचार रखना चाहिए। शास्त्र में विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को विगय, या विकृति गिना गया है।

जो साधु, आचार्य और उपाध्याय को गोचरी बताये बिना विगय खाता है, वह दंड का भागी होता है। दूध, दही, घी आदि के सम्बंध में जीव की दृष्टि से विचार नहीं किया गया है, परन्तु यह वस्तुएँ किसको किस प्रकार विकार जनक होती हैं, इस दृष्टि से विचार किया गया है। अतएव खाने में भी विचार और विवेक रखने की आवश्यकता है। खान-पान पर नियंत्रण रख कर अपनी प्रकृति को सतोगुणी बनाना चाहिए। ऐसा करने से लेश्या में भी सुधार होगा।

आज कई लोग मदिरा को लाल शर्बत कह कर सोचते हैं कि इसके पीने में क्या हानि है ? परन्तु गंभीर भाव से सोचना चाहिए कि ऐसी वस्तुएँ कितनी हानिकारक हैं। कुरान और हदीसों में कहा है कि जो वस्तु बुद्धि में विकृति उत्पन्न करती हैं, उन्हें खाना-पीना नहीं चाहिए। वे वस्तुएं हराम हैं।

इस प्रकार का विधि निषेध प्राय प्रत्येक वस्तु के विषय मे सब शास्त्रों मे मिलता है। यह बात अलग है कि किसी जगह देश-काल को देख कर किसी अखाद्य वस्तु को एकदम निषेध न किया गया हो, लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसकी छूट दी गई है। ऐसा समझ लेना भूल होगी। मैंने कुरान मे देखा है कि अल्लाह ने जमीन और आसमान बनाकर इन्सान के लिए फल-फूल आदि बनाये। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि कुरान के अनुसार इसान के लिए फल, धान्य आदि बनाये गये हैं। मनुष्य के लिए फल, धान्य आदि भक्ष्य हैं, किन्तु मनुष्य मनुष्य को या पशु को खा जाय, यह किसी भी प्रकार योग्य नहीं है। अली साहब ने तो जीव का मास खाने का निषेध किया है और कहा है। 'अपने पेट मे किसी की कब्र न बनाओ।'

अभिप्राय यह है कि खान पान और वेष भूषा से भी जीवन प्रभावित होता है, अतएव इनम भी विवेक और विचार रखना चाहिए।

आज महिलाओं मे भी नये नये फैशन चले है और कितने ही लोगों का कहना है कि उन्हे अपना लेने मे हानि ही क्या है? मगर ऐसे अन्धानुकरणप्रेमी यह नहीं सोचते कि खान-पान और वेषभूषा का परिणाम क्या होता है? इससे संस्कृति, स्वभाव और प्रकृति पर कैसा प्रभाव पड़ता है?

आप लोग सामायिक मे वस्त्र उतार कर क्यों बैठते हैं? इस लिए कि वस्त्र उतारने से भाव म भी परिवर्तन होता है। मुसलमान

नमाज़ पढ़ते समय सादा वस्त्र पहनते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसा करने से अहंकार दूर होता है। कपड़ों से भी अहंकार उत्पन्न होता है। खादी और विलायती वस्त्र में अहंकार की दृष्टि है या नहीं? दारू और दूध पीने वाले की बुद्धि में अन्तर होता है या नहीं? इस तथ्य को जो जानता है वही समझ सकता है। किन्तु जो लोग आदत से लाचार हैं, उन्हें तो खराब वस्तु भी अच्छी लगती है।

मैंने गांधीजी की 'आरोग्यविचार' नामक पुस्तक देखी है। उसमें लिखा है कि—किसी देश के लोग विष्ठा भी खाते हैं। वे लोग विष्ठा खाते हैं, अतएव विष्ठा खाने योग्य वस्तु तो नहीं कही जा सकती।

जयपुर के भंगी विष्ठा को सड़ा कर उसमें उत्पन्न हुए कीड़ों का रायता बनाते हैं और बड़ी रुचि के साथ खाते हैं। क्या उनके खाने से विष्ठा के कीड़े खाने योग्य पदार्थ मान लिये जाएँ?

पनवेल में मैंने देखा कि मछलियों की दुर्गन्ध चारों ओर फैली हुई थी। एक भाई ने मुझसे कहा— मछलियाँ खाने वाले लोग बड़े मजे से मछलियाँ खाते हैं।

इस प्रकार कोई मनुष्य अपनी आदत के कारण बुरी वस्तु को भी अच्छी मानने लगे यह बात अलग है; परन्तु उसके मानने मात्र से बुरी वस्तु अच्छी नहीं हो जाती। अतएव तुम खान-पान और पोशाक के सम्बंध में गहरा विचार करो और जो वस्तुएँ हानिकारक हों उनका त्याग कर दो और सात्विक पदार्थों को ही ग्रहण करो। ऐसा करने से लेश्या में भी सुधार होगा।

तत्थ सो पासइ साहु, सजय सुसमाहियं ।
निसन्न रुक्खमूलम्मि, सुकुमाल सुहोइय ॥ ४ ॥

अर्थ—वहा राजा ने वृक्ष के मूल में बठे हुए, सुकुमार, सुख में पले और बडे हुए, समाधिमान् सयमी साधु को देखा ।

व्याख्यान—आत्मा भ्रम में पड़कर बहुत बार भौतिक सुखों के पीछे भटकता है और उस सुख के अभिमान मे अपने को 'नाथ' और दूसरों को अनाथ मानने लगता है। परन्तु सचाई यह है कि 'मैं सब का नाथ हूँ', इस अभिमान मे आकर वह स्वय अनाथ बन जाता है।

राजा श्रेणिक भी भौतिक सुख के अभिमान मे आकर अपने आपको सबका नाथ मानता था। परन्तु श्रेणिक की यह बड़ी भूल थी। इस भूल को महामुनि अनाथी ने अपने उपदेश द्वारा दूर किया और उसे यह समझाया कि श्रेणिक स्वय अनाथ है। साथ ही उसे आध्यात्मिक सुख का मार्ग बतलाया। इस गाथा मे उन्हीं महामुनि का परिचय दिया गया है।

राजा श्रेणिक मडिकुक्ष बाग मे विहार यात्रा के लिए आया था। वह शाही ठाठ से आया होगा, परन्तु शास्त्र में इस विषय का कोई वर्णन नहीं मिलता। अतएव यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार राजा को शोभा दे, उसी प्रकार वह वहा आया होगा।

राजा श्रेणिक फूलों की गध लेता हुआ बाग में इधर उधर घूम रहा था। घूमते घूमते एक महापुरुष साधु पर उसकी नजर पड़ी। यह महात्मा सयत अर्थात् सम्यक् प्रकार से आत्मा की

यतना करने वाले और संयम के धारक थे। यह बात उनके चेहरे पर झलकने वाले समाधिभाव से स्पष्ट जान पड़ती थी। महात्मा एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। वह सुकुमार और सुखी थे।

इस कथन पर विशेष विचार किया जाय तो वह लम्बा होगा और अनेक बातें जानने को मिलेंगी। किन्तु अभी इतना अवकाश नहीं है; अतः संक्षेप में ही कहता हूँ।

राजा ने बगीचे में महात्मा को देखा। महात्मा के विराजमान होने से बगीचे में कोई विशेषता आ गई होगी। शास्त्रकारों का कहना है कि महात्माओं के संयम का परिचय तो उनके आसपास का वातावरण ही दे देता है। जहां महात्मा विराजमान होते हैं, वहां उनकी शान्ति के प्रताप से वैर-विरोध रह ही नहीं जाता। जिन जीवों में स्वाभाविक वैर-विरोध होता है, ऐसे सिंह और बकरी सरीखे प्राणी भी निर्वैर होकर शान्तिपूर्वक एक साथ बैठते और रहते हैं। भयभीत जीव भी निर्भय हो जाते हैं। इस प्रकार महात्माओं का प्रभाव चेतन जगत् पर तो पड़ता ही है, किन्तु जड़ पदार्थों पर भी पड़े बिना नहीं रहता। इस नियम के अनुसार उन महात्मा का प्रभाव मंडिकुक्ष बाग पर पड़ा ही होगा। राजा श्रेणिक सोचता होगा कि आज बगीचे में क्या अनोखापन है। इसी समय उसकी दृष्टि वृक्ष के नीचे बैठे महात्मा पर जा पड़ी।

साधु के साथ वृक्ष का भी वर्णन किया गया है। साधु और वृक्ष की तुलना की जाय तो दोनों में बहुत समानता प्रतीत होगी। ग्रन्थकारों ने मुनि और वृक्ष का साम्य बतलाया है। वृक्षों पर शीत और आतप गिरते हैं, मगर वे किसी के सामने फरियाद नहीं

करते, वरन् समभावपूर्वक सहन करते हैं।

जिस प्रकार वृक्ष पवन का आघात सहन करते हैं, उसी प्रकार तुम भी सहनशील बनो। ऐसे करने से संसार की कठोर से कठोर विपत्तियां सिर पर आ पड़ने पर भी तुम दृढ रह सकोगे। सहिष्णुता का अभ्यास करना कल्याण का मार्ग है। जो सहनशील होता है, वही आगे चल कर उन्नति कर सकता है।

महाभारत में कहा है कि युधिष्ठिर ने भीष्म से कहा—अब आपका अन्त समय सन्निकट आ गया है, अत में आपसे एक बात और पूछना चाहता हूँ। आपने मुझे धर्म और राजनीति की अनेक बातें बतलाई हैं। मगर एक बात पूछना शेष रह गया है। वह अब पूछना चाहता हू।

भीष्म ने उत्तर दिया—जो पूछना चाहते हो, खुशी से पूछो। मैं तुम्हारी तिजोरी मे शिक्षा की जो बातें रख दूँ, वे सुरक्षित ही हैं।

युधिष्ठिर—कोई प्रबल शत्रु आक्रमण करदे तो राजधर्म के अनुसार क्या करना चाहिए?

भीष्म—इसके लिए मैं एक प्राचीन कथा सुनाता हू। उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

नदियों का स्वामी समुद्र, सब नदियों के बर्ताव से प्रसन्न रहता था, किंतु वेत्रवती नदी के बर्ताव से अप्रसन्न हुआ और कहने लगा—तू बड़ी कपटिन है। तू निष्कपट होकर मेरी सेवा नहीं करती।

नदी बोली—मेरा अपराध क्या है?

समुद्र—तेरे तीर पर वेंत बहुत होते हैं; परन्तु किसी भी दिन तूने वेंत का एक टुकड़ा भी लाकर मुझे नहीं दिया। और-और नदियां तो अपने-अपने तीर पर होने वाली वस्तुएं मुझे भेंट करती हैं; पर तू बड़ी कपटमूर्ति है। तू ने आज तक मुझे वेंत नहीं दिया।

समुद्र का कथन सुन कर नदी कहने लगी—इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं है। जब मैं जोश के साथ सपाटा मार कर आपकी ओर दौड़ती आती हूँ तब वेंत नीचे झुक कर पृथ्वी पर लग जाते हैं और जब मेरा पूर उतर जाता है तो ज्यों के त्यों खड़े हो जाते हैं। इस कारण मैं एक भी वेंत को नहीं तोड़ पाती। ऐसी स्थिति में मेरा क्या अपराध है ?

समुद्र ने कहा—ठीक है। मैं यह बात जानता हूँ, परन्तु तेरे साथ हुआ मेरा यह संवाद दूसरों के लिए हितकारी सिद्ध होगा।

यह संवाद सुनाकर भीष्म ने युधिष्ठिर ने कहा—युधिष्ठिर ! जब अपने से अधिक बलशाली शत्रु से सामना करना पड़े तब क्या करना चाहिए, इस विषय में वेंत से शिक्षा ग्रहण करो। शत्रु प्रबल हो तो नम्रता धारण कर लेना ही उचित है। वेंत नीचे झुक जाता है, परन्तु अपनी जड़ को नहीं उखड़ने देता और पूर उतरने पर ज्यों का त्यों तन कर खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार अपनी जड़ को मजबूत रखकर प्रबल शत्रु के सामने झुक जाना चाहिए। जो बहुत तेज सपाटे के साथ आता है वह लम्बे काल तक नहीं टिक सकता। अतएव जब प्रबल शत्रु आवे तो झुक जाना चाहिए और जब चला जाय तो फिर ज्यों का त्यों खड़ा हो जाना चाहिए। सबल शत्रु के आने पर भी जो अकड़ कर खड़ा रहता है, उसकी जड़

उखड़ जाती है और उसके लिए फिर खड़ा होना शक्य नहीं रहता। अतएव नम्र होकर अपनी जड़ को उखड़ जाने से बचा लेना ही बुद्धिमत्ता है।

युधिष्ठिर को धर्मराज और अजातशत्रु भी कहा जाता है। वह किसी को अपना शत्रु नहीं मानते थे। इसी प्रकार वृक्ष भी अजातशत्रु हैं, वे भी किसी को अपना शत्रु नहीं मानते। युधिष्ठिर की अजातशत्रुता के विषय मे तो तर्क वितर्क भी हो सकता है परन्तु वृक्षों की अजातशत्रुता के विषय म किसी को सन्देह नहीं हो सकता। पवन, शीत, ताप, धूप, वर्षा आदि के कष्ट सहते हुए भी वे अडोल अचल रहते हैं। इसके अतिरिक्त वृक्ष की कोई शाखा बिजली से खिर जाय अथवा पाला पड़ने से जल जाय या कोई काट ले तो भी वृक्ष रोता नहीं। जो शाखाएँ अवशिष्ट रहती हैं, उन्हीं में ऋतु के अनुसार फलों फूलों को पोषण दिया करता है।

ससार में एक दुख तो पुत्र, माता या किसी अन्य स्वजन की मृत्यु होने पर आ पड़ता है और दूसरा दुख वे रो कलप कर—हाय हाय करके स्वय उत्पन्न कर लेते है। परन्तु हानि होने पर अपनी शक्ति का अधिक ह्रास न होने देकर विकास करना चाहिए, इस प्रकार की शिक्षा लोग वृक्षों से लें तो कितना लाभ हो,

एक कवि कहता है—

> रे मन! वृक्ष की मति लेहु रे!
> काटन वाले से नहीं वैर कछु,
> सींचन वाले से नहीं है स्नेह रे॥

कवि मन को सबोधन करके कहता है—अरे मन! तू वृक्ष

से शिक्षा क्यों नहीं लेता ? वृक्ष को कोई कुल्हाड़े से काटता है तो वह उसके प्रति वैरभाव धारण नहीं करता; यही नहीं उसे भी वह शीतल छाया और खाने को फल फूल देता है। और वृक्ष अपने को सींचने वाले पर भी राग नहीं करता। इस प्रकार वृक्ष प्रत्येक पर समभाव रखता है। हे मन ! तू इस समभाव को क्यों नहीं सीखता ?

वृक्ष में विद्यमान इस समभाव को तुम क्यों नहीं धारण करते ? वृक्ष से भी गये-बीते क्यों बन रहे हो ? वृक्ष को लोग जड़ समझते हैं (यद्यपि वह जड़ नहीं, एकेन्द्रिय जीव है), लेकिन तुम तो चेतन हो। चेतन होकर भी इस गुण को ग्रहण नहीं कर सकते ?

जैसे वृक्ष किसी को दुःख नहीं पहुँचाता, उसी प्रकार मनुष्य किसी को दुःख न पहुंचावे, तो फिर संसार में कोई किसी का शत्रु ही न रहे !

कदाचित् आप सोचेंगे कि हम ऐसे सरल बन जाएँगे तो शत्रु हमें मार ही डालेंगे। परन्तु वृक्ष इस विषय में क्या कहता है ? वृक्ष कहता है—'मैं किसी दूसरे के द्वारा नहीं काटा जाता, किन्तु अपने वंशजों द्वारा ही काटा जाता हूँ।'

अगर कुल्हाड़ी में लकड़ी का हत्था न हो तो वृक्ष में घाव लग सकता है, पर वह कट नहीं सकता। वह जब कटता है तो अपने वंशज लकड़ी के हत्थे की सहायता से ही कटता है। इसी प्रकार तुम्हारे प्रति अगर कोई वैर रखता हो तो भी जब तक तुम अपने मन को सहायता न दो, वह तुम्हारा कुछ भी नहीं कर सकता। तुम शत्रु के हाथ में अपने मन का हत्था देते हो तभी कुल्हाड़ा

रूपी वैर तुम्हारा अनिष्ट कर पाता है। तुम अपने मन को वैर की ओर न जाने दो तो तुम्हारा कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। वृक्ष को अजातशत्रु कहने का यही हेतु है। वृक्ष कितने उपकारक हैं, फिर भी लोग अपने मोज शौक के लिए उन्हें काट गिराते हैं।

घाटकोपर मे मैं जगल गया था। लौटते समय मैंने देखा कि जो वृक्ष थोड़ी देर पहले हरा भरा खडा था, वही अब धरती पर कटा पड़ा है। मेरे साथी साधुओं ने काटने वालों से पूछा—किस लिए तुमने इस वृक्ष को काटा है? उन्होंने उत्तर दिया—इस वृक्ष के कोयले से चूना की भट्ठी पकाई जाएगी। पके हुए चूने को बगला बनाने के लिए काम में लाया जाएगा।

इस प्रकार बगले बनवाने के लिए ऐसे उपकारी हरे भरे वृक्षों को काट फेंका जाता है।

मैंने हदीसों को देखा है। उनमें 'कतिलुल हाजर' को महा पाप माना गया है। अर्थात् हर वृक्षों को काटना अपराध है। हरे वृक्ष सब को शान्ति देते हैं, परन्तु बगले सब को शान्ति नहीं दे सकते। केवल मकानों के लिए ही वृक्ष नहीं काटे जाते, किन्तु आजकल तो मशीनों के कारण वृक्षों का व्यापक विनाश हो रहा है। एन्जिनों मे भी लकड़ी और कोयला काम में लाया जाता है और इसके लिए वृक्ष काटे जाते हैं। इस प्रकार यंत्रों ने वृक्षों का विशेष विनाश किया है। मगर वृक्षों के नाश के साथ प्रकृत्ति के सौन्दर्य का और तुम्हारे सुख का भी नाश हो रहा है।

बाग मे वृक्ष के नीचे जो महात्मा बैठे थे, वह भी वृक्ष के समान ही सहनशील थे। कैसी भी आपत्ति क्यों न आ पड़े, उसे समता

पूर्वक सहन करने वाले थे। तुम भी वृक्ष के समान सहनशील बनो तो तुम्हारी आत्मा गुणशील बनेगी और तुम्हारा कल्याण होगा।

इस गाथा में बतलाया गया है कि राजा ने साधु को देखा। अतएव यहां देखना है कि साधु किसे कहते हैं ? साधु शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

साधयति स्व-पर कार्याणि इति साधुः।

अर्थात्—जो अपना और दूसरों का कार्य साधता है, वह साधु कहलाता है। नदियां जाती तो समुद्र की ओर हैं, पर जिधर से जाती हैं, उधर के आसपास के प्रदेश को सींचती और फलद्रूप बनाती जाती हैं। इसी प्रकार साधु भी अपना कार्य सिद्ध करते हुए दूसरों का कार्य साधते हैं, जैसे वृक्ष स्वभावतः फलते-फूलते हैं और यह नहीं सोचते कि हम दूसरों के लिए फलें-फूलें, फिर भी दूसरों के उपकारक सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार साधु भी अपना कार्य साधते हुए दूसरों का उपकार करते हैं। जैसे वृक्ष अपनी प्रशंसा से हर्ष और निन्दा से विषाद का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार साधु भी अपनी निन्दा से दुःखी नहीं होते और प्रशंसा से फूलते नहीं। जैसे वृक्ष पत्थर मारने वाले को भी फल-फूल; अन्ततः छाया देते हैं, उसी प्रकार साधु निन्दा करने वाले को भी तत्त्व का बोध देते हैं और अपनी आत्मा के समान मानते हैं।

इस प्रकार जो स्वयं मुक्ति की साधना करते हैं और उपासना करनेवाले को मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं, वह साधु हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि गाथा में जब 'साधु' शब्द का प्रयोग किया

गया है तो फिर उसी के समानार्थक 'संयत' पद का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं कि साधुता गृहस्थों में भी हो सकती है। आरम्भ समारम्भ में रहने पर भी गृहस्थ स्व पर का कल्याण साध सकता है। साहित्य में गृहस्थ को भी साधु शब्द से सम्बोधन किया गया है। जो अपने *स्वार्थ का साधन करता हुआ परमार्थ को नहीं भूल जाता,* वह गृहस्थ भी साहित्य मे साधु कहा गया है।

गृहस्थ की यह साधुता तुम्हें भी सीखनी चाहिए और वृक्षों से भी शिक्षा लेनी चाहिए। वृक्ष अपने काटने वाले को भी शीतल छाया देता है इसी प्रकार तुम भी दूसरों का उपकार करो। स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी जनों को तो छाया देते ही हो, उनकी सार सभाल रखते ही हो, परन्तु जब कोई गरीब तुम्हारे यहा आकर छाया मागे तो उसे दुतकारो मत।

श्रीज्ञातासूत्र मे मेघ कुमार का वर्णन है। उसके पूर्वभव का वृत्तान्त बतलाते हुए कहा गया है कि एक हाथी ने अपने रहने के लिए जगल में चार कोस का मडल बनाया था। परन्तु जब जगल में दावानल सुलगा तो दूसरे दूसरे प्राणी अपने प्राणों की रक्षा के लिए उस मडल मे आ गये। तब हाथी ने उन प्राणियों को बाहर नहीं निकाल दिया, वरन् स्थान दिया। जो प्राणी उसके मडल में आये थे वे उसके *आत्मीय या सजातीय नहीं थे,* फिर भी उसने विचार किया–जैसे मुझे आश्रय की आवश्यक्ता है, उसी प्रकार इन जीवों को भी आश्रय चाहिए। आश्रय पाने के लिए ही यह यहाँ आए हैं। अतएव इन्हें आश्रय देना ही चाहिए।

हाथी की उदारता कितनी महान् है ? हाथी ने कितने शास्त्रों और कितनी पुस्तकों का स्वाध्याय किया था कि उसमें इतनी बड़ी उदारता आ गई ? तुमने शास्त्रों का स्वाध्याय किया है, पुस्तकें पढ़ी हैं, फिर भी ऐसी उदारता नहीं क्यों नहीं आई ? तुम पढ़े-लिखे हो, तुम में कोई बी० ए० है, कोई एम० ए० है और किसी ने सरकार से रावबहादुर का खिताब पाया है, फिर भी तुम्हें इस प्रकार की उदारता का विचार क्यों नहीं आता ?

हाथी ने उन जीवों को अपने मंडल में स्थान दिया। इतना ही नहीं, कितनेक प्राणी उसके पैरों के बीच में जो स्थान था, उसमें भी आ घुसे। फिर भी उसे क्रोध नहीं आया। उसने शरीर खुजलाने के लिए पैर ऊँचा किया तो मौका पाकर एक खरगोश उस खाली जगह में बैठ गया। ऐसे समय हाथी को क्रोध आ सकता था। वह चाहता तो पैर जमीन पर रख देता और खरगोश का कचूमर निकल जाता। चाहता तो सूंड से पकड़कर दूसरी जगह फैंक देता। मगर हाथी ने ऐसा नहीं किया। उसने विचार किया-खरगोश आग के भय से यहाँ आया है, अतएव उसे आश्रय मिलना ही चाहिए। यह विचार करके उसने अपना पैर ऊपर ही उठाये रक्खा। बहुत देर तक ऊँचा रखने के कारण पैर अकड़ गया और हाथी धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। परन्तु अपनी उदारता के कारण उसने श्रेणिक राजा के पुत्र रूप में जन्म लिया। आपको विचार करना है कि जब हाथी में भी इतनी उदारता थी तो आप में कितनी उदारता नहीं होनी चाहिए ?

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार गृहस्थ भी साधुता को धारण

कर सकते हैं। राजा श्रेणिक ने जिन साधु को देखा था, वह ऐसे गृहस्थ साधु नहीं थे। इस बात को प्रकट करने के लिए 'संयत' पद दिया गया है। अर्थात् वह महात्मा आत्मा की यतना करने वाले संयमी थे।

साधु और संयत के साथ महात्मा को 'सुसमाहिय' भी कहा है। 'सुसमाहिय' का अर्थ है—उत्तम समाधि वाले। प्रश्न है—यह विशेषण किसलिए दिया गया है? इसका उत्तर यह है कि कुछ लोग संयत तो होते हैं और संयत के योग्य सब क्रियाएँ भी करते हैं, परन्तु तत्त्वों की श्रद्धा उलटी रखते हैं जैसे गोशालक और जमाली। जमाली की बाह्य क्रिया उत्तम कोटि की थी, परन्तु श्रद्धा विपरीत थी। अतएव साधु संयत होने पर भी वह समाधिमान् नहीं था। यह महात्मा विपरीत श्रद्धा वाले नहीं थे, उन्हें तत्त्वों के स्वरूप में कोई भ्रम नहीं था, यह बात स्पष्ट करने के लिए उन्हें सुसमाहित कहा गया है।

वह साधु सुकुमार थे। जो कामदेव को पूरी तरह जीत ले, वह सुकुमार कहलाता है। उनका शरीर ऐसा था कि कामदेव को भी जीत ले। अतएव उन्हें सुकुमार कहा गया है।

उन महात्मा के लिए 'सुहोइय' विशेषण भी दिया गया है। 'सुहोइय' का अर्थ है—सुख के योग्य। जो सुख में पले हों, जिन्होंने कभी कष्ट न देखा हो वह शरीर से सुखी कहलाता है। किसी मनुष्य ने पहले कष्ट भोगे हों तो वर्त्तमान में कष्ट न होने पर भी उसके शरीर पर कष्टों की छाया रह जाती है और बारीकी से देखने वाला समझ लेता है कि इसने कष्ट भोगे हैं। किन्तु पहले कष्ट भोगने पर भी उनके शरीर पर दुःख का कोई चिह्न

नहीं था। अतएव मुनि का शरीर सुखी जान पड़ता था।

इसके सिवाय 'सुहोइयं' का दूसरा अभिप्राय यह भी है कि उनका शरीर सुख के योग्य था, अर्थात् वे सुख भोगने योग्य रूपवान् थे। तीसरे, वह शुभोचित थे, अर्थात शुभ गुणों वाले थे।

राजा श्रेणिक साधु के पास जाने के उद्देश्य से बाहर नहीं निकला था फिर भी कौन जाने कब और किस प्रकार आत्मकल्याण के साधन मिल जाते हैं। इधर राजा श्रेणिक का बाग में घूमने के लिए जाना और उधर अनाथी मुनि का आगमन होना ऐसा सुन्दर योग था। इस सुयोग के होने में भी कोई गुप्त शक्ति प्रच्छन्न रूप से विद्यमान थी, यह मानना ही पड़ता है। तुम भले प्रत्यक्ष से यह बात न मानो, परन्तु अनुमान से तो मानना ही पड़ेगा।

राजा ने मुनि को देखा। मुनि को देखकर वह उनकी ओर ऐसे आकर्षित हुआ जैसे चुम्बक से लोहा आकर्षित होता है। मुनि पर दृष्टि पड़ते ही उसके मन में आया:—

तस्स रूवं तु पासित्ता, राइणो तंमि संजए।
अच्चंतपरमो आसी, अउलो रूवविम्हिओ॥ ५॥
अहो वण्णो! अहो रूवं, अहो अज्जस्स सोमया।
अहो खंती! अहो मुत्ती! अहो भोगे असंगया॥६॥

अर्थ—मुनिराज के रूप को देखकर राजा श्रेणिक को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। आश्चर्य चकित राजा अपने मनमें कहने लगा—अहा, इन आर्य का वर्ण कैसा है! इनका रूप कैसा है! इनकी सरलता और शीतलता कैसी है! इनकी क्षमा और निर्लोभता

कसी अद्भुत है। इनकी भोगों के प्रति निस्पृहता कैसी अनूठी है!

व्याख्यान—नाम की महिमा तो गाई जाती है, परन्तु नाम के साथ रूप का भी सम्बन्ध है। साधारणतया किसी को पहिचानने के लिए नाम का उपयोग किया जाता है, परन्तु कभी-कभी रूप से भी नाम जाना जाता है। राजा मुनि के रूप को देखते ही समझ गया कि यह मुनि संयत और सुसमाधिमान् है।

स्थानांगसूत्र में चार प्रकार के सत्य कहे गये हैं। नाम से भी सत्य होता है, स्थापना से भी सत्य होता है, द्रव्य से भी सत्य होता है और भाव से भी सत्य होता है। नाम से सत्य होता है इसमें भी समझने की आवश्यकता है। किसी ने अपना नाम ही मिथ्या बतलाया हो रूप से भी सत्य सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु किसी ने रूप ही झूठा बना लिया हो तो? अतएव नाम या रूप सत्य हैं या नहीं, इस बात की परीक्षा करने की आवश्यकता रहती है। लोग छल कपट से भी काम लेते हैं, अतएव सावधानी रखनी चाहिए।

कोई मनुष्य तुम्हारे पास आकर और झूठा नाम लेकर धोखा दे तो यह खोटा काम कहलाएगा या नहीं? और वह अपराधी गिना जाएगा या नहीं? इसी प्रकार साधु न होने पर भी कोई साधु होने का ढोंग करे तो वह बुरा कहा जाएगा या नहीं? कोई पीतल को सोना कहकर ठगाई करे तो यह अपराध माना जाएगा या नहीं? जैसे कितने ही लोग कलचर मोती को असली मोती कह कर बेचते हैं, उसी प्रकार भाव में भी धोखेबाजी चलती है। शास्त्र में कहा है—

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरा।
आयार भावतेणे य, कुव्वइ देवकिब्बिसं॥

तप, रूप, वय, आचार-विचार आदि की चोरी करना, इनके विषय में मिथ्या भाषण करना भावचोरी है। जो भाव अपना न हो, दूसरे का हो, फिर भी उसे अपना बतलाना भी भाव चोरी है। जैसे-दूसरे की बनाई कविता को अपनी बनाई कहना, अथवा किसी की कविता के भाव लेकर उस पर अपना नाम दे देना। यह भाव चोरी है। भगवान् ने कहा है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, यह चारों सच्चे भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। अतएव इस विषय में बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

वह मुनि वास्तव में रूपवान् थे। जैसा उनका रूप था वैसे ही उनके गुण थे। रूप बनावटी है या वास्तविक, यह बात मुखाकृति देखते ही मालूम हो जाती है। बनावटी रूप छिपा नहीं रह सकता। मुनि का रूप देखते ही राजा विस्मय में पड़ गया और मन में कहने लगा—अहा, यह मुनि कैसे अतुल रूपवान् हैं! ऐसा रूपवान् तो मैंने कहीं नहीं देखा।

राजा श्रेणिक स्वयं कितना सुन्दर था, इसका वर्णन शास्त्र में आया है। एक बार वह सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करके अपनी रानी चेलना के साथ भगवान् महावीर के समवसरण में गया था। भगवान् के समवसरण में स्वभावतः वीतरागता का वातावरण रहता है। फिर भी श्रेणिक की सुन्दरता देखकर साध्वियाँ भी मुग्ध होकर सोचने लगीं—'यह पुरुष कितना सुन्दर है! हमारे तप और संयम के फलस्वरूप हमें ऐसे ही सुन्दर पुरुष की प्राप्ति हो।' इसी प्रकार रानी चेलना को देखकर साधुओं ने निदान किया था-'हमारे तप और संयम के फलस्वरूप हमें ऐसी सुन्दरी स्त्री प्राप्त हो।' कहने

का अभिप्राय यह है कि श्रेणिक राय अतिशय रूप सम्पन्न था।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। रूप स्त्रियों में अधिक होता है या पुरुषों में ? साहित्य में कवियों ने स्त्रियों के रूप का वर्णन करते हुए सभी पदार्थों को स्त्रियों के रूप के सामने तुच्छ बतलाया है। किन्तु भर्तृहरि इसे कामान्धता कह कर कहते हैं—

> स्तनौ मासग्रन्थी कनक कनककलशावित्युपमितौ,
> मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
> स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करवरकरस्पर्द्धि जघनम्,
> अहो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम्॥

जिसका जिस वस्तु पर राग होता है, वह उसकी प्रशंसा करता है। यह स्वाभाविक है। किन्तु भर्तृहरि वैरागी थे। वह कहते हैं—जो रूप अनेक प्रकार से निन्द्य है, उस स्त्री के रूप को कवि वृथा ही महत्त्व देते हैं। स्त्रियों के स्तन मांस के उभरे हुए पिण्ड के सिवाय और क्या हैं ? मगर कविजन उन्हें कनक-कलश कह कर महत्त्व प्रदान करते हैं। यह उनकी मोहान्धता ही है।

मोहान्ध मनुष्य खराब वस्तु को भी अच्छी कहता है। यूरोपीय कवि भी कहते हैं कि जब मनुष्य कामान्ध बन जाता है तब खराब चीज को भी अच्छी कहने और मानने लगता है।

भर्तृहरि आगे कहते हैं—स्त्रियों का मुख भी कफ, पित्त और श्लेष्म थूक के घर के अतिरिक्त और क्या है ? फिर भी कवि उनके मुख को चन्द्रमा की उपमा देते हैं। यही नहीं, स्त्रियों के मुख के सामने चन्द्रमा को भी तुच्छ बतलाते हैं। स्त्रियों को कवि हंसगामिनी और गजगामिनी कहते हैं। इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों

के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करके उनके रूप को बहुत महत्त्व दिया है।

इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वास्तव में स्त्रियों में ही रूप है ? पुरुषों में नहीं ? इस संबंध में कवियों का कथन है कि अन्यान्य बातों में पुरुष, स्त्रियों से बढ़ कर है, किन्तु रूप की दृष्टि से तो स्त्रियाँ ही पुरुषों से बढ़ी-चढ़ी हैं। स्त्रियों के रूप की ज्वाला में पुरुष पतंग की तरह अपने प्राण होम देता है। स्त्रियों के रूप की मोहिनी पुरुषों को पागल बना देती है।

सीता की रूप मोहिनी ने ही रावण का सकुटुम्ब विनाश किया। होल्कर राजा ने इसी रूपमोहिनी के फेर मे पड़कर राज्य का त्याग किया और दामोदरलालजी भी एक वेश्या के रूप के पीछे पायमाल हुए।

इस प्रकार कवियों के कथनानुसार स्त्रियों के रूप के कारण ही पुरुष उनके गुलाम बन रहे हैं। परन्तु वास्तव में हे यदि स्त्रियों में अधिक रूप है और पुरुषों मे कम, तो स्त्रियाँ रूप को बढ़ाने के लिए क्यों कृत्रिम साधनों का उपयोग करती हैं ? स्वाभाविक रूप से जिनके दांत अच्छे और मजबूत होंगे, वे लोग क्या नकली दांत लगवाएँगे ? जिनके नेत्र तेजस्वी हैं वे चश्मा क्यों चढ़ाएँगे ? जिनके प्राकृतिक साधनों में कमी होती है। वही लोग कृत्रिम साधनों की सहायता लेते हैं। इसी प्रकार अगर स्त्रियों में स्वाभाविक पूर्ण सौन्दर्य है तो फिर वे सौन्दर्यवर्द्धन के लिए कृत्रिम साधनों का उपयोग क्यों करती हैं ? जब उन्हें अपने में सौन्दर्य की न्यूनता दृष्टिगोचर होती है, तभी तो कृत्रिम साधनों द्वारा शृंगार सजाती हैं और इस प्रकार अपने रूप को बढ़ाने का

प्रयत्न करती है।

अभिप्राय यह है कि स्त्रियों में रूप की कमी है। इसीसे उन्हें कृत्रिम साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। इस दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि स्त्रियों में पुरुषों से अधिक रूप सौन्दर्य नहीं होता। प्राकृतिक रचना की दृष्टि से भी पुरुष, स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सुन्दर होते हैं। ऐसी स्थिति में केवल मोहान्धता के कारण ही पुरुष, स्त्रियों को अधिक रूपवती गिनते हैं।

मोर और ढेल की सुन्दरता देखी जाय तो मोर की सुन्दरता ही श्रेष्ठ प्रतीत होगी। मोर की गर्दन और पंखों जैसी ढेल की गर्दन और पंख सुन्दर नहीं होते और न मोर के रंग जैसी शोभायमान ही होती है। मुर्गा और मुर्गी को देखिए। मुर्गा की चोंच जैसी लाल होती है, वैसी सुन्दर और लाल चोंच मुर्गी की नहीं। गाय और सांड़ को देखा जाय तो गाय की अपेक्षा सांड अधिक सुन्दर प्रतीत होगा। जैसे सुन्दर सींग हिरण के होते हैं, वैसे हिरणी के नहीं होते। सिंह की गर्दन पर जैसी सुन्दर अयाल होती है, सिंहनी की गर्दन पर नहीं होती। हाथी के दांत जितने सुन्दर और लम्बे होते हैं, हथिनी के उतने सुन्दर और लम्बे नहीं होते।

इस प्रकार पशुओं पक्षियों में भी मादा की अपेक्षा नर ही अधिक सुन्दर होता है। तो फिर मनुष्य जाति में, जो सब प्राणियों में उत्कृष्ट गिनी जाती है, पुरुष कम और स्त्रियाँ अधिक सुन्दर कैसे हो सकती हैं? वास्तव में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक स्वरूपवान् होते हैं, किन्तु कामान्ध लोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक स्वरूपवान् मानते और कहते हैं।

जो महापुरुष पहले स्त्रियों में अधिक सौन्दर्य मानते थे, वे भी जब उनके जंजाल में से छूट गये तो कहने लगे—स्त्रियों में ऐसी क्या रूप सौन्दर्य है कि जिसकी कविजन प्रशंसा करते हैं। जिस प्रकार मछली अवसर मिलते ही जाल में से निकल भागती है, इसी प्रकार महापुरुष भी अवसर पाते ही स्त्रियों के जाल में से भाग छूटते हैं और छूट जाते हैं तो उन्हें स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि स्त्रियों में कोई रूप-सौन्दर्य नहीं है।

भर्तृहरि भी पहले पिंगला को ही अपना सर्वस्व समझते थे, पर जब पिंगला के जाल में से छूटे तब वह भी कहने लगे—स्त्रियों में वास्तव में रूपसौन्दर्य नहीं है। कामीजन उनमें सौन्दर्य की कल्पना करते हैं।

सुनते हैं, लैला, जिसके पीछे मजनू ने अपने प्राणों की भी परवाह नहीं की, देखने में बहुत कुरूप थी। फिर भी मोहान्धता के कारण मजनू को वह इतनी अधिक प्रिय लगी कि उसने उसके पीछे प्राणों का भी मोह नहीं किया। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो मोह के कारण ही स्त्रियों में अधिक रूप माना जाता है और जहाँ रूप-सौन्दर्य नहीं होता वहाँ रूप-सौन्दर्य की कल्पना करली जाती है।

मोहान्धता के कारण भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की स्त्रियों को सुन्दरी समझा जाता है। यूरोप में चमकीली आँखों वाली और भूरे रंग के बाल वाली युवती, चीन में चपटी नाक वाली युवती और सोमालीलैंड में मोटे ओष्ठ वाली युवती रूपवती और सुन्दरी मानी जाती है। भारत में ऐसी स्त्री में सौन्दर्य की

मोहांधता के कारण ही अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्त्रियों को रूपवती और सुन्दरी मान लिया जाता है।

यह सब मोह की लीला है, इसी मोहलीला के कारण राजा श्रेणिक को देखकर साध्वियों ने और रानी चेलना को देखकर साधुओं ने अपने तप-चरित्र को बेचकर रूप सौन्दर्य की इच्छा की थी। फिर तो सर्वज्ञ भगवान् ने सारा भेद जानकर और निदान का स्वरूप समझा कर तथा प्रायश्चित्त देकर उन्हें शुद्ध किया था और साधु साध्वियों ने भी प्रायश्चित्त द्वारा पाप की शुद्धि की थी, परन्तु कहने का आशय यह है कि जिस श्रेणिक का रूप देखकर साध्विया भी मोहांध बन गई थीं, वही श्रेणिक मुनि का अतुल रूप देखकर आश्चर्य मे पड गया।

श्रेणिक जैसा स्वरूपवान् राजा जिन मुनि के रूप की प्रशसा करने लगा, वह मुनि कितने स्वरूपवान होंगे? यह अनुमान करना कठिन नहीं है। मुनि ने रूपवृद्धि के लिये वस्त्राभूषण धारण नहीं किये थे, फिर भी उनका रूप कैसा अनुपम था? इस पर स्त्रियों और पुरुषों को समझना चाहिए कि शरीर की चमडी पर रहने वाला रूप सौन्दर्य ही सच्चा रूप सौन्दर्य नहीं है। सच्चा सौन्दर्य तो अन्तरात्मा मे रहता है। इसलिए चमडी के सौन्दर्य के भ्रम मे मत पडो। अन्तरतर का रूपसौन्दर्य ही मुख पर झलक उठता है।

मुनि वृक्ष के नीचे बैठे थे। उनके शरीर पर आभूषण नहीं थे, फिर भी वस्त्राभूषणों से सुशोभित सुरूपवान् राजा श्रेणिक ने मुनि में ऐसा क्या रूपसौन्दर्य देखा कि उसके आश्चर्य का पार न रहा?

इसका उत्तर यह है कि जो जिसका परीक्षक होता है, वही उसकी ठीक परीक्षा कर सकता है। हीरा की परीक्षा जौहरी ही कर सकता है। सुनते हैं—कोहीनूर हीरा, जो आज संसार का सर्वश्रेष्ठ हीरा गिना जाता है, एक किसान को, कृष्णा नदी के किनारे मिला था। वह किसान उस हीरे की कीमत न आंक सका। उसका मूल्यांकन जौहरी ने ही किया। इसी प्रकार रूप बाहर की चमड़ी पर नहीं, हृदय में रहता है। परन्तु उस रूप को तो हृदय का परीक्षक ही जान सकता है। राजा श्रेणिक हृदय का परीक्षक था। इसी कारण मुनि के हृदय का अतुल रूप उनकी मुखाकृति और आँखों में झलका देखकर वह चकित रह गया।

दयालु, सत्यवादी और सदाचारी की तथा हिंसक, असत्यवादी और दुराचारी की आँखो में क्या अन्तर होता है, यह बात तो आप भी जानते होंगे। कौन मनुष्य कैसा है, इसकी परीक्षा उसकी आँखें देख कर की जा सकती है। दयालु और सदाचारी के रूप पर देव भी मुग्ध हो जाते हैं। देव स्वयं रूपवान् और वैक्रिय रूप धारण करने वाले होते हैं। किन्तु वे भी सत्यवादी और सदाचारी मनुष्य के हृदय का रूप देखकर उस पर मुग्ध हो जाते हैं।

तुम भी हृदय के रूप को प्राप्त करो और कदाचित् न कर सको तो जिनमें हृदय का सुन्दर रूप है उनकी प्रशंसा करो। ऐसा करने से भी तुम्हारा कल्याण होगा।

उपमान और उपमेय के विषय में लोग प्रायः भूल कर बैठते हैं। स्त्रियों का रूप वर्णन करते हुए उपमा देने में जो भूलें हुई हैं,

उनके संबध मे कुछ विचार किया जा चुका है। पर राना श्रेणिक मुनि के रूप के विषय मे किसी प्रकार की भूल नहीं करता। वह अपने रूप के साथ मुनि के रूप की तुलना करता है। उसे मुनि का रूप अधिक जान पडता है। जब मुनि के रूप की तुलना मे किसी का रूप नहीं टिक सकता, तब वह कहता है- अहा, इन मुनि का रूप तो अतुल है।

जिसकी आखों पर काम विकार का चश्मा चढा होता है, वह कुरूपा स्त्री मे भी सुन्दरता ही देखता है। परन्तु मुनि को देखने मे राना की आँखों पर वह चश्मा नहीं चढा था। फिर भी राना को मुनि का रूप अतुल प्रतीत हुआ।

किसी प्यासे मनुष्य के आगे खुशबूदार तेल की सुन्दर शीशी रक्खी जाय और दूसरे मिट्टी के पात्र मे सादा पानी रक्खा जाय, तो वह दोनों मे से किसे पसन्द करेगा ? प्यास न लगी होने की हालत मे भले कोइ तेल ले ले, किन्तु जब प्यास से कठ सूख रहा होगा तब तो वह तेल के बदले पानी लेना ही पसन्द करेगा, फिर भले वह मिट्टी के बर्त्तन मे ही क्यों न हो। इसी प्रकार भूखे मनुष्य को रूखी-सूखी ज्वार या बाजरी की रोटी और दाल दी जाय और दूसरी ओर मिट्टी के बने सुदर केले, अनार आदि खिलौने दिये जाएँ, तो भूखा मनुष्य दोनों मे से किसे पसंद करेगा ? उत्तर स्पष्ट है। भूखा आदमी रोटी लेना चाहेगा और मूल्यवान् खिलौनों को भी तुच्छ समझेगा।

इसी प्रकार राना भी मुनि के रूप के सामने सब रूपों को तुच्छ मान रहा था। वह विचार करता है कि दूसरों के रूप से मेरी भूख-

प्यास नहीं बुझ सकती; परन्तु इन मुनि का रूप मेरी भूख-प्यास को बुझा सकता है। यह सोच कर राजा कह उठता है—अहो वर्ण ! अहो रूप।

वर्ण और रूप में क्या अन्तर है, यह देखना चाहिए। शरीर के सुन्दर आकार के अनुसार जिसका रंग सुन्दर होता है, उसे सुवर्ण कहते हैं। सोने को भी 'सुवर्ण' कहा जाता है, पर किस कारण ? अगर रंग के कारण ही सोना सुवर्ण कहलाता हो तो पीतल का रग भी सोने के समान ही पीला होता है। फिर उसे भी सुवर्ण क्यों नहीं कहा जाता ? असल बात यह है कि सोने में और भी विशेपता है। कहा जाता है कि सोना भले हजार वर्प तक धरती मे गड़ा रहे, लेकिन जब निकाला जाता है तो पहले के बराबर ही वजन में रहता है—कम नहीं होता। इसके सिवाय उस पर जंग भी नहीं चढ़ती। पीतल का रंग भी पीला होता है, परन्तु सोने में जो विशेपता है वह उसमें नहीं। पीतल पॉच-दस वर्प तक ही जमीन मे गड़ा रहे तो उस पर जंग चढ़ जाएगी और वह सड़ जाएगा। सोने में ऐसा चिकनापन होता है कि वह सड़ता नहीं। दूसरे वह वजन में भारी भी होता है तीसरे उसके परमाणुओं में ऐसा लोच होता है कि उसमें से पतले से पतले तार खींचे जा सकते हैं। इस प्रकार सोने में रंग के साथ कुछ ऐसी विशेपताएँ हैं। जिनके कारण वह सुवर्ण कहलाता है। किन्तु पीतल सुवर्ण नहीं कहलाता।

राजा श्रेणिक दूसरों के वर्ण के साथ मुनि के वर्ण की तुलना करके फिर कहता है—यह वर्ण तो अतुल-अनुपम है। अहा कैसा

असाधारण वर्ण है यह। दूसरे वर्णों पर तो देर सबेर जग चढ़ जाती है, परन्तु इनका वर्ण तो ऐसा है कि उस पर जग चढ़ ही नहीं सकती। इस प्रकार विचार करके राजा मुनि के वर्ण के-विषय में चकित हो गया।

कहा जा सकता है कि मुनि के रूप में दूसरों के रूप से क्या विशेषता थी ? इसका उत्तर यह है कि अन्य धातुओं की अपेक्षा सोने में जो विशेषता होती है, वही अन्य के रूप की अपेक्षा मुनि के रूप में होती है।

सोने की भांति मुनि को अगर पृथ्वी में दबा दिया जाय तो क्या उनके शरीर पर दाग न लगेगा ? क्या उनका प्राणान्त न हो जाएगा ? इसका उत्तर यह है कि जो नाथ है, ऐसे उन मुनि को जमीन में गाड़ देने की हिम्मत किसमे है ? सोना जड़ है, इस कारण वह गाड़ा जा सकता है, और आग में तपाकर पिघलाया जा सकता है, किन्तु मुनि को कौन गाड़ सकता है और कौन सोने की तरह पिघला सकता है ? उन्हें आग तपा नहीं सकती और पवन हिला नहीं सकती।

मुनि का ऐसा रूप क्यों था, यह आगे बतलाया जाएगा। यहाँ तो केवल यही कहना है कि उनका रूप अतुल अर्थात् अनुपम था। उसके सामने देवता का रूप भी तुच्छ था। देव का रूप तो कभी न कभी बिगड़ जाता है, किन्तु मुनि का रूप ऐसा था कि कभी बिगड़ ही न सके।

दूसरे लोग रूप के गुलाम होते हैं, पर मुनि रूप के नाथ थे। राजा श्रेणिक भी सोचता है 'हम लोग तो रूप के गुलाम हैं, पर

यह मुनि तो रूप के नाथ हैं। उनकी आँखों में अंजन नहीं आंजा गया है, शरीर पर कोई आभूषण नहीं है, उन्होंने सुन्दर वस्त्र भी नहीं पहने हैं, फिर भी कितना सुन्दर रूप है। इस रूप के सामने मेरा रूप तुच्छ है'।

तुमने अपने हाथ में हीरे की अंगूठी पहनी हो और दूसरे के हाथ में सोने की अंगूठी पहनी देखो तो तुम्हें कोई आश्चर्य नहीं होगा। अपनी अंगूठी को तुच्छ भी नहीं समझोगे। हाँ, अगर तुमने चांदी की अंगूठी पहनी हो और दूसरे ने हीरे की; तो तुम्हें अपनी अंगूठी तुच्छ प्रतीत होगी। तुम यही सोचोगे कि मेरे पास तो कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वह इसी के पास है। इस प्रकार राजा के जिस रूप को देखकर साध्वियाँ भी ललचा गई थीं, वही श्रेणिक मुनि के रूप के सामने अपने रूप को तुच्छ मानकर सोचने लगा—मेरा रूप विकारी है, किन्तु इन मुनि का द्रव्यरूप और भावरूप निर्विकारी है।

आज के लोग द्रव्य रूप के सामने भावरूप को भूल रहे हैं। मगर आखिर तो भावरूप की ही शरण में जाना पड़ता है। भाव-रूप के समक्ष द्रव्यरूप तुच्छ है। द्रव्यरूप हो और भावरूप न हो तो उसकी कोई कद्र नहीं होती।

यहाँ मैंने देखा कि एक ब्राह्मण मिट्टी के शंकर, पार्वती, नाग, गणेश आदि कलापूर्वक बनाता है, परन्तु दूसरे ही दिन उन्हें नदी में सिरा देता है। इसी प्रकार गणगौर भी कलापूर्वक सजाई जाती है और उन्हें सुन्दर वस्त्राभूषण भी पहनाये जाते हैं, किन्तु खेल समाप्त होते ही गणगौर को पानी में फेंक दिया जाता है। गणगौर

का तो रानी आदि भी सम्मान करती है, परन्तु उनके पास खड़ी जीवित स्त्री का उतना सम्मान नहीं किया जाता। तो क्या वह स्त्री गणगौर से भी गई बीती है? गणगौर को नदी में फेंक दिया जाता है, क्योंकि उसमें केवल द्रव्य-रूप ही है, भावरूप नहीं है। परन्तु उस स्त्री में कदाचित् द्रव्यरूप न हो पर भावरूप तो है ही। अतएव उसे कोई नदी में नहीं फेंक सकता। ऐसा करने का किसी को अधिकार नहीं। उसके पति को भी नहीं।

इस प्रकार द्रव्यरूप की अपेक्षा भावरूप ही उत्तम है, फिर भी आज के लोग भावरूप को भूलकर द्रव्यरूप में ही फँसे हुए हैं। इस भूल को दूर करके समझना चाहिए कि पौद्गलिक वस्तुएँ नाशवान् हैं। उनमें सौन्दर्य की कल्पना करना कल्पना मात्र ही है।

इतने विवेचन के बाद वर्ण और रूप के अन्तर को समझना आसान होगा। कुशल कारीगर सोने के जेवर का सुन्दर घाट बनाता है और फूहड़ कारीगर उसी सोने का भद्दा घाट बनाता है। द्रव्य एक सा होने पर भी कारीगरी के भेद से आकृति में भेद हो जाता है। इसी प्रकार रंग तो अच्छा हो पर आकृति अच्छी न हो—नाक कान आदि अवयव बेडौल हों—तो रंग क्या अच्छा लगेगा? रंग तभी अच्छा लगता है जब उसके साथ आकृति भी अच्छी हो। मुनि की आकृति भी अच्छी थी और रंग भी अच्छा था। यह बतलाने के लिए वर्ण के साथ रूप का भी उल्लेख किया गया है।

किसी की आँखें छोटी और किसी की बड़ी होती हैं। किसी की आँखों में लाल रेखा होती है, किसी की आँखों में नहीं होती।

इन दोनों प्रकार की आँखों में कुछ अन्तर माना जाता है या नहीं? यद्यपि दोनों प्रकार की आँखों को नापा जाय तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा, फिर भी दोनों में बड़ा अन्तर समझा जाता है।

सीता के स्वयंवर में बडे बड़े राजा भी आये थे और राम भी आये थे। नाप की दृष्टि से राम की और दूसरे राजाओं की आँखों में कोई खास अन्तर न पड़ता, फिर भी गहरा विचार करने से उनमें अवश्य अन्तर जान पड़ेगा। सीता को राम दूसरी दृष्टि से देखते थे और दूसरे राजा दूसरी दृष्टि से। दूसरे राजा सीता के रूप पर मुग्ध थे, राम नहीं। वे शान्ति से बैठे सोच रहे थे— सीता को गरज होगी तो वह आप ही आएगी।

जो अपूर्ण होता है वही ललचाता है; पूर्ण नहीं ललचाता। राम ललचाये नहीं। वे दूसरे राजाओं की तरह धनुर्वेध के लिए नहीं दौड़े। उन्होंने यह नहीं सोचा कि कोई दूसरा धनुर्वेध करके पहले ही सीता को न ले जाय। वह तो यही सोच रहे थे कि कोई सीता का वरण करले तो भी मेरी क्या हानि है? किसी की इच्छा पूरी हो जाय तो अच्छा ही है।

यह सोच कर राम मस्ती में बैठे रहे। किन्तु जब कोई भी राजा धनुर्वेध न कर सका, तब राजा जनक ने कहा—

वीरविहीन मही मै जानी।

अर्थात्—आज ऐसा जान पड़ता है कि यह पृथ्वी वीरों से खाली हो गई है। इस धराधाम पर एक भी वीर नहीं रहा।

राजा जनक का यह कथन सुनकर लक्ष्मण ने उपालभ के स्वर में राम से कहा—आप यहां मौजूद हैं और राजा जनक यह क्या

रह रहे हैं। आपकी आज्ञा हो तो मैं सारे ब्रह्माण्ड को उठा लाऊँ।

लक्ष्मण के यह कहने पर भी राम को उत्कंठा नहीं हुई। यही नहीं, उन्होंने लक्ष्मण को शान्त रहने का इशारा किया और स्वयं उठकर राजाओं से कहा—'किसी अन्य राजा को जोर आजमाना हो तो भले आजमावें। किसी के मन की मन में नहीं रह जानी चाहिए।' ऐसा कहने पर भी जब कोई राजा न उठा तो राम ने धनुष उठाया और लक्ष्यवेध किया। प्रतिज्ञा के अनुसार सीता ने राम के गले में वरमाला डाल दी।

इस प्रकार दूसरे राजाओं और राम की आँखों में अन्तर जान पड़ता है या नहीं? तुम भी राम जैसे स्वतंत्र और शुद्ध दृष्टि बनो तो इन्द्र भी तुम्हारा गुलाम बन जाएगा।

यहाँ तक 'अहो वण्णो, अहो रूवं' इन दोनों पदों का व्याख्यान किया गया। इससे आगे कहा गया है—'अहो अज्जस्स सोमया।' अर्थात् आर्य की सौम्यता भी कैसी अनूठी है। अतएव यहां 'आर्य और सौम्यता' के अर्थ पर विचार करना है।

आर्य शब्द के विषय में श्रीपन्नवणासूत्र में विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है। आर्य अनेक प्रकार के होते हैं। कोई कर्म आर्य होते हैं, कोई क्षेत्र आर्य होते हैं और कोई धर्म आर्य होते हैं। यह मुनि धर्म-आर्य थे। जो आर्य कर्म (वाणिज्य वगैरह) करते हैं, वे कर्मार्य कहलाते हैं और जो आर्यधर्म का पालन करते हैं, वे धर्मार्य कहे जाते हैं।

आज तो अनेक लोग अपने आपको आर्य कहते हैं, किन्तु

वास्तव में आर्य किसे कहते हैं, इस विषय में कहा है:—

आरात् सकलहेय धर्मेभ्यः—इत्यार्यः

अर्थात्—जो सब त्याग करने योग्य कामों से दूर रहता है, वह आर्य है।

प्रश्न यह है कि त्याग करने योग्य काम क्या है? गृहस्थों के लिए बारह व्रत बतलाये गये है। इन व्रतों को दूषित करने वाले जितने भी कार्य हैं, उनसे दूर रहने वाला गृहस्थ-आर्य है। यह बात गृहस्थ-आर्य के संबंध में हुई। परन्तु यहां मुनि को आर्य कहा है। अतः मुनि को कैसे कामों का त्याग करना चाहिए, यह यहाँ देखना है।

साधु को किन-किन कामों से दूर रहना चाहिए, यह विषय बहुत लम्बा है। यहाँ संक्षेप मे ही कहता हूं। साधु के लिए सर्वप्रथम कनक-कामिनी का वर्जन बतलाया गया है। कनक और कामिनी को अपनाना साधु के लिए त्याज्य और अयोग्य है। इस प्रकार जो साधु कनक और कामिनी से दूर रहता है, वह साधु-आर्य है।

कनक और कामिनी के लिए संसार में अनेक प्रकार के झगड़े होते हैं। इस युग में मुद्रादेवी ने—सोने चांदी और तांवे के सिक्कों ने कितनी अधिक अशान्ति फैला दी है। यह बात आपसे छिपी नहीं है।

आप लोग दिन-रात पैसे के लिए दौड़ धूप कर रहे हैं और पैसा संग्रह करके भी सुख का अनुभव नहीं कर रहे हैं। पैसे के लिए परस्पर युद्ध भी होता है और हजारों मनुष्यों के रुधिर की

नदियाँ बह जाती हैं। इसका बाह्य कारण कुछ भी क्यों न बतलाया जाय, परन्तु हृदय में रही हुई द्रव्य संग्रह की भावना ही मुख्य और असली कारण है। संसार मे जब से पैसे का आदर बढ़ा है, तभी से संसार की दुर्दशा भी बढ़ी है। इतिहास को देखने से भी यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

मैं अपने बचपन की बात कहता हू, उस समय देहाती लोग अन्न आदि देकर शाक, भाजी या मसाला ले जाते थे और वस्तु के बदले में वस्तु लेने की प्रथा प्रचलित थी। उस समय भी सिक्के का प्रचलन तो था, परन्तु आजकल की तरह अधिक नहीं। और प्राचीन काल म तो वस्तुओं का ही परस्पर विनिमय होता था। उस समय आज जैसी अशान्ति नहीं थी। परन्तु जब से सिक्के का चलन बढ़ा है, तब से झगड़े भी बढ़ गये हैं और परिणाम स्वरूप अशान्ति भी बढ़ गई है। सिक्के को संग्रह करने की वृत्ति ने अशान्ति का पोषण किया है। अब तो नोट चल पड़े हैं। इन नोटों के कारण संग्रह करने की वृत्ति को और भी अधिक वेग मिला है और अशान्ति को भी इतना ही वेग मिला है।

कहने का आशय यह है कि संसार म झगड़े बढ़ने के कारणों में कंचन भी एक प्रधान कारण है। साधु कंचन से दूर रहते हैं। सिक्के को अपने पास भी नहीं रखते। इसी कारण वे आर्य कहे गये हैं।

आप लोग सिक्का या कंचन का संग्रह तो करते हैं, परन्तु क्या उसे अन्न या शाक की तरह काम में ले सकते हैं ? पैसा खाने के काम में नहीं आता, फिर भी उस पर लोगों का कितना ममत्व

भाव है ?

साधुओं के लिए जैसे कंचन से दूर रहना आवश्यक है, उसी प्रकार कामिनी से भी दूर रहना आवश्यक - अनिवार्य है। कामिनी के कारण भी संसार में कम झगड़े नहीं हुए या वर्त्तमान में नहीं हो रहे हैं। कामिनी के महत्त्व के कारण अशान्ति रहती है, परन्तु आज तो पुरुषों के कारण भी अशान्ति हो रही है। पहले कन्याविक्रय के संबंध में बहुत सुना जाता था, अब वरविक्रय भी होने लगा है। लड़का थोड़ा पढ़-लिख गया कि उसकी कीमत बढ़ जाती है।

परन्तु साधु न अपने पास कंचन-कामिनी रखते हैं और न रखवाते ही हैं; क्योंकि रखना और रखाना एक ही बात है। ऐसे महापुरुष ही साधु आर्य कहलाते हैं।

आज अनेक कथित साधु भी ज्ञानप्रचार के नाम पर श्रावकों के पास पैसा रखवाते हैं और कहते हैं कि ज्ञानप्रचार की दलाली करने में हर्ज ही क्या है ? किन्तु किसी भी बहाने से जो पैसा रखता है या दूसरों के पास रखवाता है, वह साधु नहीं कहलाता। उसे धर्मार्थ भी नहीं कह सकते।

अभिप्राय यह है कि साधुओं के लिए कनक और कामिनी का स्वयं रखना और दूसरों के पास रखवाना—दोनों सर्वथा त्याज्य और अयोग्य है। राजा श्रेणिक ने जिन मुनि को देखा, वे इन दोनों से दूर थे; अतएव उन्हें आर्य कहा गया है।

अब सौम्यता के अर्थ पर विचार कीजिए, चन्द्रमा की ओर चाहे जितनी देर तक टकटकी लगाकर देखा जाय, मगर गर्मी नहीं

लगेगी। चन्द्र में गर्मी के पुद्गल ही नहीं हैं। वह तो रससागर कहलाता है। कहा जाता है कि समस्त फलों में रस उत्पन्न करने वाला चन्द्रमा ही है। सूर्य के प्रकाश को आतप और चन्द्र के प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

तो जैसे चन्द्रमा की ओर लगातार देखने पर भी आँखों में गर्मी का अनुभव नहीं होता, क्योंकि चन्द्रमा सौम्य है, उसी प्रकार वह मुनि भी सौम्य थे। उनके मुख से ऐसी सौम्यता टपकती थी कि उन्हें देखते रहने की इच्छा बनी ही रहती।

आधुनिक वैज्ञानिकों और खगोलशास्त्रियों का कथन है कि चन्द्र स्वतः प्रकाशमान नहीं है, किन्तु सूर्य के प्रकाश से प्रकाशमान है। किन्तु शास्त्र में कहा है कि वह स्वतः प्रकाशमान है और वह सूर्य से भिन्न है। चन्द्रमा में शीतलता का गुण है और सूर्य में उष्णता का गुण है। अतएव चन्द्र और सूर्य में कोई सबंध नहीं है, वरन् दोनों अलग अलग स्वयं प्रकाशमान हैं।

चन्द्रमा में गर्मी न होने के सबंध में खगोलवेत्ताओं का मत है कि जिस प्रकार काच पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, फिर भी उसमें गर्मी नहीं जान पड़ती। उसी प्रकार चन्द्रमा पर भी सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, फिर भी उसमें गर्मी नहीं होती। परन्तु गंभीरतापूर्वक विचार करने से ज्ञात होगा कि खगोलवेत्ताओं का यह मत भ्रमपूर्ण है। सूर्य की किरणों को किसी काच पर केन्द्रित किया जाय और उस काच के नीचे रूई रक्खी जाय तो रूई जलने लगेगी। अगर काच में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से गर्मी नहीं होती तो रूई कैसे जलने लगती है? इसी प्रकार अगर चन्द्र पर

सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से ही चन्द्र प्रकाशित है तो चन्द्र में भी काच की तरह गर्मी उत्पन्न होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अगर चन्द्र काच की तरह पारदर्शक है और सूर्य की किरणों से ही प्रकाशित है तो फिर दिन में चन्द्रमा कलाविहीन क्यों दिखाई देता है ?

एकादशी या द्वादशी के दिन, दिवस के समय चन्द्र और सूर्य दोनों साथ-साथ दीख पड़ते हैं, परन्तु चन्द्र निस्तेज दिखाई देता है। यदि सूर्य की किरणों के प्रतिबिम्ब से ही चन्द्र प्रकाशित होता है तो उस समय वह फीका क्यों दिखाई देता है ? उस समय तो वह अधिक प्रकाशमान दिखाई देना चाहिए, क्योंकि नजदीक होने से उसके ऊपर सूर्य की किरणें अधिक पड़ती हैं।

खगोलविज्ञ कहते हैं कि दिन के समय चन्द्र की किरणें सूर्य के प्रकाश में दब जाती हैं, इस कारण वह फीका दीख पड़ता है; अगर यही बात है तो फिर चन्द्र सूर्य के अधीन—आश्रित कैसे रहा ?

अगर चन्द्र मे सूर्य के द्वारा ही प्रकाश आता हो जैसे हीरे पर सूर्य की किरणें पड़ने से वह अधिक प्रकाश देता है, उसी प्रकार चन्द्र में भी दिन के समय प्रकाश होना चाहिए। क्योंकि उस समय चन्द्र सूर्य से अधिक निकट होता है, अतएव सूर्य की किरणें या सूर्य का प्रतिबिम्ब अधिक पड़ता है। मगर हम देखते हैं कि चन्द्रमा दिन के समय अधिक प्रकाशित नहीं होता।

इन बातों से स्पष्ट है कि चन्द्र में सूर्य का प्रकाश नहीं आता, किन्तु चन्द्र स्वतः प्रकाशमान है।

हाँ, तो जैसी सौम्यता चन्द्रमा में होती है, उसी प्रकार का

सौम्य भाव उन मुनि मे था। आर्य और सौम्य के बीच आपस में संबध है। जो आर्य होता है वही सौम्य होता है और जो आर्य नहीं होता वह सौम्य भी नहीं होता। जो अनार्य कार्यों से निलग रहता है, उसीमें सौम्यता का वास हो सकता है, अन्य मे नहीं। यह मुनि आर्य थे, अतएव सौम्य भी थे।

वृक्ष के फल फूल तथा पत्ते आदि देखकर अनुमान किया जा सकता है कि इस वृक्ष का मूल उत्तम है, यहा की भूमि अच्छी है, आदि उसी प्रकार श्रेणिक राजा उन मुनि की सौम्यता देख कर समझ गया कि यह महात्मा क्षमाशील, निर्लोभ, शात तथा इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं।

आज विज्ञान बहुत आगे बढ गया है। पहले न जानी हुई बहुत सी बातें भी आज लोग जानते हैं। पहले के अनेक गुण भी आज विकसित हुए हैं। अतएव इसकी सहायता से शास्त्र मे भी विकास करो और शास्त्रों की बातों को भी समझो तो आपको तथा दूसरों को बहुत लाभ हो सकता है। ऐसा करने से आपको शास्त्र पर विश्वास भी होगा और इस बात की प्रतीति भी होगी कि शास्त्र मे कैसे कैसे गूढ तत्त्वों का समावेश है। आप अधिक न समझ सकें तो अनुमान प्रमाण को ही समझ लें। इससे भी बहुत लाभ होगा। अगर आप अनुमान प्रमाण को समझ लेंगे तो तो आपके अनेक सशयों का समाधान आप ही आप हो जायगा।

आज बहुत से लोग कहते है कि हम पुनर्जन्म को कैसे मानें? इस प्रश्न के उत्तर मे हमारा कहना है कि अनुमान प्रमाण से मानो। विचार करो कि आप हजारों स्त्री-पुरुषों को देखते है, फिर

भी आपका मन किसी एक की तरफ ही क्यों आकर्षित होता है ? अथवा किसी को देखते ही मन में वैरभाव क्यों जाग उठता है ? किसी पर नजर पड़ते ही स्नेह की जागृति क्यों होती है ? इस पर अगर आप अनुमान करेंगे तो प्रतीत होगा कि इसका कारण पूर्व-भव के संस्कार ही हैं। भगवान् नेमीनाथ और राजीमती का नौ भवों का पूर्वसम्बंध देखते ही जागृत हो गया था। कहा जाता है कि लैला और मजनू का प्रेम पवित्र था। लैला सुन्दरी नहीं थी, फिर भी मजनू ने उस पर प्राण निछावर कर दिये। इसका कारण पूर्वभव का सम्बंध ही था।

इस प्रकार अनुमान द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। श्री-सूयगडांग सूत्र में पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए अनेक प्रमाण दिये हैं। उसमें कहा गया है कि बालक जन्म लेते ही स्तनपान करने लगता है। यह स्तनपान करना उसने कहाँ और किससे सीखा ? जन्मते ही वह स्तन चूसने लगता है; इससे यही अनुमान होता है कि उसने पहले ऐसा अभ्यास किया है।

आघात का प्रत्याघात होना संसार का नियम है। आपको कोई शब्द सुनाई दे और बोलने वाला दृष्टिगोचर न हो तो आप यही मानेंगे कि यह शब्द आगे से आया है। इसी प्रकार आज का जन्मा बालक भी जब स्तनपान करता है, निन्द्रा लेता है और हँसता है तो यही मानना पड़ता है कि उसका पहले का अभ्यास होना चाहिए।

होता है। 'मैं जल के बुलबुले की तरह अभी उत्पन्न होकर अभी नष्ट हो जाने वाला नहीं हूँ, किन्तु पहले भी था। न जाने कब से ससार मे भटक रहा हूँ। अतएव मुझे क्या करना चाहिए, जिससे दुर्गति से बच सकूं ?' इस प्रकार आप अपने कर्त्तव्य को समझने मे समर्थ होंगे।

अनुमान प्रमाण द्वारा आप यह भी जान सकेंगे कि 'आत्मा है और वह अमर है।' इस प्रकार आत्मा की शाश्वतता पर विश्वास होने से आत्मसुधार की चावी मिल जाती है। आत्मा का सुधार ही सब सुधारों का मूल है। आज के लोग आत्मा को भूल रहे हैं और यही सब बुराइयों का कारण है।

मदिरापान, मासभक्षण, वर कन्याविक्रय आदि दूषित प्रवृत्तियाँ आत्मा को भूल जाने के कारण ही बढ गई हैं। आत्मा को जागृत रक्खा जाय तो ऐसी प्रवृत्तियाँ नहीं बढ सकतीं। अतएव आत्मा को जागृत रख कर उसका सुधार करो। कहावत है--जिसका इहलोक सुधरा, उसका परलोक सुधरा। इस सम्बध मे पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज एक बात कहा करते थे--

एक वृद्ध स्त्री का मकान श्मशान के मार्ग में था। मुर्दे इसी मार्ग से श्मशान म ले जाये जाते थे। वह वृद्धा धर्मपरायणा थी और प्राय धर्म की बातें किया करती थी। कोई न कोई बातें करने के लिए उसके पास बैठा ही रहता। जब उसके मकान के सामने से कोई मुर्दा निकलता तो वह कहती --यह जीव स्वर्ग मे गया है।

सुनने वाले पूछते-- तुमने कैसे देख लिया कि वह स्वर्ग में गया है ?

वृद्धा कहती— मैंने देखा नहीं है; किन्तु उसकी श्मशानयात्रा में सम्मिलित लोग जो वातें करते जाते थे, वह मैंने सुनी हैं। उनसे मैंने अनुमान किया कि वह स्वर्ग में गया है। वे लोग उसकी प्रशंसा करते हुए कहते थे— 'बड़ा परोपकारी था, बड़ा ही भला-मानस था।' तो ऐसा परोपकारी अगर स्वर्ग में नहीं जाएगा तो क्या पापी जाएँगे ?

इस प्रकार जो संसार को भी अपने सत्कार्यों द्वारा स्वर्ग बना लेता है, और जिसकी लोग प्रशंसा करते हैं, उसी को स्वर्ग मिलता है। रामदास ने कहा है:—

जनी निन्दति सर्व सोडून दया वा,
जनी वन्दति सर्व भावे करावा।

अर्थात्— लोग जिस कार्य की निन्दा करते हैं, उस काम को छोड़ देना चाहिए और जिस कार्य की प्रशसा करते हैं, वह करना चाहिए। यही स्वर्ग का मार्ग है।

इस प्रकार जिनका यह लोक सुधरा है, उनका परलोक भी सुधरा है। अतएव अगर आप परलोक का सुधार करना चाहते हैं तो इस लोक की चिन्ता करो, इसे प्रशस्त बनाओ। निन्दनीय कामों का त्याग करो।

प्रश्न होता है— निन्दनीय काम किसे माना जाय ? बहुत बार लोग अच्छे कामों की भी निन्दा करने लगते हैं; तो क्या निन्दा के भय से उनका भी त्याग कर देना उचित है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानी कहते हैं— श्रेष्ठ जन जिन कामों की निन्दा करते हैं, वे त्याज्य हैं। किन्तु श्रेष्ठ जन जिन कार्यों की

प्रशंसा करते हैं, उनकी अगर लोग निन्दा करें तो भी उस निन्दा से डर कर उसका त्याग नहीं करना चाहिए।

आत्मा को पहचान लेने से भले बुरे कामों का विवेक उत्पन्न होगा। अतएव आत्मा को पहचान कर वैरभावना का परित्याग करो और प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीसम्बंध स्थापित करो। अन्तःकरण में सौम्य भाव को जागृत करो।

राजा मुनि की सौम्यता के विषय में जो कुछ कह रहा है, वह वास्तविकता को देख कर कह रहा है। चन्द्रमा की किरणों से और उसकी सौम्यता से कुमुदिनी विकसित हो सकती है और दूसरी वनस्पतियों को भी रस मिल सकता है, किन्तु वह आत्मा के विकास में समर्थ नहीं है। वह आत्मा में रस को भी उत्पन्न नहीं कर सकता। परन्तु उन आर्य मुनि की सौम्यता आत्मा का विकास करने वाली थी। आत्मा कैसा ही क्रोध, मान, माया या लोभ से युक्त हो, किन्तु आर्य मुनि का मुख देखते ही वह शान्त हो जाता था। राजा सोचता है— 'मेरे हृदय का त्रिविध ताप इन आर्य मुनि का सौम्यता देखते ही शान्त हो गया है। इसी कारण मैं उनकी सौम्यता की प्रशंसा करता हूँ और मानता हूँ कि संसार के समस्त शीतलता देने वाले पदार्थ भी इन मुनि की सौम्यता के सामने तुच्छ हैं।'

राजा श्रेणिक मुनि की सौम्यता की प्रशंसा करने के पश्चात उनकी क्षमा की प्रशंसा करता है— अहा, इन मुनि में कैसी क्षमा है।

कहा जा सकता है कि राजा ने मुनि की क्षमाशीलता को कैसे

जान लिया? परन्तु वृक्ष के मूल को न देखने पर भी वृक्ष को देखने से मूल का अनुमान हो सकता है, उसी प्रकार मुनि के मुखमंडल पर झलकने वाली सौम्यता को देखकर राजा ने अनुमान से जान लिया कि मुनि में आश्चर्यजनक क्षमाभाव है। विचक्षण राजा के लिए यह समझना कठिन नहीं था।

क्षमा किसे कहते हैं? इस प्रश्न पर विचार करना भी यहाँ प्रासंगिक है। आज कई लोग कायरता को क्षमा समझ बैठे हैं परन्तु यह उनकी भूल है। क्षमा का वास्तविक स्वरूप कुछ दूसरा ही है। एक उदाहरण लीजिए:—

कल्पना कीजिए, तीन मित्र घूमने जा रहे हैं। रास्ते में किसी चौथे आदमी ने उन्हें गालियाँ दीं। उन तीन मित्रों में से एक विचार करने लगा— 'मैंने इसका कुछ बिगाड़ा नहीं है, फिर क्यों यह गालियाँ दे रहा है? क्या करूँ, अगर मुझमें शक्ति होती तो इसकी अक्ल दुरुस्त कर देता। मगर यह मुझसे अधिक बलवान् है। कुछ कहूंगा तो उलटी मार खानी पड़ेगी।' इस प्रकार विचार कर वह चुप रहा। पर उनके हृदय में गाली देने वाले को दंड देने की भावना है और वह मन ही मन उसे कोस रहा है। उस पर क्रोध कर रहा है।

दूसरे मित्र ने गाली देने वाले का सामना किया। 'क्यों निष्कारण गालियाँ दे रहा है?' कह कर उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया और उसे दबाया।

तीसरा मित्र विचार करता है— यह मुझे दुष्ट, वेवकूफ, नालायक कह कर गालियाँ देता है, तो मुझमें कोई दुष्टता या नालायकी

तो नहीं आ गई है ? अगर वास्तव में मुझमें दुष्टता एवं नालायकी आ गई है तो मुझे इस पर क्रोध क्यों करना चाहिए ? प्रत्युत इसका आभार मानकर मुझे अपनी दुष्टता को दूर करना चाहिए। और यदि मुझमें वास्तव में दुष्टता या नालायकी नहीं है तो मैं क्यों मानूँ कि यह मुझे गालियाँ दे रहा है। मुझे नाराज होने की भी क्या आवश्यकता है ? मुझे विश्वास है कि मैं दुष्ट नहीं हूँ, नालायक भी नहीं हू, तो फिर दूसरे किसी के कहने से मैं क्यों क्रोध करूँ ?

इस प्रकार एक आदमी ने अपनी असमर्थता जान कर गालियाँ सहन कीं और वैर का बदला लेने की वृत्ति होने पर भी चुप्पी धारण की। दूसरे ने अपनी शक्ति का परिचय देकर उसे दबाया और तीसरे ने यह माना ही नहीं कि यह मुझे गालियाँ दे रहा है।

यों तो पहले आदमी ने भी गाली देने वाले से कुछ नहीं कहा, फिर उसे क्षमाशील क्यों न मान लिया जाय ? परन्तु उसे क्षमा शील इस कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके हृदय में वैर लेने की वृत्ति है। अपनी अशक्ति के कारण ही वह चुप रहा है, क्षमाभावना के कारण नहीं।

आज के कई लोग इस प्रकार की कायरता अशक्ति को ही क्षमा मान बैठे हैं, पर शास्त्रकार कहते हैं— इस प्रकार की क्षमा तो तमोगुणी क्षमा है। सच्ची सतोगुणी क्षमा तो तीसरे मित्र में है, जिसने शक्ति होने पर भी विचारपूर्वक क्षमा धारण की है।

राजा ने मुनि को देखते ही समझ लिया कि यह मुनि क्षमा

शील हैं। शाक-भाजी बेचने वाला कूंजड़ा हीरा-माणिक का मूल्यांकन नहीं कर सकता, उसी प्रकार जो गुणों का परीक्षक नहीं होता, वह मुखाकृति को देखकर नहीं जान सकता कि इन मुनि में क्षमा-भाव है। परन्तु राजा तो गुणों का परीक्षक था। वह मुनि को देखते ही उनके क्षमाभाव को ताड़ गया। कई लोग रुपये को पत्थर पर बजा उसकी परीक्षा करते हैं और कई ऐसे कुशल होते हैं कि हाथ में लेते ही जान जाते हैं कि रुपया खोटा है या खरा है?

राजा यह भी समझ गया कि यह मुनि निर्लोभ और कामभोगों से विरक्त हैं। मुनि की कामभोगों से विरक्ति को भी राजा ने आश्चर्यजनक समझा। इसका कारण यह है कि वह भोगों का त्याग करना बहुत कठिन मानता था। जैसे धन आपको बहुत प्रिय है, अतएव उसका त्याग करना आपको अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में आप किसी को लाखों का त्याग करते देखें तो आपको आश्चर्य होता है। यही बात राजा के विषय में भी समझनी चाहिए।

राजा में भी, कम से कम स्वार्थ के लिए ही सही, थोड़े बहुत अंश में क्षमा और निर्लोभता के गुण विद्यमान होंगे, परन्तु जब मुनि में निःस्वार्थ क्षमा और निर्लोभता के गुण देखे तो वह अपने गुणों को भूल गया और कहने लगा—'अहा, यह मुनि तो साक्षात् क्षमा और निर्लोभता की मूर्ति हैं? और मुझमे तो कुछ भी नहीं है।'

जैसे राजा ने मुनि के साथ सम्बन्ध स्थापित किया, वैसे ही आप भी गुणी जनों के साथ सम्बन्ध जोड़ो। कदाचित् आप गुणों

को न अपना सकें तो जिन्होंने अपनाया है, उनकी प्रशंसा करो। यह भी कल्याण का मार्ग है। गाड़ी को खींच ले जाने की शक्ति तो केवल एंजिन में ही होती है, दूसरे डिब्बों में नहीं, फिर भी जो डिब्बे एंजिन के साथ जुड़े रहते हैं, वे भी उसके साथ अग्रसर होते जाते हैं। आप महात्माओं के साथ सम्बन्ध जोड़ लेंगे तो उनके साथ आपका भी कल्याण हो जाएगा।

राजा क्षत्रिय था। वह वणिकों की तरह केवल मौखिक प्रशंसा करके ही रह जाने वाला नहीं था। अतएव उसने विचार किया— मैंने इस आर्य मुनि में गुण देखे हैं। तो नमस्कार आदि करके विवेक प्रदर्शन भी करना चाहिए।

वास्तव में नमस्कार वही सच्चा है जो गुण जानने के पश्चात् किया जाता है। केवल बाहर का रूप-रङ्ग ही नहीं देखना चाहिए, वरन् गुण देखना चाहिए। राजा ने पहले मुनि के गुणों पर ही विचार किया, क्योंकि गुणों को जाने बिना नमस्कार करना भी उचित नहीं। राजा ने पहले मुनि के गुण देखे, फिर गुणों की प्रशंसा की और फिर उन्हें नमस्कार करने का विचार किया। इस प्रकार वह प्रशंसा करके ही नहीं रह गया, उसने नमस्कार भी किया। आप भी कोरी बातें करके ही न रह जाएँ, परन्तु कार्य करके बताएँ। काम न करना और भाषण किये जाना भी एक प्रकार का बकवाद है।

राजा ने मुनि को देखा और उनके गुणों का परिचय पाया तो सोचने लगा—इन मुनि के सामने मैं किसी बिसात में नहीं। वह अपने अहंकार को भूल गया। अहंकार को छोड़ कर प्रकट रूप से

मुनि को वंदन नमस्कार करने के लिए उद्यत हुआ। शास्त्रकार आगे कहते हैं—

तस्स पाए उ वंदित्ता, काऊण य पयाहिणं।
नाइदूरमणासन्ने, पंजली पडिपुच्छई ॥७॥

अर्थ—राजा श्रेणिक मुनि के चरणों को वंदन करके, उनकी प्रदक्षिणा करके, न बहुत दूर और न बहुत पास बैठ कर, दोनों हाथ जोड़ कर मुनि से पूछने लगा।

गणधर देव ने अभी तक राजा के मानसिक भावों का वर्णन किया। अब वह राजा के प्रकट भावों का वर्णन करते हैं।

श्रेणिक क्षत्रिय था। क्षत्रियों का हृदय वास्तविकता को जान लेने के अनन्तर विनम्र बन जाता है, साधारणतया क्षत्रिय, सिर पर सङ्कट आ जाने पर भी मस्तक नहीं झुकाते हैं, किन्तु गुणों का परिचय पा लेने के पश्चात् मस्तक झुकाने में संकोच भी नहीं करते। राणा प्रताप ने अकबर के सामने सिर नहीं झुकाया तो अन्त तक नहीं झुकाया। सुना जाता है, अकबर ने यहां तक कहलाया कि अगर आप मुझे मस्तक झुका दें तो मै अपने राज्य का छठा भाग आपको दे दूं; किन्तु स्वाभिमान की रक्षा के लिए राणा प्रताप ने अकबर के इस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया। वह जङ्गलों में अपने दिन काटने लगे, भांति-भांति के कष्ट सहन करने लगे, परंतु अन्त तक उन्होंने सिर नहीं झुकाया। इस प्रकार क्षत्रिय कष्ट सहन कर लेते हैं, पर मस्तक नहीं नमाते। हां, किसी में गुण देखते हैं तो मस्तक झुकाने में संकोच भी नहीं करते।

राजा श्रेणिक मुनि के गुणों को देखकर सवारी से नीचे उतरा,

उनके पास गया और उनके चरणों में अपना मस्तक नमाया। यही नहीं, उसने मुनि की प्रदक्षिणा भी की।

प्रदक्षिणा का अर्थ आजकल दूसरा किया जाता है परन्तु मैं उससे भिन्न अर्थ करता हूँ। मेरी कोई भूल बतलादे तो उसे मानने मे मुझे सकोच नहीं होगा। प्रणाली के अनुसार प्रदक्षिणा का अर्थ अलग है और शास्त्र की बात अलग है। शास्त्र मे जहा कहीं वर्णन आता है, पहले चरणवन्दन करने का वर्णन आता है। यथा–

आलोय पणामं करइ

—भगवती सूत्र

अर्थात्—जहाँ से दृष्टि पड़ी वहीं से वन्दना की, और फिर पास मे आकर प्रदक्षिणा की। ऐसा शास्त्रों मे वर्णन आता है। वास्तव में प्रदक्षिणा का अर्थ वन्दनीय के आजूबाजू चारों ओर आवर्त्तन करना है। जिस स्थान से घूमना आरम्भ किया, चारों ओर घूम कर उसी जगह आ जाना एक प्रदक्षिणा है। इस प्रकार आवर्त्तन और प्रदक्षिणा मे अन्तर है। हाथ जोड कर एक कान से दूसरे कान तक फिराना आवर्त्तन कहलाता है और प्रदक्षिणा वन्दनीय के चारों ओर घूम कर उनके गुणों का वरण करना है। आवर्त्तन का वर्णन समवायागसूत्र में किया गया है। मुनि को वन्दन करते समय 'आयाहिण पयाहिण' का पाठ पढा जाता है, उसमें पयाहिण का अर्थ प्रदक्षिणा करना है।

विवाह के समय वर वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं। पति के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करने के पश्चात् सभी आर्य बाला प्राण समर्पित कर सकती है, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा से तनिक भी

विमुख नहीं होती। प्रदक्षिणा तो आपने भी की होगी और प्रतिज्ञा भी की होगी। तो फिर जो कर्त्तव्य स्त्रियों का माना जाता है, वह क्या पुरुषों का नहीं है ? सदाचारिणी महिला प्रदक्षिणा करने के पश्चात् अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को भाई या पिता के समान मानती है। इसी प्रकार सदाचारी पुरुष अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य समस्त स्त्रियों को अपनी माता या बहिन के समान मानता है।

यह लौकिक व्यवहार की बात हुई। यहां श्रेणिक राजा ने मुनि को प्रदक्षिणा की है। इसका अभिप्राय क्या है, यह सोचना है। मुनि को प्रदक्षिणा करने का अर्थ मुनि के गुणों को अपनाना है।

राजा ने मुनि के गुणों की प्रशंसा तो पहले ही की थी, परन्तु व्यवहार में मुनि की प्रदक्षिणा करके उनके गुणों को स्वीकार किया और उन्हें अपना गुरू अंगीकार किया। इस प्रकार उनके गुणों को अपनाकर, हाथ जोड़कर बहुत दूर भी नहीं और बहुत पास भी नहीं—समुचित दूरी पर मुनि के समक्ष बैठ गया। बहुत सन्निकट बैठने से मुनि की आसातना हो सकती है और बहुत दूर बैठने से बात बराबर सुनाई नहीं पड़ती। राजा ने इस प्रकार बैठकर मुनि से प्रश्न किया।

तरुणो सि अज्जो पव्वइओ, भोग कालम्मि संजया।
उवट्ठिओ सि सामण्णे, एयमट्ठं सुणेमि ता ॥ ८ ॥

अर्थः—हे आर्य ! मै यह सुनने का इच्छुक हूँ कि आप भोग के योग्य इस तरुणावस्था में संयम में क्यों तत्पर हुए हैं ?

व्याख्यान —राजा अनेक कला कौशल, विज्ञान दर्शन आदि के तत्त्वों का जानकार था। वह चाहता तो इन विषयों से सबध रखने वाला प्रश्न पूछ सकता था। परन्तु उसने वैसा कोई प्रश्न न पूछ कर एक सीधासादा प्रश्न किया। प्रश्न पूछने से पहले राजा ने कहा—आपकी स्वीकृति हो तो मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। जब मुनि ने कह दिया कि जो चाहो, पूछ सकते हो, तब राजा ने मुनि से प्रश्न किया—आपने भर जवानी मे क्यों दीक्षा धारण की ? इस तरुणावस्था मे तो भोग भोगना प्रिय लगता है। फिर आप विरक्त होकर सयम का पालन करने के हेतु कैसे निकल पडे ? आप वृद्ध होते तो सयम को धारण करना उचित कहलाता। अगर आपकी तरह सभी तरुण साधु बन जाए तो गजब हो जाय। मैं सब से यह प्रश्न नहीं पूछ सकता, किन्तु जो मेरे सामने युवावस्था मे सयम लिए बैठे हैं, उनसे उसका कारण जानना मेरा कर्त्तव्य है। मैं सब चोरियों को तो रोक नहीं सकता, किन्तु आँखों के सामने होने वाली चोरी को रोकना मेरा कर्त्तव्य है। अपने कर्त्तव्य का पालन न करू तो मैं राजा कैसा ? अनुचित और अशोभास्पद कार्य को रोकना मेरा कर्त्तव्य है। तरुणावस्था में संयम लेना अशोभास्पद है। इसी कारण मैं आपसे इसका कारण जानना चाहता हूँ। किसी दुःख से उद्विग्न होकर आप साधु बने हों तो निःसकोच कह दीजिए, जिससे मैं आपका दुःख दूर करने में सहायक हो सकू।

श्रेणिक की तरह आज का युवकवर्ग भी ऐसी शंका करता है। मानो इस प्रकार कि शंका का निरसन करने के लिए ही इस

अध्ययन की रचना की गई है। मन में किसी प्रकार की शंका हो तो, राजा की तरह नम्रतापूर्वक प्रश्न, करने पर उसका समाधान भी हो सकता है, परन्तु यदि कोई पण्डितम्मन्य बन जाय और यह समझ बैठे कि मैं, सब कुछ जानता हूं, तो फिर शंका का समाधान कैसे हो सकता है ?

आज के युवकों की जो मनोदशा है, उसी मनोदशा को राजा प्रकट कर रहा है। शास्त्र त्रिकालदर्शी है और इसी कारण आधुनिक युवकों की शंका का समाधान इस अध्ययन में किया गया है।

आज अनेक लोगों का ख्याल है कि इस संसार में जो कुछ भी है, भोग भोगने के लिए ही है, किन्तु धर्म ने भोग भोगने में बाधा डाली है। शास्त्र में ऐसे कथन का उत्तर दिया गया है। शास्त्र स्वयं मुँह से नहीं बोलता है, अतएव शास्त्र के ज्ञाताओं को सतर्क होकर शास्त्र का प्ररूपण करना चाहिए। मुझमें तो इतनी शक्ति नहीं है कि मैं ज्ञानियों द्वारा कथित प्रत्येक बात का निरूपण कर सकूं, परन्तु यह संसार भोगोपभोग के लिए ही नहीं है, यह बात मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हूं।

संसार मे दो प्रकार के लोग हैं—वस्तु का सदुपयोग करने वाले और दुरुपयोग करने वाले। आपको यह मनुष्य शरीर मिला है। परन्तु कितनेक लोग मानव शरीर प्राप्त करके सोचते हैं—अन्य योनियों में जो सुख-सामग्री नहीं मिल सकती, वह मनुष्य योनि मे मिली है। अतएव मानव-योनि पाकर अधिक से अधिक भोग भोग लेना चाहिए! परन्तु ज्ञानियों का मन्तव्य है कि भोग भोगने में मनुष्ययोनि पाने की

सार्थकता नहीं है। भोग भोगने से पाशविक जीवन उन्नत बनता है, किन्तु मानवीय जीवन या मनुष्य तन का सदुपयोग नहीं होता। पशुओं की अपेक्षा अधिक और विशिष्ट भोग भोगने के कारण ही किसी को मनुष्य मान लेना ठीक नहीं है। भोगों का उपभोग कर लेना मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है। भोग तो पशु भी भोगते ही हैं। कहा भी है —

> आहारनिद्राभयमैथुनञ्च,
> सामान्यमेतत्पशुभिनराणाम्।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
> धर्मेण हीना पशुभि समाना॥
>
> —हितोपदेश

ज्ञानी जन कहते हैं कि तुम भोग भोग कर मनुष्य जन्म को सार्थक हुआ समझते हो, परन्तु पशु क्या भोग नहीं भोग सकते? तुम भले उत्तम खानपान खाते पीते हो, परन्तु उसे अगर पशुओं के सामने रक्खो तो क्या वे नहीं खाएँगे पीएँगे? यह बात जुदा है कि पशुओं को ऐसा खाना पीना नहीं मिलता है और न मिलने के कारण वे नहीं खाते पीते हैं, किन्तु यदि उन्हें मिल जाय तो क्या वे खाएँगे-पीएँगे नहीं? अच्छा भोजन न मिलने के कारण अनेक मनुष्य ऐसा खाते हैं जैसा पशु भी नहीं खाते।

आप रेशम या जरी के कपड़े पहनते हैं और आभूषण धारण करते हैं, किन्तु पशुओं को अगर वह वस्त्राभूषण पहनाये जाएँ तो क्या वे नहीं पहन सकते? तुम महल में रहते हो और सवारी पर चलते हो किन्तु पशुओं को यदि महल में रक्खा जाय तो क्या वे

नहीं रह सकते ? सवारी में नहीं बैठ सकते ? सुना था—किसी लॉर्ड ने अपने कुत्ता-कुत्तिया का विवाह किया था और उसमें लाखों खर्च किये थे। परन्तु इससे क्या कुत्ता मनुष्य हो गया ? नहीं, तो आप भोग भोगने में मनुष्यजन्म को सार्थक कैसे मान सकते हो ?

जब पशु भी आपकी तरह खा-पी सकते हैं और भोगोपभोग कर सकते हैं तो फिर उनमें और आपमें क्या अन्तर रहा ? अभिप्राय यह है कि भोग भोगने के कारण मनुष्य जन्म को सार्थक नहीं कह सकते, हां धर्म ही मनुष्य की विशेषता है और धर्म की आराधना करने में ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है। इसी से कहा है—

धर्मो हि तेषामधिको विशेषः,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

—हितोपदेश.

पशुओं को अगर धर्म का आचरण करने के लिए कहा जाय तो वे धर्म का आचरण नहीं कर सकते। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य वगैरह गुणों का पालन मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं। अतएव इन गुणों का पालन करने से ही मनुष्य जन्म सार्थक हो सकता है। इसलिए भोगोपभोग में मनुष्य जीवन की सार्थकता न मानो, वरन् अहिंसा सत्य आदि सद्गुणों के पालन में सार्थकता मानो।

राजा श्रेणिक के प्रश्न से ऐसा झलकता है कि वह संयम को ठीक नहीं समझता। आज भी अनेक लोग संयम को अच्छा नहीं मानते। वे साधुओं की निन्दा करते हैं और कहते हैं कि साधु समाज के ऊपर भार हैं।

इसका एक कारण तो यह है कि कई लोग संयम धारण करके और साधु वेश में रह कर भी अनुचित कार्य करते हैं। ऐसे भ्रष्ट लोगों की बदौलत संयम का सम्यक् प्रकार से पालन करने वालों की भी निन्दा होती है। फिर भी साधु मात्र की निन्दा करना योग्य नहीं है। जो साधु होकर भी खराब काम करते हैं, वे वास्तव में साधु ही नहीं हैं ? शास्त्रीय शब्द में उन्हें 'पापश्रमण' कहते हैं। ऐसे पाप श्रमणों के कारण सच्चे साधुओं की निन्दा क्यों होनी चाहिए ?

कहा जा सकता है कि हमें कैसे पता चले कि कौन सच्चा साधु है और कौन पापश्रमण है ? इसका उत्तर यह है कि आपके भीतर जो विवेक बुद्धि है, उसका उपयोग करोगे तो भले बुरे साधु का भेद समझ लेना कठिन नहीं है।

दूध और पानी की तरह जो सत्य और असत्य का का निर्णय करता है वह विवेक है। विवेक का उपयोग करने से खरे-खोटे साधु की परीक्षा हो जाएगी। परीक्षा किये बिना यह कह देना कि सभी साधु खोटे होते हैं और साधुओं की अपेक्षा गृहस्थ अच्छे होते हैं, अनुचित है। सच्चे साधु की निन्दा करना सद्गुणों की निन्दा करने के समान है। जो साधु की निन्दा करता है, वह क्या अहिंसा की निन्दा नहीं करता ? जो हिंसा करता है, असत्य बोलता है चोरी करता है, मैथुन सेवन करता है और द्रव्य संग्रह करता है, वह साधु है अथवा जो अहिंसा का पालन करता है सत्य बोलता है, चोरी नहीं करता, ब्रह्मचर्य का पालन करता और जो अपने पास फूटी कौड़ी भी नहीं रखता, वह साधु है ?

सच्चा साधु तो पंचमहाव्रतधारी होता है। ऐसी स्थिति में जो साधु की निन्दा करता है, वह क्या अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की निन्दा नहीं करता ?

कोई कह सकता है कि कितने ही साधु हिंसा आदि पापों का सेवन करते हैं, किन्तु जो साधु के अयोग्य असदाचरण करते हैं वे क्या साधु हैं ? अगर नहीं तो ऐसे असाधुओं के कारण साधुओं की निन्दा क्यों करते हो ? आप कह सकते हैं कि असाधु खराब होते हैं, पर साधुओं की निन्दा क्यों की जाय ? आजकल कलचर - बनावटी रत्न भी निकले हैं। क्या उनके कारण समस्त रत्नों को खोटा कह देना योग्य कहा जा सकता है ?

मै साधुओं से भी कहता हूँ कि–'महात्माओ ! जागृत हो जाओ। आजकल धर्म की निन्दा हो रही है और इस निन्दा का भार आपके ऊपर आ पड़ा है। अतः सावधान हो जाओ और विचार करो कि आप क्या कर रहे हैं ?' इस प्रकार मैं साधुओं से कहता हूँ, परन्तु साथ ही आपसे भी कहना चाहता हूँ कि आप असाधुओं के कारण साधुओं की जो निन्दा करते हैं, इस विषय में विचार करो तथा साधु एवं असाधु को पहचानने का विवेक प्राप्त करो।

राजा श्रेणिक तो मुनि को साधु ही समझता था। अतएव उनके गुणों की प्रशंसा करके और उन्हें नमस्कार करके उसने प्रश्न किया कि आपने इस यौवन--अवस्था में संयम क्यों धारण किया ?

कोई और होता तो राजा का यह प्रश्न सुनकर कह देता चलो, जाओ, साधुओं के काम मे पड़ने की तुझे आवश्यकता ही क्या है ? तेरा काम राज्य चलाना है। तू साधुओं की बातों को क्या समझे ?

मगर अनाथी मुनि ने राजा का प्रश्न सुनकर उसका तिरस्कार नहीं किया। उन्होंने शांति के साथ उत्तर दिया। मुनिराज बोले -

अणाहो मि महाराय, णाहो मज्झण विज्जइ।
अणुकंपग सुहिं वावि, किंचि नाभिसमेमहं ॥ ६ ॥

अर्थ -- महाराज। मैं अनाथ था। मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं था - पालन करने वाला भी नहीं था। इस कारण मैंने संयम धारण कर लिया।

व्याख्यान -- पहले यह देख लेना चाहिये कि नाथ किसे कहते हैं। योग और क्षेम करने वाले को नाथ कहते हैं। अप्राप्त वस्तु का प्राप्त होना योग कहलाता है और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करना क्षेम है। इस प्रकार जो प्राप्त न हुई वस्तु को प्राप्त करावे और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करे उसे नाथ समझना चाहिये।

अनाथी मुनि कहते हैं - मेरा कोई नाथ नहीं था। कोई मेरी रक्षा करने वाला नहीं था। धर्म समझ कर भी कोई मेरी रक्षा करने वाला नहीं था। मेरा कोई मित्र भी ऐसा नहीं था जो संकट के समय काम आता। इसलिए मैं साधु बन गया।

मुनि के इस उत्तर से साधारणतया ऐसा खयाल होता है कि कोई भटकने वाला आदमी रहा होगा। उसे खाने पीने और सोने बैठने की सुविधा न होगी। कोई पूछताछ करने वाला भी न होगा। इस कारण साधु बन गया।

नारि मुई घर सम्पति नासी,
मूंड मुड़ाय भये सन्यासी।

इस कथन के अनुसार औरत मर गई होगी और सम्पत्ति नष्ट हो गई होगी और इसी से सिर मुड़ा कर साधु बन गये होंगे।

राजा को भी मुनि का उत्तर सुनकर आश्चर्य हुआ होगा और उसके मन में आया होगा-- अभी ऐसा कलियुग का समय नहीं आया कि कोई दयालु अनाथ की रक्षा न करे। आज आप को कोई ऐसा अनाथ दिखाई देता है तो आप उसे अनाथालय में भेज देते हैं। ऐसे कलियुग के समय में भी जब अनाथों को सुविधा सहायता मिल जाती है, तो उस समय तो चौथा आरा था। उस समय अनाथों की ऐसी दुर्दशा कैसे हो सकती है ? इस कारण राजा को मुनि का उत्तर सुनकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

इस गाथा के चौथे चरण में पाठान्तर है। कहीं—कहीं 'किंचि नाइ सुमेमहं' ऐसा पाठ है। इस पाठ में आया 'नाइ' शब्द का अर्थ राजा के साथ संबंध रखता है। उसका अर्थ होता है— हे राजन् ? तू ऐसा समझ 'नाभि' ऐसा पाठ हो तो उसका संबंध मुनि के साथ है। जिसका अभिप्राय होता है कि मुझ पर कोई जरा भी अनुकम्पा करने वाला नहीं था।

हाँ, तो मुनि का उत्तर सुनकर राजा आश्चर्य में पड़ गया। वह सोचने लगा—यह ऐसी उत्तम ऋद्धि से सम्पन्न हैं फिर भी कहते हैं कि मैं अनाथ हूँ और अनाथ होने से साधु बन गया हूँ। इनका यह कथन ऐसा ही जान पड़ता है जैसे चिन्तामणि कहे कि मुझे कोई रखता नहीं, कल्पवृक्ष कहे कि मेरा कोई आदर नहीं करता और कामधेनु कहे कि मुझे कोई खड़ा भी नहीं रहने देता। जैसे यह असंभव , उसी प्रकार मुनि का यह कथन भी जान पड़ता है।

जिनके शरीर में शंख, चक्र, पद्म आदि शुभ लक्षण विद्यमान हैं, उनका कोई नाथ न हो, कोई रक्षक न हो, कोई मित्र न हो, यह कैसे संभव हो सकता है।

कवि कहते हैं—कदाचित् विधाता हंस से नाराज हो जाय तो हंस के रहने का कमलवन उजाड़ सकता है, या उसके मानसरोवर में रहने पर प्रतिबंध लगा सकता है, परन्तु उसकी चोंच में दूध और पानी को जुदा करने का जो गुण है उसे तो कदापि नहीं छीन सकता।

राजा मुनि से कहता है—'ऐसे ऋद्धिमान् होने पर भी आप अनाथ थे, यह कैसे माना जा सकता है? परन्तु इस संबंध में अधिक प्रश्नोत्तरों में न पड़कर इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप मेरे साथ चलिए, मैं आपका नाथ बनता हूं। मेरे राज्य में कोई कमी नहीं है।'

यही अभिप्राय आगे की गाथा में प्रकाशित किया गया है

तओ सो पहसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढिमन्तस्स, कहं नाहो न विज्जइ॥ १०॥

अर्थ—मुनि का उत्तर सुनकर राजा हँस पड़ा और मुनि से कहने लगा—जो इस प्रकार की ऋद्धि से सम्पन्न है, उसका कोई नाथ न हो, यह कैसे हो सकता है?

व्याख्यान—मुनि ने जो उत्तर दिया था, वह राजा को ठीक नहीं लगा, अतः वह हँस पड़ा।

राजा श्रेणिक का प्रकरण चल रहा है और उसका परिचय पहले दिया जा चुका है, तो फिर यहाँ राजा को श्रेणिक और मगधाधिप

कहने की क्या आवश्यकता थी ? साधारण लोग पुनरुक्ति दोष से बचने का प्रयास करते हैं, मगर गणधर तत्त्व को समझाने का उसी प्रकार प्रयत्न करते है, जैसे माता अपने पुत्र को एक ही बात बार बार समझाने का प्रयत्न करती है। मेरी समझ के अनुसार गणधरों ने 'मगधाधिप' शब्द का पुनः प्रयोग यह बताने के लिए किया है कि हँसने वाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं था किन्तु मगध का सम्राट था। साधारण व्यक्ति के हसने में और बडे राजा के हंसने में बड़ा अन्तर होता है। यही प्रकट करने के लिए गणधरों ने राजा के रूप में परिचय देने पर भी फिर उसे 'मगधाधिप' कहकर परिचय दिया है।

राजा श्रेणिक हंसकर कहने लगा—आप जसे ऋद्धिशाली का कोई नाथ न हो, यह बात कैसे बन सकती है ?

देखना चाहिए कि ऋद्धि का अर्थ क्या है ? मुनि के पास ऐसी कौनसी ऋद्धि थी कि जिसके कारण उन्हे ऋद्धिमान् कहा गया है ?

ऋद्धि दो प्रकार की होती है—बाह्य ऋद्धि और आन्तरिक ऋद्धि। बाह्य ऋद्धि में धन-धान्य आदि का समावेश होता है और आन्तरिक ऋद्धि में शरीर की स्वस्थता और इन्द्रियों के पूर्ण विकास आदि का अन्तर्भाव होता है। मुनि के पास बाह्य ऋद्धि तो नहीं थी, पर आन्तरिक ऋद्धि थी। उनकी भव्य आकृति उनकी सम्पन्नता एवं सुन्दर प्रकृति का परिचय देती थी।

कहावत है—'यथाऽऽकृतिस्तथा प्रकृतिः' अर्थात् जिसकी आकृति सुन्दर होती है, उसमे गुणों का वास भी होता है। आज भी

देखो तो प्रतीत होगा कि जिनकी आँखें मोटी होती हैं, कान लम्बे होते हैं, वक्षस्थल प्रशस्त और विस्तीर्ण होता है, कपाल चौड़ा होता है और शरीर के अंगोपाग पूर्ण विकसित होते हैं, वह भाग्यवान् और गुणवान् गिने जाते हैं। अनाथी मुनि की आकृति सुन्दर थी और उनकी ऋद्धि भी स्पष्ट झलकती थी।

टीकाकार कहते हैं कि जहा आकृति उत्तम होती है वहा गुणों का वास होता है और जहा गुणों का वास होता है वहा लक्ष्मी का वास होता है, क्योंकि लक्ष्मी गुणवान् को ही वरण करती है, गुण-हीन को नहीं।

कहा जा सकता है कि लक्ष्मी तो गुणहीन के पास भी देखी जाती है, पर इसका उत्तर यह है कि चाहे आपको उसके गुण दिखाई न देते हों, मगर उसमे व्यावहारिक गुण अवश्य होते हैं।

इस प्रकार जहाँ गुण होते हैं, वहाँ लक्ष्मी भी वास करती है। वहाँ नौकर चाकरों पर आज्ञा भी चलती है। उस आज्ञा का पालन होना ही राज्य है।

राजा ने मुनि से कहा— आपने दु ख के कारण संयम धारण किया है, यह मुझे सत्य नहीं मालूम पड़ता। ऐसे ऋद्धिमान् का कोई रक्षक न हो, यह सभव नहीं। मगर आपके कथनानुसार अगर आपने दु ख के कारण सयम ग्रहण किया है तो किस प्रकार संयम का निर्वाह हो सकेगा ? इसलिए —

होमि नाहो भयताग , भोगे भु जाहि सजया ।
मित्तनाइपरिवुडो, माणुस्स खु सुदुल्लह ॥११॥

अर्थ— हे संयत, मैं आपका नाथ बनता हूं। मनुष्यभव अत्यन्त दुर्लभ है, अतः मित्रजनों और ज्ञातिजनों के साथ मिलकर आप भोग भोगिए।

व्याख्यान— राजा श्रेणिक कहते हैं– हे पूज्य ! आपसे अधिक कुछ न कह कर संक्षेप में इतना ही कहता हूं अगर आपने अनाथता के दुःख से संयम धारण किया है तो इस दुःख को दूर करने के लिए मैं आपका नाथ बनता हूँ। जब मैं आपका नाथ बन जाऊँगा तो किस चीज की कमी रह जाएगी ? अतएव हे संयत, संयम को छोड़ो और भोग भोगो।

राजा मुनि को भोग भोगने के लिए कह रहा है। तो क्या वह इतनी ओछी बुद्धि वाला था ? नहीं, राजा इतनी ओछी बुद्धि वाला नहीं था। उसके कथन में विशेष रहस्य छिपा है। मुनि ने संयम ग्रहण करने का जो कारण बतलाया, उस पर उसे विश्वास नहीं हुआ। वह मुनि के कथन के मर्म को नहीं समझ पाया ? वह यह तो जानता था कि मुनि मिथ्या भाषण नहीं कर सकते, परन्तु उनका अभिप्राय क्या है, यह भी उसकी समझ में नहीं आया था। अतएव राजा ने सोचा– मैं प्रत्युत्तर में ऐसी बात क्यों न कहूँ, जिससे मुनि द्वारा दिये गये उत्तर का रहस्य खुल जाय ? इस प्रकार मुनि के उत्तर की वास्तविकता को समझने के लिए ही राजा ने स्वयं नाथ बनने और भोग भोगने की बात कही है, राजा सोचता था कि मेरे कहने पर यदि यह संयम त्याग कर मेरे साथ आ गये तो मुझे एक अद्वितीय ऋद्धिसम्पन्न व्यक्ति की प्राप्ति होगी। यदि ऐसा न हुआ तो मुनि के कथन का असली रहस्य प्रकाश में आ

जाएगा। इस विचार से प्रेरित होकर राजा श्रेणिक ने मुनि को भोग भोगने के लिए आमंत्रित किया है।

दूसरी बात यह है कि जो भोगों का त्यागी नहीं है, उसे भोग भोगने के लिए कोई आग्रह नहीं करता, किन्तु जो भोग का त्यागी है उसे आग्रह करने वाले बहुत मिल जाते हैं। बहुत से लोग रहने के लिए इधर उधर भटकते हैं। किन्तु उन्हें कोई अपने यहाँ रहने को स्थान नहीं देता। मगर जो दीक्षा लेने को तैयार होता है, उसे कई कहते हैं कि 'क्यों दीक्षा लेते हो ? चलो, हमारे यहाँ रहो।' यह सब भोगों के त्याग का ही प्रताप है।

राजा ने मुनि से कहा—आप मेरे यहाँ चलिए। मैं आपका नाथ बनता हूँ। मेरे यहाँ आपको सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होंगी। आप यह विचार न करना कि मैं दीक्षित हो चुका हूँ अतएव अब ज्ञातिजन या मित्र आपको नहीं अपनाएँगे। संयम ग्रहण करके आपने कोइ खराब काम नहीं किया था। ज्ञातिजन और मित्रजन तो उलटा आपका आदर सत्कार ही करेंगे। मैं संयम त्यागने का आग्रह इसलिए करता हू कि यह मनुष्यजन्म बहुत दुर्लभ है। इस दुर्लभ जीवन को व्यर्थ बरबाद कर देना उचित नहीं है।

जो लोग भोग भोगने में मनुष्यजीवन की सफलता मानते हैं वे भी यही कहते हैं कि मनुष्यजन्म मिलना कठिन है और जो भोगों के त्याग का उपदेश करते है, वे भी यही कहते हैं कि बार बार मनुष्यभव पा लेना कठिन है। अतएव भोग- उपभोग में इस जीवन का अपव्यय न करो। इस प्रकार भोगी और त्यागी दोनों अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार कहते हैं। इससे यह तो

ता है कि वास्तव में मानवभव दुर्लभ है; मगर तो यह है कि इसकी सार्थकता किसमे है ?

भोग भोगने में जीवन की सफलता समझते हैं, है—उत्तम खाना--पीना, सुन्दर वस्त्र पहनना और मे रहना, आमोद-प्रमोद मे दिन व्यतीत करना र्तव्य है। मनुष्यभव मे यह सब न किया--भोग न पशुजीवन में भोगेंगे ? पशुजीवन मे यह सब सामग्री ा सकती है ? स्टीमर, रेलगाड़ी और वायुयान आदि मनुष्य ने मजा न लूटा तो क्या पशु बन कर लूटा जा अतएव मनुष्यजीवन की सार्थकता भोग भोगने में ही पक्ष है।

त भोगों का त्याग करने में ही मानवजीवन की सफलता । इस मान्यता की पुष्टि में ज्ञानी कहते हैं--अगर भ मनुष्यजन्म और विशिष्ट बुद्धिवैभव पा करके भी कास किया, अर्थात् भोग भोगने मे ही समय व्यतीत ो आपकी क्या विशेषता हुई ? इतना विकास तो पशुओं ों मे भी होता है। इसमें मनुष्यत्व की विशेषता ही क्या तुम वायुयान पर आरूढ़ होकर गगनविहार करने में न्य मानते हो, किन्तु पक्षी तो बिना वायुयान ही-अपने ज पर आकाश में उड़ते हैं। अगर आकाश में उड़ना ही ो पक्षी आपसे भी महान् ठहरते हैं।

ुन्दर वस्त्र परिधान करने मे जीवन की सफलता मानते इधर-उधर से कपास इकट्ठा करके और कपड़ा बना करके

पहनने में क्या विशेषता है? इससे तो वह साधारण जन्तु ही अच्छे जो अपने शरीर में से तन्तु निकाल कर जाल बनाते हैं। तुम कपड़ा पहन कर अकड़ते चलते हो, पर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से तो देखो कि उसमें कितने छिद्र हैं? मकड़ी जैसा साधारण जन्तु जो जाल बनाता है, वह कितना सुन्दर और छिद्रहीन होता है। उसे देखो तो पता लगेगा कि आपके कपड़ों की अपेक्षा उसमें अनेकगुणी विशेषता है।

तुम मकान बनाने और उसमें रहने में मनुष्य जन्म की विशेषता मानते हो, किन्तु मधुमक्खी और चिउँटी आदि प्राणी अपने रहने के लिए महान् परिश्रमपूर्वक ऐसा सुन्दर घर बनाती हैं कि जिसे देखकर मनुष्य का अहंकार चूर चूर हो जाता है। जरा देखो तो सही कि उनके मकानों में कितनी सुन्दर व्यवस्था होती है। उनके मकानों में प्रसूतिगृह, भोजनगृह आदि अलग अलग होते हैं। कला और आविष्कार की दृष्टि से देखो तो मधुमक्खी मनुष्य से भी आगे बढ़ जाती है। उसकी कला देखकर आज के वैज्ञानिक भी आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वह अपने रहने का घर कलापूर्वक और नाप से बनाती है। यही नहीं, वरन् थोड़े से ही मोम में अधिक से अधिक मधु भरने की व्यवस्था कर सकती है। उनकी संगठन व्यवस्था भी अद्भुत है। जब वह छत्ते में मोम लगाती हैं, तब सब की सब एक ही साथ मोम लगाती हैं और मधु भरती हैं तो सब मधु भरती हैं। क्या तुम्हारी कला उनसे बढ़ कर है?

अभिप्राय यह है कि अगर आप वस्त्र-मकान आदि के कारण

ही मनुष्य जन्म को सार्थक मानते हो तो आपने मधुमक्खी—चींटी जैसे साधारण जीवों की अपेक्षा कोई विशेष प्रगति नहीं की है।

जरा विवेक बुद्धि से विचार करो कि तुम पहले कौन थे और किस कारण से मनुष्यजन्म पा सके हो? इस प्रश्न पर गहरा विचार करोगे तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि ऊँचे ऊँचे महल बनाने से, बढ़िया - बढ़िया भोजन-पान करने से, मजा - मौज लूटने से या भोग भोगने से यह दुर्लभ मनुष्यजन्म नहीं मिला है। इस संबंध में भक्त तुकाराम कहते हैं—

अनन्त जन्म जरी केल्या तप राशी तरीहान,
पवसी मणो दहे ऐसा हा निदान।
लागलासी हाथी त्याची केली माती भाग्यहीन॥

अर्थात्—अनन्त जन्मों तक पुण्यराशि संचित करने पर भी मनुष्यजन्म मिलता है या नहीं, यह शंकास्पद है। फिर भी पुण्य के बल से मनुष्यजन्म मिल गया है, उसे अभागे लोग मिट्टी की तरह गँवा देते हैं।

यह जीव सूक्ष्म निगोद में, बादर निगोद में, पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय में आया, फिर पुण्य के योग से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और फिर बड़ी कठिनाई से पंचेन्द्रिय हुआ। पंचेन्द्रिय होकर भी प्रबल पुण्य के उदय से मनुष्य हुआ। मनुष्यजन्म के साथ आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और उत्तम धर्म की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर की तपश्चर्या संचित करने से मनुष्य-जन्म मिला है। इस कठोर तपश्चर्या के परिणाम स्वरूप मिले

मनुष्यजन्म को भोगोपभोगों की गदगी मे पड कर गँवा देना उचित नहीं।

राजा श्रेणिक ने मुनि से कहा— यह मनुष्यजन्म दुर्लभ है, अतएव भोग भोग कर इसे सार्थक बनाओ। मैं आपका नाथ बनता हूँ। चलिए सुखपूर्वक रहिए।

राजा का कथन सुनकर मुनि को आश्चर्य हुआ, ठीक वैसा ही जैसा कि मुनि का उत्तर सुनकर राजा को हुआ था। अपना अपना पक्ष लेकर दोनों हँस रहे थे। मुनि सोच रहे थे— राजा स्वय तो अनाथ है और मेरा नाथ बनना चाहता है। और राजा यह सोच कर हँस रहा था कि ऐसी असाधारण ऋद्धि से सम्पन्न होकर भी यह अपने आपको अनाथ कहते हैं।

किसी मुनि को भोग भोगने के लिए आमंत्रित करना उसकी अवज्ञा करना है। राजा श्रेणिक ने इस दृष्टि से मुनि की अवज्ञा की। किन्तु मुनि राजा पर रुष्ट नहीं हुए। उन्होंने राजा की बात से कुछ दु ख नहीं माना। वे जानते थे कि मैंने जिस अभिप्राय से अपने को अनाथ बतलाया है, राजा ने उसे समझ नहीं पाया। इसी कारण यह मेरा नाथ बनने के लिए तैयार हुआ है और मुझे भोगों का प्रलोभन दे रहा है। आखिर मुनि ने उत्तर दिया—

अप्पणा वि अणाहो सि, सेणिया ! मगहाहिवा ।
अप्पणा अणाहो सन्तो, कस्स नाहो भविस्ससि ॥ १२ ॥

अर्थ-हे श्रेणिक, हे मगध के अधीश्वर। आप स्वय अनाथ हो। और जो स्वय ही अनाथ है, वह किसी का नाथ कैसे हो सकता है?

व्याख्यान— मुनिराज श्रेणिक की बात के उत्तर में कहते हैं— राजन्। तू स्वयं ही अनाथ है तो दूसरे का नाथ किस प्रकार बन सकता है? यह शरीर भोगोपभोग के लिए है, यह विचार आते ही आत्मा गुलाम और अनाथ बन जाता है।

तुम समझते हो कि अमुक वस्तु हमारे पास है, अतएव हम उसके स्वामी हैं। परन्तु ज्ञानी कहते हैं— तुम्हारे पास जो वस्तु है, उसी की बदौलत तुम अनाथ बने हो। जैसे, कोई मनुष्य सोने की कंठी पहन कर अभिमान करता है, किन्तु ज्ञानी उससे कहते हैं— तू सोने का गुलाम बन गया है।

कल्पना करो, एक महापुरुष जंगल में जा रहे हैं। वे शरीर को केवल साधन रूप ही मानते हैं, शरीर पर उन्हें लेशमात्र भी ममत्व नहीं है। दूसरा मनुष्य हीरक जटित स्वर्ण का हार पहन कर वन में जा रहा है। मार्ग में उन्हें एक चोर मिला। चोर को देख कर भी महापुरुष तो अपने ध्यान में चले जा रहे थे, उन्हें किसी प्रकार का भय या उद्वेग नहीं उत्पन्न हुआ। मगर हार पहनने वाला मनुष्य चोर को देखते ही भागा। चोर ने उसका पीछा किया। उसे पकड़ा और लूट लिया। वह रोने लगा। वह सोने का गुलाम था, इसी कारण उसे रोना पड़ा। इस प्रकार किसी भी पर-पदार्थ को अपना समझने और उस पर निर्भर होने से उसके गुलाम बनने और दुखी होने का प्रसंग आता है।

अभिप्राय यह है कि पर पदार्थों के आलम्बन से मनुष्य पराधीन बन कर अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है और पराधीन हो जाना ही अनाथता का लक्षण है। फिर भी अज्ञान के कारण ही लोग मनुष्य-

भ्रम को भोगों का उपभोग करने में साथक समझते हैं। राजा श्रेणिक भी अज्ञान के अंधकार में भटक रहा था। इस कारण वह मुनि से कहता है—मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे साथ चलिए और सुख पूर्वक रह कर भोग भोगिए।

राजा के इस कथन के उत्तर में मुनि ने कहा—राजन्। तू तो स्वय ही अनाथ है फिर मेरा नाथ किस प्रकार बन सकता है?

मुनि ने राजा को अनाथ कहा तो क्या राजा के पास कुछ नहीं था? अगर राज्य का अधिपति होने पर भी राजा मुनि के कथनानुसार अनाथ था, तो चारित्र के इस महान् आदर्श को समझो और इसका अनुसरण करो। राजा भ्रम के वशीभूत होकर स्वय अनाथ होता हुआ भी अपने को नाथ समझता था, इसी प्रकार तुम भी काम भोगों के गुलाम बन कर, अनाथता को सनाथता समझ बैठे हो। इस भ्रम को दूर करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है। जब मगध देश का सम्राट् भी अनाथ था तो तुम कैसे सनाथ कहे जा सकते हो? और ससार के पदार्थ तुम्हें किस प्रकार नाथ बना सकते हैं?

मुनि ने राजा को अनाथ बतलाया। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य जिन पदार्थों के कारण अपने आपको नाथ या सनाथ मानता है, वस्तुत उन्हीं के कारण वह अनाथ है। और जो स्वयं अनाथ है, वह दूसरों का नाथ कैसे बन सकता है? जिस वस्तु पर तुम्हारा अधिकार नहीं है, वह वस्तु दूसरों को दे दो तो वह चोरी गिनी जायगी और तुम्हें दड का पात्र बनना पडेगा। इसी प्रकार तुम स्वयं सनाथ नहीं हो, फिर भी अगर दूसरों के नाथ

बनने का प्रयत्न करते हो अथवा अपने को दूसरों का नाथ मानते हो तो क्या यह अनुचित नहीं है ?

एक बार मीरा से उसकी सखी ने कहा—सखी, तुम्हारा सद्भाग्य है कि तुम्हें राणा जैसे पति की प्राप्ति हुई है। रहने को सुन्दर महल मिला है। सुखोपभोग के लिए विपुल वैभव प्राप्त हुआ है। फिर भी तुम राणा के प्रति इतनी उदास क्यों रहती हो ? भोगों के प्रति इतनी अरुचि क्यों है ? इस सब सुखसामग्री को तुम दुःख-रूप क्यों मानती हो ?

सखी का यह कथन सुनकर मीरा हँसने लगी। तब सखी ने कहा—स्त्रियों का ऐसा स्वभाव ही होता है कि वे अपने मुख से प्रणय संबंधी बातें नहीं करती; परन्तु प्रणय संबंधी बातें सुनकर प्रसन्न होती हैं। तुम्हारी हँसी से जान पड़ता है कि मेरी बात तुम्हें प्रिय लग रही है। तो मैं राणाजी के साथ तुम्हारा नूतन रूप में प्रणय संबंध जोड़ दूँ ? मेरी बात स्वीकार है ?

मीरा ने सोचा—मेरे हँसने का यह सखी दूसरा ही अभिप्राय समझ रही हैं, अतएव इसे सारी बातें साफ २ बता देना ही योग्य है। इस प्रकार विचार कर मीरां ने अपनी सखी से कहा:—

संसारीनुं सुख काचुं, परणी रंडावुं पाछुं,
तेने घेर केम जइए रे, मोहन प्यारा।
मुखड़ानी प्रीति लागी रे ॥

सखी ! राणा के विषय में तू जो कहती है सो सत्य हो सकता है। अतएव मुझे उनके विषय में कुछ भी नहीं कहना है। परन्तु मैं इतना ही पूछती हूँ कि मेरे पिता ने मुझे राणा को सौंप दिया है;

और मैं राणा के पास जाकर उनकी दासी बन कर भी रह सकती हू, परन्तु इस बात की क्या खातिरी है कि वह मुझे विधवा नहीं बनाएँगे ? अगर राणा मुझे अखण्ड सौभाग्यवती बनाए रक्खें और कभी विधवा न होने दें तो मुझे उनके पास रहने में कोई उज्र नहीं है। हाँ, वे अगर ऐसी खातिरी न दे सकें और कहें कि यह मेरे हाथ की बात नहीं है तो क्या किया जाय ? मैं उन्हें पति बनाऊँ और फिर वह मुझे विधवा बनाएँ तो मेरा सौभाग्य अखण्ड किस प्रकार रह सकेगा ? इसी विचार से मैंने ऐसा पति बनाया है जो मेरा सौभाग्य सदा के लिए अखण्डित रक्खे ?

मीरा की ही तरह फक्कड़ योगी आनन्दघन ने भी कहा है—

ऋषभ जिनद प्रीतम माहरा और न चाहूँ कन्त।
रीझ्यो साहब सग न परिहरै भागे सादि अनन्त ॥

भगवान् के साथ वृद्ध, युवक, बालक, धनवान् और गरीब सब लग्न कर सकते हैं। भगवान के साथ लग्न सबध करने में जाति पाति का जरा भी भेदभाव नहीं है। वह विवाह अलौकिक है। इस अलौकिक प्रीतम के साथ तभी विवाह हो सकता है, जब लौकिक प्रीतम का त्याग कर दिया जाय। उनके साथ किया हुआ लग्न अखण्ड होता है। परमात्मा के साथ लग्न न करके लौकिक प्रीतम के साथ लग्न किया जाय तो उस अवस्था मे पति की मृत्यु होने पर वैधव्य भोग करना पड़ता है और रोने का भी अवसर आता है। अगर रोने और विधवा होने की इच्छा न हो तो परमात्मा के साथ परिणय सबध जोडो। मैं तो ऐसे ऐसे सबध को जुड़वाने वाला पुरोहित हूँ। अतएव मैं अधिक कुछ नहीं कह सकता,

किन्तु जो परमात्मा के साथ लग्नसम्बंध जोड़ना चाहते होंगे, उनका सम्बन्ध करा दूँगा।

तुम लोग संसार की जिन वस्तुओं के साथ सम्बन्ध करना चाहते हो, उन वस्तुओं से पहले पूछ तो देखो कि वे तुम्हारा अन्तिम समय तक साथ तो देंगी ? बीच ही में धोखा तो नहीं दे जाएँगी ? अपने शरीर के अंगों से— हाथों, पैरों, कान, नाक, आँख आदि से पूछ लो कि अधबीच ही में तो दगा नहीं दे जाएँगे ? अगर दगा दे जाएँ तो इन्हें अपना कैसे मान सकते हो ? और उनके साथ सम्बन्ध कैसे जोड़ सकते हो ? भक्त जन इस तथ्य को भली-भाँति समझते हैं कि संसार की कोई भी वस्तु अन्त समय तक साथ नहीं देती, बीच ही में दगा दे जाती है। इस कारण वे उनके साथ सम्बन्ध स्थापित न करके परमात्मा के साथ ही सम्बन्ध जोड़ते हैं। संसार की वस्तुएँ मेरे लिए सहायक होती हों तो भले हों, किन्तु मैं उनके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता, यही भक्तों का कथन है।

तुमने गले में सोने की जो माला पहन रक्खी है, वह तुम्हें छोड़कर चली जाने वाली है; फिर क्यों उसके लिए कुत्तों की तरह लड़ते हो ?

कदाचित् तुम कहोगे— तब हमें क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में ज्ञानियों का कहना है कि अपने तन मन को परमपुरुष के साथ जोड़ दो। इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर का नाश कर देना चाहिए या आत्महत्या कर लेना चाहिए। परमात्मा के साथ ऐसा प्रगाढ़ प्रेमसम्बन्ध स्थापित करो कि उस परमात्मप्रेम में भले तुम्हारा

शरीर चला जाय, परन्तु प्रेम न टूटने पावे। तुम अनन्त-अनन्त शरीर छोड चुके हो तो इस शरीर को परमात्मा के साथ जोड दो, भगवान् को अर्पित कर दो और भगवान के साथ ही लग्नसम्बन्ध कर लो।

राजा श्रेणिक और मुनि दोनों आमने-सामने बैठे हैं। दोनों महाराज हैं, पर जुदा-जुदा प्रकार के। श्रेणिक तो सोपाधिक प्रीति को ही प्रीति मानता है, परन्तु मुनि निरुपाधिक प्रीति को प्रीति मानते हैं। राजा समझता है कि जिनके द्वारा सुखोपभोग की सामग्री मिले उनके साथ प्रीति करना ही सच्ची प्रीति है। अपनी इस मान्यता के कारण ही वह मुनि से कहता है— आप सयम का परित्याग करके मेरे साथ चलिए और भोग भोगिए। मैं आपका नाथ बनता हूँ। पर मुनि उत्तर देते हैं— राजन्। तुम भूल रहे हो। तुम स्वय ही अनाथ हो। तुम अपना स्वय का योग क्षेम नहीं कर सकते तो मेरे नाथ कैसे बन सकते हो?

मुनि का यह कथन सुन कर राजा को अत्य त विस्मय हुआ। वह सोचने लगा— मैं इनका नाथ बनना चाहता था, पर यह तो मुझको ही अनाथ मानते हैं। यह बुद्धिमान मुनि अनाथता के कारण दीक्षा लेने की बात कहते हैं और मुझ जैसे मगधाधिप को भी अनाथ कहते हैं। यह सब आश्चर्यजनक है। ऐसा सोचकर राजा किस प्रकार चकित और विस्मित हुआ। इस विषय मे शास्त्र में कहा है—

एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविम्हिओ ।
वयणं अस्सुयपुव्वं, साहुणा विह्मयन्निओ ॥ १३ ॥
अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अन्तेउरं च मे ।
भुंजामि माणुसे भोए, आणा इस्सरियं च मे ॥ १४ ॥
एरिसे सम्पयग्गम्मि, सव्वकामसमप्पिए ।
कहं अणाहो भवइ, मा हू भंते ! मुसं वए ॥ १५ ॥

अर्थः— जो बात पहले कभी नही सुनी थी, वह इस समय मुनि के मुख से सुनकर राजा श्रेणिक चकित रह गया, घबरा- सा गया ।

राजा ने मुनि से कहा— मेरे यहाँ घोड़े हैं, हाथी हैं, प्यादे हैं; मै ग्रामों एवं नगरों का स्वामी हूँ; मेरे यहाँ रानियां हैं । मैं सब प्रकार के मनुष्योचित भोग भोग रहा हूँ । मेरी आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता । मेरे पास विपुल ऐश्वर्य है ।

इस प्रकार सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी मै अनाथ कैसे हूँ ? भगवन् ! आप मिथ्या भाषण मत कीजिए ।

व्याख्यान :— 'राजा, तू स्वयं अनाथ है' मुनि का यह कथन सुन कर श्रेणिक अत्यन्त सम्भ्रान्त हुआ । वह श्रेष्ठ क्षत्रिय था । क्षत्रिय अपना अपमान सहन नहीं कर सकते ।

आज कई लोग मुझसे कहते हैं— 'आप जो चाहें, कहें; हमें कुछ बुरा नहीं लगता ।' परन्तु मै सोचता हूँ, तुम्हें बुरा नहीं लगता,

यही बुरी बात है। इसी को बनियाशाही कहते हैं। कहावत है-सिंह को बोल लगता है। अर्थात् सिंह के सामने गर्जना की जाय तो वह सामना करता है। इसी प्रकार तुम्हें भी बोल लगना चाहिए। परन्तु तुम बनियाशाही चलाते हो और इस कारण बोल को नहीं झेल सकते।

राजा क्षत्रिय था। उसे बात चुभ गई। किसी गरीब या दरिद्री को अनाथ कहा होता तो बात न्यारी थी, परन्तु मेरे जैसे सम्राट् को अनाथ कैसे कह दिया ? इस प्रकार राजा सम्भ्रान्त हुआ। उसके मन में कुछ रजोगुण भी आया। वह मन ही मन विचार करने लगा— मैं राजा हूँ, यह बात मुनि को मालूम न होती और अनाथ कह दिया होता तो बात दूसरी थी, परन्तु यह तो जान-बूझ कर मुझे अनाथ कह रहे हैं।

शास्त्र में राजा के मनोगत भावों का सही चित्रण किया गया है। इस विषय में शास्त्र में जो वर्णन किया गया है, उसका पूरा-पूरा विवरण तो कोई महात्मा ही कर सकता है। मैं इस रहस्य को ठीक ठीक प्रकट नहीं कर सकता। फिर भी अपनी समझ के अनुसार कहता हूँ।

उक्त कथन से जान पड़ता है कि राजा शूरवीर था, पर क्रूर नहीं था। सिंह शूर होता है परन्तु साथ ही क्रूर भी होता है। वह साधु और असाधु को नहीं पहचान सकता। उसमें विवेक नहीं होता। जो सामने आया, उसी पर वह हमला बोल देता है। राजा ऐसा नहीं था। वह विवेकशील था। इस बात को प्रकट करने के लिए शास्त्रकार कहते हैं कि मुनि का कथन सुन कर राजा

संभ्रान्त हुआ; परन्तु उसने मुनि से कोई अनुचित बात नहीं कही। हाँ, सभ्यतापूर्वक अपने मनोभावों को अवश्य प्रकट किया, यह बात मै अपनी बुद्धि के अनुसार कह रहा हूँ।

राजा सोचता है— मुनि ने मुझे अनाथ कहा है। यह मेरे लिए अश्रुतपूर्व है। आज तक किसी ने मुझे अनाथ नहीं कहा। मैने कभी अनाथता का अनुभव भी नहीं किया। मै घर-द्वार छोड़ कर बाहर चला गया था। कष्ट में रहा था। उस समय भी किसी ने मुझे अनाथ कहने का साहस नहीं किया था। स्वयं मुझे अनाथता का अनुभव नहीं हुआ था। मै अपने पुरुषार्थ के बल पर काम चलाता रहा था। ऐसा तो नहीं कि मुनि को मेरे वैभव का पता न हो ? इनकी आकृति देखने से ये महाऋद्धिशाली प्रतीत होते हैं। यह भी हो सकता है कि इनकी दृष्टि में मेरा वैभव नगण्य हो और इस कारण मुझे अनाथ कहते हों।

मनुष्य अपनी चीज से हल्की चीज किसी दूसरे के पास देखता है तो उसे तुच्छ समझता है। जिसके पास हीरे के आभूषण हैं, उसे सोने के आभूषण भी तुच्छ प्रतीत होते हैं, और जिसके पास सोने के गहने हैं वह चांदी के गहनो को नगण्य मानता है। इसी प्रकार चांदी के गहनों वाला—रांगे या पीतल के गहनो को साधारण समझता है। तो संभव है, इन मुनि के पास विपुलतर ऋद्धि रही हो और इसी कारण मै इनकी दृष्टि में अनाथ जान पड़ता होऊँ। फिर भी जैसा मुनि समझते हैं, मै वैसा अनाथ नही हूँ। अतएव मुझे अपनी ऋद्धि का वर्णन करके स्पष्ट बतला देना चाहिए, जिससे यह जान लें कि मै कोई

ऋद्धिहीन नहीं हूँ।

राजा साहसी और वीर था। अतएव उसने मुनि से कहा—महाराज, मैं मगध का अधिपति हूँ। मैं मगध का नाम मात्र का ही राजा नहीं, सारे मगधराज्य का पालनकर्त्ता हूँ। मेरे राज्य में अनेक घोड़े, हाथी आदि रत्न हैं। बड़े-बड़े नगर हैं, जिनकी आय से राज्य का खर्च भली भांति चलता है। बड़े-बड़े राजा अपनी कन्याएँ मुझे देकर अपने को भाग्यवान मानते हैं। कितने ही लोग ऋद्धि पाकर भी शरीर की अस्वस्थता के कारण उसका उपभोग नहीं कर सकते, परन्तु मेरे पास ऋद्धि के साथ शारीरिक सम्पत्ति भी अच्छी है। अतएव मैं मनुष्य संबंधी भोगों का भोग कर सकता हूँ। अनेक राजा नाम मात्र के राजा होते हैं, परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ। सभी मेरी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं। किसमें ऐसी हिम्मत है जो मेरी आज्ञा का अनादर कर सके? महाराज, फिर भी आप मुझे अनाथ कहते हैं। आप मुनि होकर मुझ जैसे राजा को अनाथ कहकर मृषाभाषण करें, यह वस्तुतः आश्चर्यजनक है। जैसे पृथ्वी का आधार न देना और सूर्य का प्रकाश न देना विस्मयजनक है, उसी प्रकार मुनि होकर आपका असत्य भाषण करना भी विस्मय जनक है। हे पूज्य! आपको असत्य नहीं बोलना चाहिए।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। राजा ने मुनि से यह तो कहा कि—'आपको असत्य नहीं बोलना चाहिए', परन्तु कोई कटुक वाक्य नहीं कहा। उसने विवेकपूर्वक शब्दों का उच्चारण किया।

वाणी का प्रयोग करते समय विवेक रखने की आवश्यकता है। मनुष्य के स्वभाव का परिचय वाणी द्वारा मिल जाता है।

कहावत है—

वचने का दरिद्रता।

अर्थात्—मधुर वचन बोलने में दरिद्रता क्यों रखनी चाहिए ?

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजे चहु ओर।
वशीकरण इक मंत्र है, तज दे वचन कठोर॥

फारसी में भी कहा है:—

बस अजीज रहना प्यारी जबान जहां में।

प्यारी जीभ, और कुछ मिले या न मिले, किन्तु यदि तू मेरे साथ मित्रता कर ले तो सभी जीव मेरे मित्र हो जाएँ।

तुम लोग दूसरों को मित्र बनाते हो, पर अपनी जीभ के साथ भी कभी मित्रता जोड़ने का प्रयत्न करते हो ? तुम्हारी जीभ से कटुक वाणी क्यों निकलती है ? अमृत-वाणी क्यों नहीं बरसती ?

कल्पना करो, तुम्हारे किसी पूर्वज ने तुम्हें बतलाया कि घर में इस ओर सोना गड़ा है और उस ओर कोयले गड़े है। तुम्हारे हाथ में कुदाल भी दे दिया जाय और खोदने के लिए कहा जाय। तो तुम सोना खोदना चाहोगे या कोयला ? अगर कोयला खोदोगे तो हाथ काले होंगे। कह सकते हो कि ऐसा कौन मूर्ख होगा जो सोना छोड़ कर कोई कोयला खोदना चाहेगा ? सोने को छोड़कर कोई कोयला नहीं खोदना चाहता। इसी प्रकार तुम अपनी जीभ की कुदाली से सोना भी निकाल सकते हो और कोयला भी निकाल सकते हो। अपशब्द बोलना कोयला निकालने के समान है और मधुर शब्द बोलना सोना निकालने के समान है।

मैं बहिनों से मीठे शब्द बोलने का खास तौर से आग्रह करता

हूँ। अडोसी-पडोसी और बाल-बच्चों के साथ विवेकपूर्वक वचन बोलने चाहिए। मधुर भाषण करने से तुम दूसरों को प्रिय लगोगे। और यदि कटुक वाणी का प्रयोग करोगे तो अप्रिय लगोगे। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

जा पै जैसा वस्तु है, वैसा दे दिखलाय।
वाको बुरा न मानिये, लेन कहाँ पै जाय? ॥

जिसके पास गालियां हैं, वह गालियाँ देता है। जिसके पास जो वस्तु होती है, वही वह दूसरों को दे सकता है। अतएव इसमें बुरा मानने की आवश्यकता नहीं है।

कहने का आशय यह है कि जिसमें गालियाँ देने के संस्कार होंगे, वह दूसरों को गालियाँ ही देगा। अतएव पहले से अच्छे संस्कार डालो। भूल-चूक कर भी कटुक वाणी का उच्चारण न करो। अच्छे संस्कारों को जीवन में उतारने के लिए सदैव सत्संगति करनी चाहिए।

मीठी बोली बोलने का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए, इस सम्बन्ध में पूज्य श्रीलालजी महाराज ने एक दृष्टान्त दिया था—

एक चूड़ी वाला लाख की चूड़ियाँ गधी पर लादकर बाजार में वेचने को जाया करता था। आजकल तो अनेक प्रकार की रंग बिरंगी चूड़ियाँ निकल पड़ी हैं और इस प्रकार विदेशी चूड़ियों ने बहिनों का हाथ पकड़ रक्खा है, परन्तु पहले लाख की चूड़ियों का विशेष प्रचार था।

हाँ, वह चूड़ी वाला गधी पर चूड़ियाँ लादकर बाजार जाता था। गधी जब धीमी धीमी चलती तो वह 'चल मेरी माता, चल

मेरी बहिन' कहकर उसे हाँकता था। लोग उससे पूछते—तू गधी को माँ और बहिन क्यों कहता है? तब वह उत्तर देता—अगर मै गधी को गालियाँ दूँ तो मुझे गालियाँ देने की आदत पड़ जाएगी। मेरा धन्धा चूड़ियों का है। अच्छे-अच्छे घरानों की महिलाएँ मेरे यहाँ चूड़ियाँ खरीदने आती हैं। अगर मेरे मुँह से गालियाँ निकलने लगे तो कौन मेरे यहाँ आवे? फिर तो मेरा धन्धा ही चौपट हो जाय।

आपको भी सोचना चाहिए कि आप श्रावक हैं और व्यापारी है। आपके मुख से अपशब्द कैसे निकले?

राजा श्रेणिक ने मुनि को असत्य बोलने के लिए उपालम्भ तो दिया, किन्तु अत्यन्त मर्यादापूर्वक। इस प्रकार जो मर्यादापूर्वक व्यवहार करते हैं, वही विवेकवान् है। और जो प्रत्येक व्यवहार में विवेक प्रदर्शित करते हैं, उनका कल्याण होता है।

न तुमं जाणसि अणाहस्स, अत्थं पुत्थं च पत्थिवा।
जहा अणाहो भवइ, सणाहो वा नराहिव!॥ १६॥
सुणेह मे महाराय! अव्वक्खित्तेण चेयसा।
जहा अणाहो भवइ, जहा मेयं पवत्तियं॥ १७॥

अर्थ—हे पृथ्वीपति, हे नराधिप! तुम नाथ शब्द का अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति नही जानते हो, और कोई अनाथ तथा सनाथ किस तरह होता है, यह भी नहीं जानते हो। अतएव महाराज, अनाथ किसे कहते हैं और मैंने किस आशय से आपको अनाथ कहा है, यह एकाग्रचित्त से सुनो।

व्याख्यान—मुनि ने राजा श्रेणिक को पार्थिव (पृथ्वीपति), नराधिप और महाराज कह कर सम्बोधन किया है। एक साथ तीन तीन सम्बोधनों का प्रयोग करके मुनि ने यह प्रकट कर दिया है कि वह श्रेणिक को न पहचानते हों, यह बात नहीं है। वे उसके विपुल वैभव और प्रभूत ऐश्वर्य से अनभिज्ञ नहीं हैं। उन्हें ज्ञात है कि जिसे अनाथ कहा है, वह पृथ्वी का स्वामी है, प्रजा का स्वामी है और ऐश्वर्य का अधिपति है। यह बात मुनि को भली भाति मालूम है। फिर भी उसे अनाथ कहने का अभिप्राय क्या है, यह बात वे स्वयं समझाते हैं।

मुनि कहते हैं—महाराज, मैंने तुम्हें अनाथ कहा है, किन्तु किस अभिप्राय से कहा है, यह नहीं बतलाया। इस कारण तुम भ्रम मे पड गये हो। अब मैं बतलाता हूँ कि अनाथ किसे कहते हैं और सनाथ किसे कहते हैं ? तुम अविक्षिप्त चित्त–शान्तचित्त–होकर सुनो। मन में जो तेजी आ गई है, उसे दूर कर दो।

जब तक चित्त को एकाग्र न किया जाय, कोई बात सुनना भी लाभदायक नहीं होता। मन मे किसी प्रकार का विग्रह रहा तो कार्य की सिद्धि नहीं होती। यह बात सर्वत्र लागू पडती है। जिस कार्य को करने बैठे हैं, उसके अतिरिक्त दूसरी जगह मन को दौड़ाना, मन को एकाग्र न करना 'विग्रह' कहलाता है, फिर भले ही वह कार्य चाहे व्यावहारिक हो, चाहे आध्यात्मिक हो।

आप सामायिक मे बैठे हैं, पर आपका चित्त कहाँ भटक रहा है, यह कौन जानता है ? सामायिकव्रत लेकर एक स्थान पर बैठने पर भी चित्त को दूसरी जगह दौड़ाना ऐसा ही है कि—

न खुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधर के रहे, न उधर के रहे ।

अतएव आप विचार करे कि हम सामायिक में तो बैठे हैं, परन्तु हमारा मन कहाँ भटक रहा है ? अगर मन इधर-उधर भटक रहा है तो वह सामायिक व्यावहारिक सामायिक ही कहलाएगी। निश्चय सामायिक तो तभी होगी जब मन एकाग्र रहे और समभाव की रक्षा हो।

कहा जा सकता है कि हमारा मन काबू में नहीं रहता तो क्या हमें सामायिक नहीं करनी चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि मन यदि काबू में नही रहता और इधर- उधर दौड़ जाता है तो भी उसे खराब कामों की तरफ नही जाने देना चाहिए। कदाचित् चला ही जाय तो पश्चाताप करके उसे ठिकाने लाना चाहिए और पुनः न जाने देने का दृढ़ निश्चय करना चाहिए और साथ ही उसे शुभ संकल्प में उलझा देना चाहिए।

बालक चलना सीखता है तो जिधर चाहता है उधर ही चल पड़ता है। किन्तु जिस ओर जाने से गिर जाने का भय होता है, उस ओर माता - पिता नहीं जाने देते, या उसके साथ जाते हैं, जहाँ गिर जाने का भय होता है वहाँ न जाने देने की शिक्षा देते हैं। इसी प्रकार मन काबू में न रहता हो तो उसे अप्रशस्त कामों की तरफ न जाने देना चाहिए, किन्तु सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयास करना चाहिए। यह ठीक नहीं कि मन काबू में नहीं रहता तो सामायिक करना ही छोड़ दिया जाय; जो पढ़ता है वही भूलता है। जो पढ़ता ही नहीं वह क्या भूलेगा ? इसी प्रकार सामायिक

करने वालों से भूल भी होती है, किन्तु उस भूल को सुधार कर इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि वह दोबारा न हो। किन्तु भूल होती है, यह सोचकर सामायिक करना ही छोड़ बैठना तो बहुत बड़ी भूल है।

आशय यह है कि प्रत्येक कार्य में मानसिक एकाग्रता की आवश्यकता है। मानसिक एकाग्रता से ही कार्य की सिद्धि होती है। इसी कारण मुनि ने राजा से कहा है—हे राजन्। मैं जो कहता हूँ उसे एकाग्रमना होकर सुनो। अनाथ किसे कहते हैं और सनाथ किसे कहते हैं, यह दूसरों के अनुभव की नहीं, परन्तु अपने निज के अनुभव के आधार पर ही बतलाता हूँ। दूसरों की कही बात कदाचित् मिथ्या भी हो सकती है। अतएव मैं अपने ही अनुभव की बात कहता हूँ कि मैं पहले किस प्रकार अनाथ था और अब किस प्रकार सनाथ हो गया हूँ।

तुम सनाथ हो या अनाथ ? जब तुम अपनी अनाथता को पहचान लोगे तो सनाथता को भी समझ सकोगे। परन्तु आत्मा स्वयं अनाथ होते हुए भी अपनी अनाथता को स्वीकार नहीं करता, यही भूल होती है। परन्तु जो भक्त जन हैं, वे परमात्मा के आगे अपनी अनाथता को स्वीकार कर लेते हैं। तुलसीदास की कविता के द्वारा यही बात प्रकट करता हूँ। यद्यपि यहाँ भाव में कुछ अन्तर ऊपर ऊपर से जान पड़ेगा, किन्तु गहरा विचार करने पर कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। वह कहते हैं—

तू दयालु दीन हूँ तू दानी हूँ भिखारी,
हूँ प्रसिद्ध पातकी तू पापपुञ्जहारी।

नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मो सो,
मो समान आरत नाहिं आरतहार तो सो ।।

इस पद्य में आत्मसमर्पण का भाव है। परमात्मा के प्रति आत्मा को किस प्रकार समर्पित कर देना चाहिए, यह बात इस कविता में बतलाई गई है। अनाथी मुनि जो बात कह रहे हैं, वही बात थोड़े से फेर-फार के साथ कवि ने अपनी भाषा में कही है ।

परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण किस प्रकार करना चाहिए, यह बात तुलसीदासजी की कविता से समझो। परमात्मा दीन-दयालु कहलाता है। आप अपने विषय में विचार करो कि क्या तुम स्वयं 'दीन' बने हो ? अगर तुम 'दीन' नहीं बने तो 'दीनदयालु' के साथ तुम्हारा सम्बन्ध किस प्रकार जुड़ सकता है ?

दीन किस प्रकार बना जा सकता है ? जब तक अहंकार है तब तक दीन नहीं बना जा सकता। दीन बनने के लिए अहंभाव का त्याग करना आवश्यक है। अतएव अभिमान को छोड़ कर दीन बनो। व्यवहार में तो न जाने किस-किस के सामने, कितनी बार, दीन बनना पड़ता है, परन्तु परमात्मा के आगे दीन बनने में सकुचाते हो। विवाह होने पर घर में दीन बनते हो या नहीं ? जैसे कुत्ता रोटी के लिए पूंछ हिलाता है और पेट दिखलाता है, उसी प्रकार तुम भी स्त्री के आगे दीन बन जाते हो या नहीं ? विषय वासना होने के कारण आत्मा में दीनता आ ही जाती है। बड़े बड़े महाराजा भी वेश्या के वश में होकर उसके सामने दीन बन जाते है— उसके गुलाम हो जाते हैं।

कहने का आशय यह है कि आत्मा मे दीन होने का स्वभाव

तो है, परन्तु परमात्मा के सामने दीन बनने मे कठिनाई आती है। किन्तु जब अहंकार का परिहार करके परमप्रभु के समक्ष दीनता धारण करोगे तभी इष्टसिद्धि हो सकेगी। कवि आनन्दघन जी ने कहा है —

> प्रीति सगाइ रे जग म सो करे,
> प्रीति सगाई न कोय
> प्रीति सगाइ निरुपाधिक कही,
> सोपाधिक धन खोय ॥

प्रीति, सगाई, दीनता सब करते हैं और ऐसा करते करते अनन्त काल व्यतीत हो गया है; परन्तु इस प्रकार की दीनता सोपाधिक दीनता है। निरुपाधिक दीनता नहीं। सोपाधिक दीनता से दीनता बढती है, घटती नहीं है। इस तरह की दीनता से आत्मा भिखारी ही रहता है।

कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति मे हमे क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि अपनी समस्त भावनाएँ परमात्मा को अर्पित कर दो और अभिमान का त्याग करके दीन बन जाओ। गरीब से गरीब और बडा साहकार भी ऐसा कर सकता है। अंधा, बहिरा, लूला या चाहे जैसा अपंग हो, वह भी परमात्मा के सामने भावों का समर्पण करके दीन बन सकता है। ऐसा करने मे किसी भी प्रकार की बाधा आडी नहीं आती।

कदाचित् कहा जाय कि राजा आदि से प्रार्थना करके दीनता दूर की जा सकती है। किन्तु 'मैं दीन था और राजा से प्रार्थना की तो मेरी दीनता दूर हो गई' ऐसा मानना भूल है। राजा तो

दीनता दूर करने के बदले उसे बढ़ाता है। दीनता किस प्रकार बढ़ती है, यह बतलाने के लिए शास्त्र में कपिल का उदाहरण प्रसिद्ध है।

कपिल दो माशा सोने के लिए घर से निकला था। परन्तु राजा ने यथेष्ट माँगने की अनुमति दे दी तो उसका लोभ बढ़ गया। यहाँ तक कि वह राजा का सम्पूर्ण राज्य माँग लेने का विचार करने लगा और निष्कंटक बनने के इरादे से राजा को कैद करने का मनोरथ करने लगा। किन्तु अचानक ही उसकी विचारधारा पलट गई और वह साधु बन गया। राजा ने पूछा—बोलो, क्या माँगते हो?

कपिल— मुझे जो चाहिए था सो मिल गया।

राजा— क्या हुआ? साधु कैसे बन गये?

कपिल—माँगने का विचार करते-करते मैंने सोचा कि आपका समस्त राज्य ले लूँ और आपको कारागार में डाल दूँ। मगर इतने पर भी तृष्णा उपशान्त न हुई। तब मैंने यह स्थिति अंगीकार की। अब मुझे शान्ति मिली है। मै राज्य आदि की खटपट में नहीं पड़ना चाहता।

राजा— मै अपने वचन पर अब भी दृढ़ हूँ। मै आजीवन तुम्हारा सेवक बनकर रहूँगा, तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम चाहो तो आनन्द से राज्य का उपभोग करो।

कपिल— अब मुझे राज्य का मोह नहीं रहा। मै राज्य से भी बड़ी वस्तु पा चुका हूँ। पर एक बात तो बतलाइए, मैंने सचमुच ही सारा राज्य माँग लिया होता तो आप मेरे बैरी बन जाते या नहीं।

राजा — हाँ, उस अवस्था में तो वैर बँध ही जाता।

कपिल— लेकिन अभी तो आप स्वयं राज्य देने को तैयार हैं। यह मेरे त्याग का ही प्रताप है। जिस त्याग को अपनाने ही राज्य मिल रहा है, उसका कितना बड़ा महत्व है ? तो फिर राज्य के लिए त्याग का त्याग करना कहाँ तक उचित है ?

राजा — महाराज, आपका मोह दूर हो गया है, अत आपसे कुछ भी कहना वृथा है। आप मुझे उपदेश दीजिए, जिससे मैं भी आत्मा का कल्याण कर सकूँ।

कपिल राजा को उपदेश देकर जगल मे चले गये। वहाँ जाकर पाँच सौ भयानक चोरों को उपदेश देकर सुधारा।

मतलब यह है कि दीनता दिखलाने का स्वभाव तो प्रत्येक मे होता है, किन्तु प्राय ऐसे लोगों के सामने दीनता दिखलाई जाती है, जिनके सामने दीनता दिखलाने से दीनता बढती है, घटती नहीं। जिन्हें अपना नाथ बनाया जाता है, वही अनाथ बना देते हैं। ऐसे लोगों के पास जाने से दीनता दूर नहीं हो सकती। वे स्वय दीन और अनाथ है तो दूसरे की दीनता एव अनाथता किस प्रकार दूर कर सकते है ?

इसी कारण मुनि राजा श्रेणिक से कहते है — राजन्, तुम्हें सनाथ और अनाथ का स्वरूप विदित नहीं है। मैं स्वय अनाथता की स्थिति मे रह चुका हूँ। अतएव उसी स्थिति का वर्णन करके तुम्हें अनाथता का स्वरूप समझाता हूँ। चित्त को एकाग्र करके मेरा वृत्तान्त सुनो।

देखा जाता है कि जब काम निकल जाता है तो दु ख भुला दिया

जाता है। जब तक मस्तक पर दुःख का भार बना रहता है, तब तक ही मनुष्य दुःख का रोना रोता रहता है। दुःख दूर होते ही उसे ऐसा भुला दिया जाता है, मानो दुःख कभी हुआ ही नहीं था। किन्तु लोग अगर अपने भूतकाल को न भूल जाएँ तो वे किसी के प्रति घृणा न करें। ऐसे मनुष्य को कोई दुखी जीव दृष्टिगोचर होगा तो वह सोचेगा कि ऐसी दुःखमय स्थिति तो मेरी आत्मा भी भोग चुका है। तुम किसी कसाई को देखोगे तो तिरस्कार की दृष्टि से देखोगे, किन्तु ज्ञानी पुरुष उसकी ओर भी मध्यस्थ दृष्टि ही रक्खेगा। वह जानता है कि मै इससे कैसे घृणा करूँ। मेरा आत्मा भी इस स्थिति में रह चुका है। यह तो अपने-अपने कर्म का फल है।

मुनि कहते हैं—राजन्! जिन वस्तुओं के कारण तुम अपने को सनाथ समझते हो, वह वास्तव में सनाथ बनाने वाली हैं या अनाथ? यह बात तुम मेरे वृत्तान्त से जान लो। मेरे पास भी यह सब वस्तुएँ थीं। फिर भी मै अनाथ था। क्यों अनाथ था? सुनिये:—

कोसम्बी नाम नयरी, पुराणपुरभेयणी।
तत्थ आसी पिया मज्झं, पभूयधणसंचओ॥ १८॥

अर्थ—कौशाम्बी नाम की नगरी अत्यन्त प्राचीन थी—प्राचीन कहलाने वाले नगरों में भी प्राचीन थी। उसमें मेरे पिताजी रहते थे, जिनके पास प्रचुर धन सञ्चित था।

व्याख्यान—मुनि अपना जन्म स्थान बतलाकर आत्मकथा

आरम्भ कर रहे हैं। वह कहते हैं—भारतवर्ष में कौशाम्बी नाम की प्रसिद्ध नगरी थी। वह बहुत प्राचीन नगरी थी। प्राचीन और नवीन नगर में क्या भेद होता है। यह तो तुम्हें ज्ञात ही है।

साधारणतया ऐसा कोई नियम नहीं है कि नयी वस्तु खराब ही होती है और न सब प्राचीन वस्तुएँ अच्छी ही होती हैं, तथापि पूर्वापर का विचार करने पर ज्ञात होगा कि नवीन की अपेक्षा पुरातन का मूल्य अधिक होता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि कोयला और हीरा के परमाणु एक ही होते हैं, परन्तु जो कोयला जल्दी खोद लिया जाता है, वह कोयला ही रह जाता है, किन्तु जो जल्दी नहीं खोदा जाता और लम्बे समय तक जमीन में दबा रहता है, उसका मूल्य बढ जाता है। इसी प्रकार मनुष्यों में जो अधिक अनुभवी होता है उसकी कीमत अधिक आँकी जाती है। और भी दूसरी वस्तुएँ हैं जो सिर्फ पुरानी होने के कारण ही कीमती गिनी जाती हैं। पर्वत, वृक्ष और नगर आदि, जो प्राचीन होते हैं, उनकी कीमत ज्यादा आँकी जाती है।

हाँ, तो मुनि ने कहा—कौशाम्बी नगरी प्राचीन थी। इस कथन का अभिप्राय यह है कि उस नगरी की स्थिति ऐसी थी, वहा के सस्कार इतने सुन्दर थे, कि प्राचीन होने पर भी वह टिकी हुई थी। अनेक आघात प्रत्याघात सहन करके भी जो नगर टिका रहता है, नष्ट नहीं होता, उस नगर में कोई विशेषता अवश्य होती है। आज भी प्राचीन नगरों की खोज बीन की जाती है और उससे पता चल जाता है कि वह नगर कैसा था, उसकी रचना कैसी थी, वह कैसा समृद्ध था और किस स्थिति में था।

प्रश्न होता है—मुनि अनाथता का स्वरूप बतलाना चाहते हैं तो नगरी का वर्णन करने का उद्देश्य क्या है? मेरे ख्याल से नगर के लोग समझते हैं कि हमें नगर में जो सुविधाएँ मिलती हैं, वह ग्राम्य लोगों को नहीं मिल सकतीं। इस विचार से नागरिकों को अभिमान होता है। नगरनिवास को भी वे अपनी विशिष्टता समझते हैं। मुनि ने कौशाम्बी को सब नगरों में अत्यन्त प्राचीन बतला कर सूचित कर दिया है कि वह नगरी साहित्य और सुविधाओं से परिपूर्ण होने पर भी मै वहां अनाथ था। मेरी अनाथता का निवारण वहाँ भी नहीं हो सका।

अब अनाथ मुनि अर्थापत्ति अलकार द्वारा अपने जन्मस्थान का परिचय देते हैं और अपनी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं। कहते हैं—राजन्, उस कौशाम्बी नगरी में मेरे पिता रहते थे।

मुनि यह नहीं कहते कि मै वहां रहता था या मेरा जन्म वहाँ हुआ था; वे यही प्रकट करते हैं कि मेरे पिता वहाँ रहते थे। इस प्रकार अर्थापत्ति अलंकार द्वारा उन्होंने अपने जन्मस्थान का परिचय दिया है।

अर्थापत्ति अलंकार न्याय का एक सिद्धान्त है। मान लीजिए, किसी ने किसी को स्वस्थ और बलवान् देखकर कहा—'जान पड़ता है तू खूब खाता है।' तब उसने उत्तर दिया—'नही, मै कभी दिन में नहीं खाता।' इस कथन से यह अर्थ नहीं निकलता कि वह भोजन नहीं करता। वह भोजन तो करता है, पर दिन में नहीं करता, अर्थात् रात्रि में करता है। इसी को अर्थापत्ति अलंकार कहते हैं।

इसी प्रकार मुनि ने राजा से कहा—कौशाम्बी म मेरे पिता रहते थे। यहाँ पिता का निवासस्थान बतला कर उन्होंने अपना ज मस्थान प्रकट किया है। महापुरुष अपनी महत्ता का बखान नहीं करते, वे अपने गुरुजनों को महत्ता प्रदान करते हैं। जैसे सुधमा स्वामी ने शास्त्रों का वर्णन करते हुए जगह-जगह कहा है कि मैंने भगवान् महावीर स्वामी से ऐसा सुना है। वह चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। फिर भी उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि मैं ऐसा कहता हूँ। इस प्रकार प्राचीन काल के लोग अपनी नहीं, अपने बड़ों की--पूर्वजों की महत्ता बढाते थे। आप भी अपने पूर्वजों का स्मरण करते हैं या नहीं ?

आजकल के कोई कोई पढ़े लिखे कहलाने वाले लोग तो यहा तक कह बैठते हैं कि पहले के लोग तो पागल और मूर्ख थे। यही, नहीं, कितनेक तो अपने पिता को भी भूल जाते हैं। किन्तु विवेक शील पुरुष अपने पिता को आगे रखते हैं और उनकी प्रतिष्ठा बढाते ह। वे अपने पिता की प्रतिष्ठा मे ही अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं।

सुना था, चीन मे कोई मनुष्य उत्तम कार्य करता है तो उसके पिता को पदवी प्रदान की जाती है और इसी रूप मे उसकी कद्र की जाती है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि पिता ने जब पुत्र के जीवन को श्रेष्ठ सस्कारों से सस्कृत बनाया, तभी वह इतना सुयोग्य बन सका। अतएव अपने पुत्र के उत्तम कार्य के लिए उसका पिता ही प्रतिष्ठा का पात्र है। आशय यह है कि बुद्धिमान् लोग अपने पूर्वजों को सदैव आगे रखते हैं और अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा मे ही अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं।

इसी कारण अथवा किसी अन्य कारण से मुनि ने राजा से कहा--मेरे पिता कौशाम्बी नगरी में रहते थे और वहाँ प्रचुरधन-सचयी थे। यह कह कर मुनि ने यह सूचित कर दिया है कि वे प्रसूत धन-सम्पत्ति और ऋद्धि-समृद्धि से सम्पन्न पिता के पुत्र हैं। लक्ष्मीवान् पिता का पुत्र भी लक्ष्मीवान् होता है। इस प्रकार मुनि के कथन का आशय यह निकलता है कि इतनी विपुल विभूति होने पर भी मै अनाथ था।

मुनि का यह कथन सुनकर राजा सोचने लगा--यह मुनि इतने अधिक सम्पत्तिशाली थे तो फिर अपने को अनाथ क्यों कहते हैं ?

मुनि अपनी अनाथता को किस प्रकार प्रकट करते हैं, इसका विचार आगे किया जाएगा। अभी सिर्फ यही कहना है कि भले कोई करोड़पति का लड़का क्यों न हो, मुनि के कथन के आधार पर यही समझना चाहिए कि जब तक आत्मा अनाथ है, तब तक धन व्यर्थ है। किसी के पास कितनी ही सम्पत्ति और सुविधा क्यों न हो, इतने मात्र से वह सनाथ नही बन सकता। शास्त्र के इस कथन पर श्रद्धा रखकर तुम्हें यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि सांसारिक वस्तुओं की बदौलत तुम चाहे कितना ही ऊँचा पद क्यों न प्राप्त कर लो, पर उनसे आत्मा सनाथ नहीं बन सकता। धन से आत्मा अनाथता दूर करके सनाथ नहीं बनता।

वास्तव में धर्म का धन के साथ कोई संबंध नहीं है। धन से धर्म की प्राप्ति हो भी नहीं सकती। चाहे कोई निर्धन हो अथवा सधन, वह भावना जागृत होने पर धर्म को अंगीकार कर सकता

है। धन की बदौलत बहुत बार भीषण अनर्थ होते हैं। जैसे दामोदरलाल (नाथद्वारा के महंत) धन के कारण ही वेश्या के फंदे में फँसे और अन्त में हृदय की गति बंद हो जाने के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए। धनमद में उन्मत्त होकर उन्होंने लाखों की सम्पत्ति नष्ट कर डाली। अपनी साम्प्रदायिक परम्परा को भी भंग किया और प्राणों से भी हाथ धो बैठे। कौन जाने परलोक में उनकी क्या दशा होगी ? इस प्रकार बहुतेरे मनुष्य ऋद्धि पाकर कुमार्ग में चले जाते हैं। ऋद्धिमान् होकर सन्मार्ग पर चलने वाले और मर्यादा का पालन करने वाले बिरले ही होते हैं। जो धन मनुष्य को कुपथगामी बनाता है, उसे पा लेने मात्र से कोई सनाथ कैसे हो सकता है ? यही कारण है कि प्रचुर धनसंचयी पिता के पुत्र होकर भी मुनि अपने को अनाथ मानते हैं।

जिसकी अधनीता में रहने वाले दूसरे लोग भी धनवान् बन जाएँ उसे प्रचुर धनसचयी कहते ह। जैसे पण्डित के पास रहने वाला मूर्ख भी पण्डित बन जाता है और डाक्टर के पास रहने वाला रोगी भी अच्छा हो जाता है, उसी प्रकार जिसके आश्रय में रहने वाला निर्धन भी धनवान् बन जाय, वह प्रचुरधनसचयी कहलाता है।

मुनि ने अपने पिता को प्रचुरधनसचयी कहा है इसका अर्थ यही है कि उनके पिता के आश्रय में रहकर अनेक निधन भी सधन बन गए थे।

मुनि के कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं था। राजा जानता था कि कौशाम्बी पुरानी नगरी है और वहाँ बड़े-बड़े

सनाढ्य रहते हैं। मगर उसके हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि फिर मुनि अनाथ क्यों थे? राजा ने अपने मनोभाव मुनि के सामने प्रकट कर दिये। तब मुनि बोले:--

पढ़मे वये महाराय, अतुला मे अच्छि वेयणा।
अहोत्था विउलो दाहो, सव्वंगेसु पत्थिवा ॥१९॥
सत्थं जहा परमतिक्खं, सरीरविवरंतरे।
पविसिज्ज अरी कुद्धो, एवं मे अच्छिवेयणा ॥२०॥
तियं मे अन्तरिच्छं च, उत्तमंगं च पीडइ।
इन्दासणि समा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥२१॥
उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जा-मंत-चिगिच्छया।
अबीया सत्थकुसला, मन्तमूलविसारया ॥२२॥
ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति, चाउप्पायं जहाहियं।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अवणाहया ॥२३॥

अर्थः—हे महाराज, हे पृथ्वीपति, युवावस्था के प्रारंभ में, मेरी आँखों में अनुपम वेदना उत्पन्न हो गई और सम्पूर्ण शरीर में प्रचण्ड दाह भी उत्पन्न हो गया।

जैसे कुपित हुआ बैरी शरीर के छिद्रों में तीक्ष्ण शस्त्र घुसेड़े तो उस समय जैसी वेदना हो, वैसी ही वेदना मेरी आँखों में हो रही थी।

हृदय, कमर तथा मस्तक में भी ऐसी असह्य और दारुण

वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र के वज्राघात से घोर वेदना हो रही हो।

विद्या, मन्त्र तन्त्र औषध से रोग निवारण करने में कुशल, असाधारण चिकित्सा शास्त्र में पारगत आचार्य चिकित्सक मेरी चिकित्सा करने के लिए आये।

वे चिकित्साचार्य चार प्रकार से—रोग का निदान करना, औषध देना, पथ्य सेवन करना और परिचर्या कराना, अथवा वमन, विरेचन, मर्दन और स्वेदन, अथवा अजन, बंधन, लेपन और मर्दन से—मेरी चिकित्सा करने लगे, किन्तु मुझे दुख से मुक्त न कर सके यही मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान —मुनिराज कहते हैं—राजन्। मैं अपनी अनाथता की व्याख्या करता हूँ। मैं प्रचुरधनसचयी का पुत्र था। मेरा लालन पालन अत्यन्त दक्षता और सावधानी से हुआ था। मेरे यहाँ किसी भी साधन की कमी नहीं थी। मेरी बाल्यावस्था बड़े ही आनन्द के साथ व्यतीत हुई थी। उस समय भी किसी चीज की कमी नहीं थी।

मैं जब युवक हुआ तब योग्य तरुण कन्या के साथ मेरा विवाह हुआ। तुम जिस उम्र को भोग के योग्य बतलाते हो और जिन्हें भोग के साधन कहते हो, वह सब साधन मेरे पास विद्यमान थे, फिर भी मेरी क्या दशा हुई, यह ध्यानपूर्वक सुनो। युवावस्था मे मेरे शरीर में रोग उत्पन्न हो गया। घोर वेदना होने लगी। पहले पहल वेदना ने मेरी आँखों मे खटका उत्पन्न किया।

आँख सारे शरीर में सारभूत मानी जाती है। आँखें देखने

मात्र से सब को पहचाना जा सकता है। आँखों के अभाव में सारा संसार अन्धकारमय प्रतीत होता है। भले करोड़ सूर्य उदित हो जाएँ, अगर आँख नहीं तो उन सब का प्रकाश निरर्थक है।

इस शरीर में आँखों का इतना अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु आँखें होने से आत्मा में सनाथता आती है या अनाथता, यह बात अनाथ मुनि के कथन एवं वृत्तान्त से समझो। मुनि ने आँखों द्वारा सुन्दर दृश्य देखे होंगे और उत्तम-उत्तम पदार्थ भी देखे होंगे और आँखों को ठीक रखने के लिए अंजन या सुरमा का भी प्रयोग किया होगा, आँखों को ठंडक पहुँचाने के लिए शीतल पदार्थों का सेवन भी किया होगा। इतनी सार-सँभाल करने पर भी मुनि की आँखों में वेदना क्यों उत्पन्न हुई ?

इस अध्ययन में अब तक जो कहा गया है और आगे जो कहा जायगा, उसका आशय प्रकट करते हुए मुनि कहते हैं-मेरे पास सभी साधन विद्यमान थे। मै स्वयं आँखों को ठीक रखना चाहता था, उनकी सार-सँभाल भी करता था। फिर भी न जाने क्यों, आँखों में दुस्सह वेदना उत्पन्न हो गई। उस भयंकर वेदना के कारण मन में विचार आता-आँखे ही न होतीं तो कितना अच्छा होता। इतनी दुस्सह वेदना तो न सहनी पड़ती। राजन् ! इतनी सार-सँभाल और सावधानी रखने पर भी जब आँखों में असह्य वेदना उत्पन्न हुई तो मुझे लगा कि मै अपनी आँखों का नाथ नहीं हूं। नाथ होता तो इतनी सुरक्षा करने पर भी क्यों वेदना उत्पन्न होती ?

जो कहते या समझते हैं कि-'यह आँखें मेरी है' वे भूल करते हैं। वे आँखों में अपना आरोपण कर लेते हैं। किन्तु जो अपनी

आज्ञा नहीं मानता-अपनी इच्छा पर नहीं चलता, उसे अपना कैसे माना जा सकता है ? तुम अपने को किसी मनुष्य का मालिक मानते हो, परन्तु वह तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल व्यवहार करता है, तो वास्तव मे तुम अपने को उसका मालिक किस प्रकार कह सकते हो ?

मुनि ने कहा-मुझे पहले इस बात का भान नहीं था, किन्तु जब नेत्रों में पीड़ा उत्पन्न हुई, तब भान हुआ कि मैं आँखों का नाथ बन कर क्या अभिमान करता हूँ ? ससार के पदार्थों को देख-देख कर धोखा खा रहा हूँ।

मुनि आगे कहते हैं—आँखों मे वेदना होने के साथ ही मेरे शरीर में खूब दाह उत्पन्न हो गया। शरीर के किसी एक अ ग में ही दाह उत्पन्न नहीं हुआ, मगर सम्पूर्ण शरीर मे इस प्रकार की जलन पैदा हो गई मानो शरीर को आग में झौंक दिया हो ।

कोई मनुष्य तुम्हारे शरीर पर दहकता हुआ अगार फैंक दे अथवा आँख मे सुई चुभा दे तो उसे तुम अपना शत्रु या अपराधी मानोगे या नहीं ? इस प्रकार बाहर से सुई भौंकने वाले या आग से जलाने वाले को तो अपराधी या शत्रु मान सकते हो, किन्तु बाहर कोई शत्रु या अपराधी दिखाई न देता हो तब क्या समझा जाय ? मुनि की आँखों में कौन सुई-सी चुभा रहा था ? कौन उन्हें जला रहा था ? वह वैरी कौन था ? तुम बाहर के मनुष्य को तो वैरी या अपराधी समझ लेते हो परन्तु यह नहीं देखते कि तुम स्वय ही अपने वैरी और अपराधी बन रहे हो।

मुनि कहते हैं--राजन् ! तुम राज्य का संचालन करते हो।

तुम्हारे सामने कोई किसी की आँखों में भाला भौंके या शरीर को जलावे तो तुम खड़े-खड़े चुपचाप देखते रहोगे ?

राजा—मुझे स्मरण नहीं आता कि किसी ने अपराध किया हो और मैंने उसे दंड न दिया हो।

मुनि–राजन् ! बाहर का अपराधी होता तो कदाचित् मैं अपनी रक्षा कर सकता; किन्तु मुझ पर जिस क्रूर रोग ने आक्रमण किया, उससे मुझे बचाने वाला कौन था ?

राजन्, मै तुमसे एक प्रश्न करता हूँ। तुम्हारे राज्य में कोई किसी पर हमला करे तो तुम रोकते होगे और उसे दंड भी देते होगे। परन्तु क्या तुम्हारे राज्य में कभी रोग का आक्रमण नहीं होता ? उस रोग को दूर करने के लिए और प्रजा को रोग से बचाने के लिए किसी दिन दौड़े हो ? और रोग से प्रजा की रक्षा की है ? अगर तुम रोग से प्रजा की रक्षा नहीं कर सके तो प्रजा के नाथ कैसे कहे जा सकते हो ? अरे, प्रजा का नाथ होना तो दूर की बात है, तुम अपने भी नाथ नहीं बन सकते। अतएव विचार करो कि मै कैसा अनाथ हूँ ?

कदाचित् कहोगे कि रोग से कैसे रक्षा की जा सकती है ? परन्तु मै पूछता हूं कि आखिर रोग क्या चीज है ? रोग और कुछ नहीं, यह आत्मा ही रोग है। तुम बाहर के शत्रुओं को तो देख सकते हो, पर भीतर जो शत्रु छिपे बैठे हैं, उन्हें क्यों नहीं देखते ? अगर तुम अपने भीतर विद्यमान शत्रुओं को नहीं जीत सकते तो फिर नाथ कैसे ? ऐसी स्थिति में तो तुम स्वयं ही अनाथ हो।

मुनि का कथन सुनकर राजा ने कहा-- आपको ऐसी असह्य

वेदना हुई थी ? तब मुनि बोले– क्या कहूं राजन् । आँखों में ऐसी दुस्सह वेदना होती थी, जैसे कोई महान् तीक्ष्ण भाला लेकर आँखों में भोंक रहा हो। राजन्, अब तुम्हीं विचार कर देखो कि उस समय जो शत्रु मुझे कष्ट दे रहा था, उसे पराजित न कर सकने वाला सनाथ है या अनाथ ? एक ओर नेत्रों में पीड़ा हो रही थी और दूसरी ओर मेरी कमर में भी वेदना हो रही थी। साथ ही जो उत्तमाग कहलाता है, और जो ज्ञान का केन्द्रभूत है, उस मस्तक में भी ऐसी घोर पीड़ा हो रही थी, मानो इन्द्र वज्र मार रहा हो या बिजली पड़ रही हो। इस प्रकार मेरा समस्त शरीर दारुण वेदना से व्याप्त था।

कहोगे कि उस पीड़ा को दूर करने के लिए वैद्यों की सहायता लेनी थी। परन्तु राजन्, मैंने बड़े-बड़े वैद्यों की सहायता ली। औषध सेवन करने में किसी प्रकार की कमी नहीं रहने दी। मैं किसी छोटे-मोटे गाँवड़े में तो रहता नहीं था, कौशाम्बी जैसी प्राचीन नगरी में रहता था। वहाँ के पुराने प्रसिद्ध और अनुभवी आयुर्वेदाचार्य मेरी चिकित्सा करने के लिए पैरों पर खड़े रहते थे। वे साधारण वैद्य नहीं थे वरन् वैद्यक शास्त्र में पारगत एव शस्त्र क्रिया में भी कुशल थे। ऑपरेशन करने में ऐसे दक्ष कि बीमार को पता भी न चले। वे वैद्य मंत्र विद्या में विशारद थे। ऐसे अनुभवी और कुशल वैद्य भी मेरी चिकित्सा करते-करते थक गये, परन्तु मेरी वेदना को दूर न कर सके। मैं ऐसा अनाथ था।

महाराज, तुमने जिस शरीर की प्रशसा की और जिसे भोग के योग्य बतलाया है, उसी शरीर में ऐसी दारुण वेदना उपजी थी।

अब तुम्हीं कहो कि उस समय मै सनाथ था या अनाथ ?

उस समय मेरे मन में विचार आया— मै इस शरीर के कारण ही कष्ट भुगत रहा हूँ। विप मिल जाय तो उसका पान करके मर जाऊँ और किसी प्रकार इस असह्य यातना से छुटकारा पाऊँ। फिर मुझे खयाल आया कि जिस शरीर की बदौलत मुझे इतने कष्ट झेलने पड़ रहे हैं, उस शरीर का अपने आपको नाथ समझना धिक्कार की बात है। राजन्, मुझे जैसा रोग हुआ था, वैसा तुम्हें भी तो हो सकता है ?"

श्रेणिक आज यहाँ नहीं है, पर आप लोग तो हैं। जैसे अनाथ मुनि ने श्रेणिक से प्रश्न किया था, उसी प्रकार मै आपसे पूछता हूं— रोग तुम्हें भी हुआ होगा ? उस समय यह शरीर कितना कष्टदायक प्रतीत होता था ? किन्तु वास्तव में ही अगर शरीर कष्टदायक लगा होता तो आप ऐसे प्रयत्न करते कि इस शरीर में रहना ही न पड़े। सदा के लिए अशरीर अवस्था प्राप्त हो जाय। परन्तु कष्ट से मुक्त होने के बाद कष्ट का स्मरण ही नहीं रहता।

जीव विचार करता है कि मै इस देह का स्वामी हूँ। यह देह मेरी है, मेरे अधीन है। इस प्रकार शरीर के प्रति ममत्व धारण करके वह देह का स्वामी बनता है, किन्तु सचाई यह है कि जीव का शरीर पर जितना ही अधिक महत्व होता है, जितना ही वह इसका स्वामी बनना चाहता है, उतना ही अधिक अनाथ बनता है।

व्यवहार मे किसी को वीर और किसी को कायर कहा जाता है। पर वीर और कायर की व्याख्या क्या है ? किस कारण एक

को वीर और दूसरे को कायर कहा जाता है ? इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

कोई भी मनुष्य कायरों की श्रेणी में अपना नाम नहीं लिखाना चाहता। सभी अपने को वीर कहलवाना चाहते हैं। परन्तु वीर बनने के लिए वीरता धारण करनी पड़ती है। युद्ध की भेरी बजती है तो वीर पुरुष अपनी वीरता दिखलाने के लिए बाहर आता है और अपनी पत्नी तथा पुत्र को भी भूल जाता है। यही नहीं, अपने शरीर की भी परवाह न करता हुआ, प्राणों को हथेली पर रखकर संग्राम करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार की वीरता का प्रदर्शन करने से ही कोई वीर कहला सकता है। परंतु जो वीरवृत्ति नहीं धारण करता, वह व्यवहार में भी वीर नहीं कहलाता।

जब लौकिक वीर को भी इतनी वीरता दिखलानी पड़ती है तो लोकोत्तर वीर को कितनी वीरता न दिखलानी पड़ती होगी ? लोकव्यवहार में भी जो मनुष्य शरीर के प्रति ममत्व रखता है, वह कायर कहलाता है और जो शरीर का ममत्व त्याग देता है, वह वीर माना जाता है। इस प्रकार जो लोग शरीर के ममत्व का त्याग करके कर्मों के साथ युद्ध करने के लिए अग्रसर होते हैं, वे क्या वीर नहीं हैं ? निस्सन्देह वे वीर हैं। इस प्रकार जो वीर है वही नाथ बन सकता है, और जो शरीर पर ममत्व रखता है वह कायर, नाथ नहीं बन सकता। वह तो अनाथ ही है।

मुनि कहते हैं—राजन्, तुम अपने को इस शरीर का नाथ समझते हो, शरीर को अपना मानते हो, परंतु जरा विचार तो

कर देखो कि इस पर तुम्हारा आधिपत्य भी है या नहीं ? जो बात सिन्धु में होती है, वही बिन्दु में होती है। इस कथन के अनुसार मैं मानता हूं कि जो बात मुझ पर बीती, वही दूसरों पर भी बीतती होगी। मै भी अपने आपको शरीर का स्वामी समझता था। मगर इस मान्यता के कारण मुझ पर जो बीती, वह सुनिए: —

मेरी युवावस्था थी। युवावस्था में विरला ही कोई होगा जो दीवाना न बन जाता हो। इस अवस्था में रक्त में उष्णता होती है, अतएव प्राय: लोग दीवाने हो जाते हैं। अच्छे-अच्छे घरानों की सुन्दरी स्त्रियों के साथ मेरा विवाह-संबंध हुआ था। वह समय मेरे लिए रमणियों को और उनके श्रृंगार को देखकर आनन्द मानने का था, किन्तु उन्हें देखने का साधन – मेरे नेत्र–ही बिगड़ गए। आँखों की असह्य वेदना के कारण मै कुछ भी आनन्द नहीं लूट सकता था।

आँखें खराब हो जाने पर आनन्दप्रद वस्तुएँ भी किस प्रकार खराब दिखाई देने लगती हैं, यह बात एक उदाहरण से समझिए।

कल्पना करो, किसी मनुष्य ने चित्रशाला बनवानी आरम्भ की। चित्रशाला बनवाने में उसने पूर्ण उदारता दिखलाई। मुक्तहस्त हो खर्च किया। किन्तु जब चित्रशाला बनकर तैयार हुई, तब भाग्य से वह अंधा हो गया। इस कारण चित्रशाला उसके लिए आनन्द-प्रद होने के बदले दु:खदायक हो गई। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पर–पदार्थ को सुख का साधन मानना विवशता और दु:ख का ही आह्वान करना है।

यह आत्मा यही भूल कर रहा है। वास्तव में जिसे देखता है,

उसे भूल जाता है और पर के आधीन हो जाता है। जिसे देखना चाहिए, उसे देखता नहीं और भिन्न पदार्थों को देखने में ही जुट जाता है। इस प्रकार वह आँखों के अधीन हो जाता है। वह सोचता है–आँखें तो पदार्थों को देखने के लिए ही हैं। परन्तु उसे यह खयाल नहीं आता कि आँखों को अपनी मानकर उनके अधीन हो जाना अनाथता को अपनाना है। अज्ञान जन इस संबंध में गंभीर विचार न करके आँखों में और आँखों द्वारा दृश्य पदार्थों में लिप्त हो जाते हैं, किन्तु ज्ञानी जन लिप्त नहीं होते।

आँखों का उपयोग कहाँ और किस प्रकार करना चाहिए, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हूं। मान लो, आपके किसी मित्र ने आपको एक सूक्ष्मदर्शक यंत्र दिया। इस यंत्र से, जो सूक्ष्म वस्तु आँखों द्वारा नहीं देखी जा सकती थी, वह देखी जा सकती है। आपके मित्र ने इसी उद्देश्य से आपको यंत्र दिया भी था। पर उस यंत्र से आप सूक्ष्म वस्तु न देखकर गाय-भैंस देखने लगे। आपने नहीं सोचा कि गाय-भैंस तो हमेशा यों ही देखते रहते हैं। उनके देखने में यंत्र की क्या उपयोगिता है? उसकी सच्ची उपयोगिता तो उन सूक्ष्म वस्तुओं को देखने में है जो यंत्र के बिना आँखों से नहीं दिखाई देती।

सुना जाता है, आजकल तो ऐसे-ऐसे यंत्रों का आविष्कार हो गया है कि जिनकी सहायता से पेटी के अन्दर बंद की हुई वस्तु भी देखी जा सकती है और यह भी जाना जा सकता है कि पहाड़ के पीछे क्या है? यह बात कहाँ तक सत्य है, यह मुझे नहीं मालूम।

अच्छा, मूल बात पर आइए। आप गाय-भैंस को देखने में सूक्ष्मदर्शक यंत्र का उपयोग करें तो यह देखकर आपका मित्र नाराज होगा या नहीं? और सूक्ष्मदर्शक यंत्र का इस प्रकार दुरुपयोग करने वाला बुद्धिमान् कहलाएगा या मूर्ख? आप कहेंगे-वह मूर्ख है। यह ठीक भी है। परन्तु जरा आप अपने संबंध में विचार करो। आपसे भी ऐसी ही भूल तो नहीं हो रही है?

आप को सूक्ष्मदर्शक यंत्र मिल जाय, किन्तु आँखें न हों तो यंत्र का क्या उपयोग करेंगे? आँखों के अभाव में यंत्र से देख सकेंगे? इस दृष्टि से सूक्ष्मदर्शक यंत्र की अपेक्षा आँखें अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होती हैं। तो आपको इतनी महत्वपूर्ण आँखें जो मिली हैं, उनका आप क्या उपयोग कर रहे हैं? अगर यन्त्र का का दुरुपयोग करना मूर्खता है तो आँखों का दुरुपयोग करना क्या मूर्खता नहीं है?

आँखों का क्या मूल्य है और उसका किस प्रकार उपयोग करना चाहिए, इस संबंध में विचार करो। आँखों को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करके, जब तक पलक न गिराये जाएं तब तक मन भी एकाग्र रहेगा। यह तो द्रव्य-एकाग्रता है। अगर आँखों की ज्योति को अन्तर्मुखी बनाओ तो आत्मोन्नति भी होगी।

मत समझना कि किसी वस्तु को देख लिया तो बात वहीं की वहीं समाप्त हो गई। जिस वस्तु पर द्रष्टा की नजर पड़ती है, उसका संस्कार द्रष्टा के कार्मण शरीर पर भी पड़ता है। इसी कारण स्थानांगसूत्र में '<u>दिट्ठिया क्रिया</u>' अर्थात् देखने मात्र से भी क्रिया लगती है, ऐसा कहा गया है। कार्मण शरीर पर देखने का संस्कार

किस प्रकार पड़ता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए —

वट वृक्ष कितना विशाल होता है। वह भारत में ही उत्पन्न होता है, अन्य देशों में नहीं। अब कोई यहाँ से ले गया हो तो बात अलग है।

अगर आप वट वृक्ष से शिक्षा ग्रहण करें तो अपनी बहुत उन्नति कर सकते हैं। विष्णु को वटशायी कहा जाता है। इस कथन का वास्तविक आशय क्या है, यह बतलाने का अभी समय नहीं है। अभी आप यही विचार कीजिए कि वट का वृक्ष कितना विशाल होता है और उसका फल कितना छोटा होता है। वृक्ष को देखते उसका फल बहुत छोटा जान पड़ता है। परन्तु फल में रहा हुआ बीज तो और भी सूक्ष्म होता है। उस बीज को हाथ में लेकर कोई कहे कि इसमें विशाल वट वृक्ष है, तो आप कहेंगे-- कहाँ है बताओ तो सही। किन्तु बुद्धिमान् पुरुष यही कहेगा कि बीज में वृक्ष तो अवश्य है, किन्तु वह यों नहीं देखा जा सकता। पानी और मिट्टी के संयोग से बीज में वृक्ष देखा जा सकता है।

भगवान् का कथन है— औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण, शरीर के यह पाँच भेद हैं। तुम जो कुछ भी देखते हो, सुनते हो या स्पर्श करते हो, उस सब का संस्कार कार्मण शरीर में रहता है। अर्थात् आत्मा सम्बन्धी समस्त क्रियाओं के संस्कार कार्मण शरीर में विद्यमान रहते हैं।

कहा जा सकता है कि कार्मण शरीर कैसा होता है और उसमें संस्कार किस प्रकार रहते हैं, यह हमें बतलाइए ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जैसे बीज में वृक्ष रहता है, उसी

प्रकार कार्मण शरीर में संस्कार रहते हैं, जैसे बीज में वृक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु अनुकूल सयोग पाकर वह प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार कार्मण शरीर में विद्यमान सस्कार भी अनुकूल सयोग पाकर दिखाई देने लगते हैं। मृत्यु होने पर औदारिक शरीर छूट जाता है, किन्तु कार्मण शरीर जीव के साथ ही जाता है, कार्मण शरीर को लिगशरीर या सूक्ष्मशरीर भी कहते हैं। जैसे प्रतिकूल संयोगों मे वट का बीज वृक्ष को उत्पन्न नहीं करता, अर्थात् वृक्ष के रूप में फल-फूल नहीं सकता, उसी प्रकार कार्मणशरीरगत संस्कार भी दूसरे सस्कारों से नष्ट हो जाते हैं। अतएव कई बार वे संस्कार प्रकट नहीं होते; परन्तु तुम जो भी पुण्य या पाप करते हो, उस सब के संस्कार कार्मण शरीर मे अवश्य विद्यमान रहते हैं।

इस प्रकार आप जो कुछ देखते हैं, वह आपका देखना उसी समय नष्ट नहीं हो जाता, किन्तु उसका संस्कार रह जाता है। अतएव आँखों का किस प्रकार सदुपयोग करना चाहिए, इस संबंध में गहरा विचार करने की आवश्यकता है।

मुनि ने कहा— राजन्! मै उस समय कैसा अनाथ था। उस समय अनाथता के दुःख से दुःखित होकर मर जाता तो मेरे और तुम्हारे बीच में यह वार्त्तालाप भी न हो सकता। परन्तु मैंने विचार किया कि किसी भी उपाय से इस अनाथता को दूर करना चाहिए। यह सोचकर जब मैंने अनाथता से पिण्ड छुड़ाया तभी तुम्हारे साथ वार्त्तालाप करने का प्रसंग मिल सका है।

मान लीजिए, एक आँखों वाला मेला-ठेला आदि देखता फिरता

है। दूसरा आदमी अधा है। वह कहता है— क्या करूं! देखने की लालसा तो बहुत है, किन्तु दुर्भाग्य से आँखे ही नहीं हैं। इस प्रकार वह देख न सकने के कारण दुखी हो रहा है। तीसरे आदमी की आखों मे वेदना हो रही है, किन्तु वह कहता है— यह वेदना मेरी सहायक है। यह रोग मेरा परम मित्र है। मैं बाहर क्यों देखूँ, भीतर ही क्यों न देखूँ ?

इन तीन मे से आप किसे अच्छा कहेंगे ? आप तीसरे को अच्छा कहेंगे। ज्ञानी भी ऐसे ही होते है। वे सिर पर दुःख आ पडने पर भी घबराते नहीं। दुःख को अपना मित्र मानते है। जैसे चाबुक लगने पर उत्तम जाति का घोडा दौडने लगता है, उसी प्रकार दुःख आ पड़ने पर वे धर्म मे अधिक लग जाते हैं। जब कि अज्ञानी लोग थोडा सा दुःख आते ही रोने लगते है।

इस प्रकार ज्ञानी जन जिसे दिन मानते है, अज्ञानी उसे रात्रि मानते है और अज्ञानी जिसे दिन मानते है, ज्ञानी उसे रात्रि मानते हैं। ससार मे यह क्रम चलता ही रहता है। अतएव दुःख पडने पर आपको रोना नहीं चाहिए, किन्तु धर्म मे प्रवृत्त होना चाहिए। ज्ञानी जैसा ऊँचा विचार करते हैं, वैसा ही उच्च विचार तुम्हे भी करना चाहिए। तुम ऐसा उच्च विचार रक्खोगे तो शरीर मे रहते हुए भी अनन्त बली बन जाओगे। अत ससार की वस्तुओं के नाथ बनने का प्रयत्न न करते हुए अपनी आत्मा के नाथ बनो। तुम्हें सहज ही सब साधन प्राप्त हैं। इन साधनों द्वारा आत्मा का कल्याण कर लो। तुम दूसरों की दया लेते हो परन्तु हमारी भी दया ले देखो। तुम श्रावक हो और शास्त्र मे श्रावक को साधु का

माता-पिता कहा है। तुम किसी भी स्थिति में पहुंच गये होओ, पर जैसे वृद्ध और रुग्ण पिता को पिता ही माना जाता है, उसी प्रकार हमें भी श्रावकों को माता-पिता मानना चाहिए। हम इससे इंकार नहीं हो सकते। परन्तु तुम्हारे लिए भी यही उचित है कि हमारी बात पर पूरा-पूरा ध्यान दो। अगर तुम अपनी आत्मा को खराब कामों से दूर रक्खोगे तो तुम्हारा श्रावक पद शोभायमान होगा और आत्मा का कल्याण भी होगा।

अनाथ मुनि राजा श्रेणिक से कहते हैं- 'मै शरीर ही हू' ऐसा मानना भूल है। इस शरीर में विद्यमान आत्मा अपने आपको भूल रहा है और 'शरीर ही मै हूँ' इस प्रकार मान कर भ्रम में पड़ रहा है। ज्ञानी जन कहते हैं-- देहाभ्यास से छूटना जितना कठिन है, उतना ही मंगलकर भी है। जैसे जमीन को बहुत गहरा खोदने पर ही हीरा हाथ लगता है और एक ही हीरा हाथ लगने से सारी दरिद्रता दूर हो जाती है, उसी प्रकार शरीर का अभ्यास छूटना कठिन तो है, किन्तु यह अभ्यास छूटने पर किसी भी प्रकार का कष्ट या अज्ञान शेष नहीं रह जाता। अतएव शरीर को छोड़ने का अभ्यास करना चाहिए।

शरीराभ्यास का त्याग करने के लिए मै गणधरों की वाणी ही तुम्हारे समक्ष उपस्थित करता हूं। कहा है--

सन्ताचे उच्छिष्ट सांग तो मी बोल कायमी पामर जाणवे।

मेरे पास क्या रक्खा है ? मै तो गणधरों की ही वाणी तुम्हें सुनाता हूं। हाँ, उसे सरल करके अवश्य समझाता हूँ, जिससे तुम्हारी समझ में आ जाय।

गणधरों ने लोक के हित के लिए कितना अधिक प्रयत्न किया है, इस बात पर जरा विचार करो। अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक से जो कुछ कहा, उसे शास्त्र मे गूथ कर गणधर हमारे लिए कितनी बड़ी विरासत छोड़ कर गये हैं। जैसे पिता धन सचित करके पुत्र को विरासत में दे जाता है, उसी प्रकार गणधर श्रम करके हमें यह विरासत के रूप में यह आगम दे गये हैं। इन्हें ध्यान मे रक्खो और यदि वृद्धि नहीं कर सकते तो कम से कम उन्हे सुरक्षित तो रक्खो।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्। मेरी ऐसी अनाथता थी। मैं सब तरह अनाथ था। तुम जिस शरीर को देखकर चकित हो रहे हो, उसका सार रूप यह नेत्र हैं। इन नेत्रों मे ऐसी दारुण वेदना होती थी कि न पूछो बात।

प्रज्ञापनासूत्र मे कहा है—सारभूत प्रद्गल आँखों को मिलते हैं। आँखें ससार का रूप देखती हैं। इन आँखों ने न जाने ससार का कितना रूप देखा होगा। मैं इन अनमोल आँखों का दुरुपयोग कर रहा था, मानो अमृत से पैर धो रहा था।

सारभूत आँखों का खेल-तमाशा वगैरह देखने मे दुरुपयोग करना अमृत से पात्र धोने के समान ही है। परन्तु राजन्। यह बात पहले मेरी समझ मे नहीं आई थी। इसीलिए मैं आँखों का दुरुपयोग करता था। जब आखों में घोर वेदना उत्पन्न हुई, तभी मुझे भान हुआ कि मैं आँखों का दुरुपयोग कर रहा हूँ। अब मैं उस वेदना को महाशक्तिस्वरूप मानता हूँ। उस वेदना से मुझे दुःख तो अवश्य हुआ, किन्तु उस दुःख ने आत्मज्ञान उत्पन्न कर

दिया। राजन्, तुम जानते हो कि युवावस्था में सुख-सम्पत्ति और स्त्री का त्याग करना कितना कठिन है, किन्तु उस वेदना रूप महाशक्ति की कृपा से मैं उनका त्याग करने में समर्थ हो सका। अतएव वेदना को भले कोई दुःख रूप माने, परन्तु मेरे लिए तो वह वेदना कल्याणकारिणी ही सिद्ध हुई।

राजन्! वेदना को दुःखरूप मानना या सुखस्वरूप, इस संबंध में लोग गड़-बड़ में पड़ जाते हैं, यह स्वाभाविक है। किन्तु इस पर गहरा विचार किया जाय तो यह वेदना सुखरूप प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगी।

मान लो, किसी मनुष्य के हाथ में जहरीला फोड़ा हुआ है। अगर उस फोडे में से जहर न निकाल दिया जाय तो मृत्यु होना संभव है? इस स्थिति में डाक्टर अगर उस फोड़े को चीर कर जहर निकाले तो बीमार को वेदना तो होगी ही, परन्तु उसका परिणाम तो सुखद ही होगा। इस दृष्टि से डाक्टर को मित्र माना जाय या शत्रु? मौत के मुँह में से उबारने वाले डाक्टर को मित्र ही मानना चाहिए। इस तथ्य को कोई अस्वीकार नहीं करता। किन्तु आश्चर्य है कि आगे चल कर लोग इसी बात को भूल जाते हैं।

मुनि ने कहा—हे राजन्, आँखों में भयानक पीड़ा होने के साथ ही मेरे सारे शरीर में उग्र दाह भी होने लगा; किन्तु उस समय मुझे यह भान हुआ कि अपने को जिस शरीर का स्वामी समझ रहा हूँ और जिस शरीर को सुन्दर मानकर अभिमान कर रहा हूं, वास्तव में उस शरीर का नाथ मैं नहीं हूँ। शरीर को व्याधि-

ग्रस्त देखकर मैंने विचार किया--क्या मैं इस शरीर का नाथ हूँ ? मैं अपने शरीर को स्वस्थ रखना चाहता हूँ, फिर भी यह मुझे पीड़ा दे रहा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मैं शरीर का नाथ नहीं हूँ। शरीर न्यारा है और मैं न्यारा हूँ। यह सही है कि आत्मा और शरीर दूध और पानी की भांति एकमेक हो रहे हैं, किन्तु वास्तव मे दूध और पानी भिन्न भिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा और शरीर भी भिन्न भिन्न हैं।

राजन्, आत्मा और शरीर का विवेक होने पर मुझे लगने लगा कि मेरी आँखों मे भाला भोंकने के समान जो वेदना दे रहा है और आग के समान शरीर मे दाह उत्पन्न कर रहा है वह दूसरा कोई नहीं, स्वय मैं ही हू। तुम सोचते होगे--कौन ऐसा होगा जो अपने आप अपनी आँखों में और अपने शरीर मे वेदना उत्पन्न करे ? परन्तु अगर तुम ऐसा सोचते हो तो मेरे कथन का तात्पर्य नहीं समझे। मेरे कथन पर गभीर विचार करोगे तो तुम्हें स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा कि यह आत्मा भ्रम के कारण पर वस्तु को अपनी मान बैठता है और परिणामस्वरूप अपने हित के बदले अहित कर लेता है। वस्तुत आत्मा की अनाथता दूर किये बिना इस शारीरिक पीड़ा को दूर नहीं किया जा सकता। इस तरह विचार करके मैंने आत्मा की अनाथता को दूर करने का विचार किया। तब मुझे विदित हुआ कि आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उद्धार होगा। गीता म भी कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥

अर्थात्--आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करना चाहिए, आत्मा को अवसादमय नहीं बनाना चाहिए। आत्मा स्वयं ही अपना बन्धु है और स्वयं ही अपना शत्रु है।

हे राजन्! मैंने आत्मा के द्वारा ही आत्मा की अनाथता को दूर करने का विचार किया। परन्तु इस शरीर को माता-पिता, भाई, बहिन, स्त्री-पुत्र आदि अपना-अपना मानते हैं। इस शरीर को कोई भाई, तो कोई पुत्र और कोई पति कहते थे। मैंने विचार किया-जो लोग इस शरीर को अपना मानते हैं, वे भी अपनी शक्ति को आजमालें और वे कुछ भी करने में समर्थ न हों, तभी मुझे कुछ करना उचित होगा। इस विचार से मै चुपचाप बना रहा। मेरी वेदना का निवारण करने के लिए वैद्यक शास्त्र में पारंगत वैद्याचार्यों ने अनेक उपचार किये, मगर मेरा रोग शान्त नहीं हुआ। ऐसी मेरी अनाथता थी।

मुनि की आत्म-कथा सुनकर राजा कहने लगा-आज आप पूर्ण रूप से स्वस्थ दिखाई देते हैं। इससे तो यही जान पड़ता है कि आपका रोग असाध्य नहीं था। फिर किस त्रुटि के कारण रोग शान्त नहीं हुआ ?

अनाथ मुनि ने उत्तर दिया-राजन्, वे वैद्य स्वयं ही अनाथ थे। और जो स्वयं अनाथ हो वह दूसरों को कैसे सनाथ बना सकता है ? मैं भी अनाथ था और वे भी अनाथ थे। दोनों की अनाथावस्था में रोग कैसे मिट सकता है ?

राजन्, वैद्यों के उपचार से मेरा रोग शान्त न हुआ, यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। उनका उपचार सफल हो जाता और मैं

नीरोग हो जाता तो मैं उन्हीं को नाथ मान बैठता। यद्यपि वह स्वयं ही अनाथ थे, फिर भी मैं उन्हें भूल से नाथ समझ लेता। अतएव उनके उपचार से मेरे रोग का शान्त न होना मेरे हक मे अच्छा ही रहा।

ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से मिटना ही रोग का वास्तव में मिटना है। रोग का इस प्रकार मिटना कि फिर कभी उत्पन्न न हो, ऐकान्तिक मिटना है और रोग मात्र का सदा काल के लिए मिट जाना आत्यन्तिक मिटना कहलाता है। क्या कोई डाक्टर इस धरती पर ऐसा है जो सदैव के लिए रोग मिटा सके ? अगर नहीं तो डाक्टर को सनाथ कैसे कहा जा सकता है ?

कहा जा सकता है कि अगर डाक्टर रोगों को मिटाते नहीं तो लोग उनके पास क्यों जाते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्त्तमान मे डाक्टर रोग को दबा देते हैं, अथवा सातावेदनीय कर्म के उदय से रोग स्वत दब जाता है। बस इसी कारण लोग समझने लगते हैं कि डाक्टर ने रोग मिटा दिया। इसी से लोग डाक्टर के गुलाम बन जाते हैं और उसे अपना नाथ मानने लगते हैं।

जो निर्बल होता है, वही बीमार पडता है। सबल मनुष्य बीमार नहीं होता। चाय, बिस्कुट आदि रोगोत्पादक वस्तुओं का सेवन करने से और खान पान का ध्यान न रखने से रोग उत्पन्न होता है। खान पान का ध्यान रक्खा जाय तो प्राय: रोग उत्पन्न ही न हो। पहले आहार विहार का ध्यान न रखना और जब बीमारी उत्पन्न हो जाय तो डाक्टर की शरण में जाना ही तो अनाथता है।

डाक्टर ने दवा देकर रोग को दवा दिया। इसी से तुम अभिमान करने लगे कि मैं डाक्टर की कृपा से स्वस्थ हो गया। परन्तु यह तो एक प्रकार की भ्रमणा है।

जो स्वतंत्र होता है और पूर्ण बलवान् होता है, उसे रोग ही उत्पन्न नहीं होता। तीर्थंकर भगवान् को रोग नहीं होता, परन्तु पूर्वोपार्जित कर्म के कारण कदाचित् रोग हो जाय तो अपना रोग आप ही मिटा लेते हैं; किसी वैद्य-डाक्टर की परतंत्रता स्वीकार नहीं करते।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन् ! उन वैद्यों के उपचार से मेरा रोग दूर न हुआ, यह अच्छा ही हुआ। मै उनके शरण में पड़ा रहा होता तो मेरी अनाथता दूर ही न हुई होती। कहा जाता है कि वैद्य कुशल हो, दवा अच्छी हो, रोगी दवा लेने के लिए उत्कंठित हो और ठीक तरह से परिचर्या होती हो— यह चार उपाय बराबर हों तो रोग दूर हो जाता है। मेरे रोग को दूर करने के लिए चारों उपाय काम में लाये जाते थे, फिर भी मेरा रोग शान्त नही हुआ। तभी मुझे प्रतीत हुआ कि यह सब अनाथ हैं और मैं भी अनाथ हूँ। वैद्य सनाथ होते तो मेरा रोग मिटा देते। परन्तु वे रोग को मिटा नहीं सके, अतएव वे अनाथ हैं और मै भी अनाथ हूँ।

लोग समझते हैं कि दवा से रोग मिट जाता है, परन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है। दवा रोगों को सिर्फ दवा देती है। वैज्ञानिकों का कथन है कि जितने डाक्टर बढ़े हैं उतने ही रोग भी बढ़े हैं और जितने वकील बढ़े हैं उतने ही झगड़े बढ़े हैं। प्राचीन काल में इतने डाक्टर नहीं थे तो इतने रोग भी नहीं थे। पचास वर्ष

पहले भी यही बात थी। ऐसी स्थिति में कैसे श्रद्धा आ सकती है कि डाक्टर रोग मिटाने वाले हैं।

लोग सच्ची दवा तो भूल गये हैं और व्यावहारिक भय के कारण खोटी दवा का उपयोग करना सीखे हैं, खान-पान पर अंकुश रखना ही व्यावहारिक अच्छी दवा है। स्वास्थरक्षा के लिए यह जानना उपयोगी है कि किस समय क्या खाना पीना चाहिए?

एक पुस्तक में कब खाना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर मैंने पढ़ा था—गरीबों को जब मिले तब खाना चाहिए और अमीरों को जब भूख लगे तब खाना चाहिए। बिना भूख लगे खाना रोग को आमंत्रण देना है। फिर भी लोग तरह-तरह के आचार मुरब्बे आदि किसलिए बनाते और खाते हैं? इसीलिए तो कि भूख न लगी तो भी आचार आदि की सहायता से कुछ अधिक खाया जा सके। कड़कड़ाती भूख में तो रूखी सूखी रोटी भी अच्छी लगती है। शायद तुम लोगों को इस बात का अनुभव न हो, परन्तु हम साधुओं को इसका अच्छा अनुभव है।

एक जगह हम २२ मील का विहार करके पहुँचे। कड़कड़ाती भूख लगी थी। परन्तु वहाँ हमें डेढ़ रोटी और खट्टी छाछ ही मिली। मगर उस समय उसी रूखी रोटी और खट्टी छाछ में इतनी मिठास मालूम हुई कि कुछ न पूछिए।

इस प्रकार जब कड़कड़ाती भूख लगी होती है, तब रूखी सूखी रोटी भी मीठी लगती है और भूख नहीं लगी होती तो जबर्दस्ती खाने के लिए आचार, चटनी और मुरब्बा आदि की सहायता लेनी पड़ती है। प्राय लोग सच्ची भूख न लगने पर भी खाते हैं और

फिर अजीर्ण होने की फरियाद करते हैं। कदाचित् प्रकट रूप में अजीर्णता न हो, परन्तु रोग का घर तो अजीर्णता ही है। अजीर्णता से रोग की उत्पत्ति होती है और फिर डाक्टर की शरण लेनी पड़ती है।

भगवान् महावीर नीरोग रहने के लिए महीने में कम से कम छः उपवास करने की दवा बतलाते हैं। जो महीने में छः उपवास करता रहेगा, उसे अजीर्ण नहीं होगा और बीमारी भी नहीं होगी। स्थानांगसूत्र में रोग उत्पन्न होने के नौ कारण बतलाये हैं, किन्तु लोग केवल वेदनीय कर्म का ही दोप निकालते हैं। वेदनीय कर्म का दोप निकालना और रोग के दूसरे कारणों पर विचार न करना उचित नहीं है। रोग की उत्पत्ति किन-किन कारणों से होती है, यह विपय बहुत लम्बा है। अतएव इस समय इस संबंध मे कुछ न कहकर सिर्फ यही कहना बस होगा कि डाक्टर की शरण में जाना अपनी निज की दुर्बलता है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्, सब प्रकार के उपचार करने पर भी मेरा रोग शान्त नहीं हुआ, यह मेरी अनाथता थी। जब किसी भी उपाय से रोग न मिटा तो मै इस निश्चय पर पहुंचा कि मै वास्तव में अनाथ हूँ। राजन्! मुझ पर जो बीती, उसे सुन कर तुम भी अपनी अनाथता को समझो और उसे दूर करने का प्रयत्न करो।

मुनि के समझाने पर सम्राट श्रेणिक ने अपने को अनाथ मान लिया था, परन्तु तुम अपने को अनाथ मानते हो या नहीं? जब तक अपनी अनाथता का भान नहीं हो जाता और उसे दूर करने

का प्रयत्न नहीं किया जाता, तब तक आत्मकल्याण भी नहीं किया जा सकता। अतएव अपने को अनाथ मानो। तुम मेरे मित्र हो। यह बुद्धिवाद का युग है। इस युग में प्रत्येक बात बुद्धि की कसौटी पर कसी जाती है और तर्क द्वारा निर्णीत की जाती है। मेरे प्यारे मित्रों! तुम भी अनाथ मुनि के कथन की तर्क और बुद्धि द्वारा जाँच-पड़ताल करो और उनके अभिप्राय को समझ कर अपनी अनाथता दूर करो और सनाथ बनो।

मुनि कहते हैं—महाराज, मैं इस शरीर का नाथ नहीं था। नाथ होता तो शरीर के द्वारा ही क्यों कष्ट पाता? यही नहीं, यह शरीर मेरा नहीं था। मेरा होता तो मेरी इच्छा के अनुसार चलता और मुझे पीड़ा क्यों पहुंचाता? इस प्रकार विचार करने पर मैं इस निश्चय पर आया कि इस शरीर के कारण ही मैं भूतकाल में दुःखों का पात्र बना हूं, वर्त्तमान मे बन रहा हूँ और भविष्य में बनूँगा। ऐसा होने पर भी—

> वहमी भय माने यथा रे, सूने घर वैताल।
> त्यों मूरख आतम विषे रे, माया जग भ्रम जाल॥

इस कथन के अनुसार भ्रम के कारण मैंने अनेक दुःख बटोर लिये हैं।

वहम के कारण कैसे-कैसे भूत पैदा कर लिये जाते हैं, यह तो तुम्हें विदित ही है। शरीर को अपना मानना भी एक प्रकार का वहम ही है। दूसरे को सुख दुःख का दाता समझना भी भ्रम ही है। परन्तु—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

सुख और दुःख देने वाला दूसरा कोई नहीं है। इस आत्मा द्वारा ही सुख दुःख की उत्पत्ति होती है।

शरीर एक साधन या हथियार है। शरीर को कोई दुःख दे तो भी यह आत्मा दुखी नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त अगर शरीर से ही आत्मा को दुःख होता है तो ऐसा प्रयत्न क्यों नहीं करते कि आत्मा को शरीर में आना ही न पड़े। जब तक आत्मा शरीर के साथ है, तभी तक उसे दुःख होता है। शरीर का संबंध छूट जाने पर किसी प्रकार के दुःख की उत्पत्ति नहीं हो सकती। एक उदाहरण लीजिए:—

अग्नि पर किसी पात्र में पानी गर्म करने के लिए रक्खा जाता है, तो सन्-सन् की आवाज होती है। यह आवाज आपने सुनी होगी। सन्-सन् की आवाज करके पानी क्या कहता है? इस संबंध में एक कल्पना की जाती है। पानी कहता है—आग की क्या ताकत है कि मुझे संताप पहुंचा सके? मुझमें तो ऐसी शक्ति है कि अग्नि को बुझा दूँ, पर क्या करूं? यह पात्र बीच में आड़ा आ गया है। इसी के कारण मुझे कष्ट भोगना पड़ रहा है। इस पात्र के बन्धन में पड़ गया हूं और इसी से संताप पा रहा हूँ।

ज्ञानी जन भी यही विचार करते हैं। जैसे पानी पात्र के सम्पर्क से संताप भोगता है, इसी प्रकार स्वभाव से दुःखहीन होने पर भी मेरी आत्मा शरीर के सम्पर्क के कारण दुःख का अनुभव कर रही है। कर्म चेतना और कर्मफलचेतना से ही आत्मा को कष्ट

सहन करने पड़ते हैं। फिर भी कर्म को दोष देने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा को स्वयं सावधान होना चाहिए।

कल्पना करो, एक आदमी अंधे की तरह, आँखें बंद करके जा रहा था। रास्ते में एक खंभे के साथ उसका सिर टकराया—सिर फूट गया। वह क्रुद्ध होकर खंभे को मारने लगा। अगर आप उसे मारते देखें तो कहेंगे, यही न कि इसमें खंभे का क्या अपराध है? वह तो जड़ है। तुम्हें स्वयं सावधानी रखनी चाहिए थी।

इसी प्रकार कर्म भी जड़ है। अतएव कर्मों को दोष देने से क्या लाभ? कर्म चेतना और कर्मफलचेतना को भिन्न मान कर आत्मा का विवेक करो तो दुःख ही नहीं रह जायगा।

मुनि कहते हैं—राजन्! मेरे शरीर में असह्य वेदना होने लगी और मैं तड़फने लगा। मेरे पिताजी से मेरा दुःख देखा न गया। वह कहने लगे-मेरा बेटा तो बहुत सहनशील है, परन्तु अत्यधिक वेदना होने के कारण वह सहन नहीं कर सकता। इसी से यह तड़फ रहा है। बेटा, धीरज धर, अभी वेदना मिट जायगी। पिताजी बार बार यही कहते थे।

पिया मे सव्वसार पि, दिज्जा हि मम कारणा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २४ ॥

अर्थ—मेरे पिता मेरे लिए—मुझे दुःख से बचाने के लिए सर्वस्व देने को तैयार थे, फिर भी वे मुझे दुःख से नहीं बचा सके। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यानः—आजकल पैसा बड़ा समझा जाता है। प्रायः सभी आज पैसे के साथ मित्रता जोड़ते हैं। कहावत चल पड़ी है—

मात कहे मेरा पूत सपूता, बहिन कहे मेरा भैया।
घर की जोरू यों कहे, सब से बडा रुपैया॥

यहां तक सुना जाता है कि पैसे के लिए पिता ने पुत्र का या पुत्र ने पिता का खून कर डाला। कई लोग तो पुत्र का अर्थ ही यह करते हैं कि जो कमाई करके देवे वही पुत्र है। ऐसी दशा में पुत्र बड़ा हुआ या पैसा ?

अनाथी मुनि कहते हैं—मेरे पिता ऐसे नहीं थे। वे पुत्र के सामने पैसे को महत्त्व नहीं देते थे। वैद्य मेरे शरीर की जाँच करने आये तो पिता ने कहा—मेरे पुत्र को स्वस्थ और तन्दुरुस्त कर दो तो मैं अपना सर्वस्व दे देने को भी तैयार हूं। मैं घर की सब सारभूत वस्तुएँ तुम्हें देने और खाली हाथ घर से बाहर निकल जाने को तैयार हूं; मगर किसी भी उपाय से मेरे बेटे को ठीक कर दो।

वास्तव में 'पाति-रक्षतीसि पिता', अर्थात् जो रक्षण करे, पालन पोषण करे वही पिता है। इसी प्रकार पुत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'पुनातीति पुत्रः' अर्थात् जो पवित्र करो सो पुत्र। इस व्याख्या का अर्थ यह नही कि मरने के बाद पुत्र स्वर्ग में पहुंचा देगा। ऐसा अर्थ तो किसी स्वार्थी ने किया होगा।

मुनि का कथन है कि—मेरे पिता, पिता-पुत्र के संबंध को भलीभाँति जानते थे। इसी कारण वे वैद्यों को बार-बार कहते थे कि माँगो सो देने को तैयार हूं, पर मेरे लाड़ले को स्वस्थ कर दो।

इस प्रलोभन से वैद्य अत्यन्त सावधानी के साथ मेरी दवा करने लगे, पर मेरा रोग शान्त नहीं हुआ। यह मेरी अनाथता थी। पिता मुझे अपना समझते थे और मैं पिता को अपना समझता था, पर वास्तव मे मैं उनका न था और वे मेरे न थे। इसी कारण वे मुझे रोगमुक्त न कर सके और मैं उन्हें चिन्तामुक्त न कर सका। जैसे मैं अनाथ था, उसी प्रकार वे भी अनाथ थे।

अनुयोगद्वारसूत्र मे दिये हुए उदाहरण का आशय यह है—

पान झरंता देखकर, हँसी जो कूंपरियाँ।
मोय बीती तोय बीतसी, धीरी बापरियाँ॥

पत्ते पक कर गिरने लगते हैं, तब कौंपलें फूटती हैं। तो पत्ते को गिरते देख कोंपलें हँसने लगीं और कहने लगीं—बस, चल दिये! अब इस वृक्ष पर हमारा राज्य होगा, हम मौज करेंगी। यह सुन कर पत्ते ने उत्तर दिया-धीरज रक्खो। तुम्हारे लिए भी ऐसा ही एक दिन आएगा। उस दिन तुम्हारा भी पतन हो जाएगा।

राजन्! क्या दूसरों की भी ऐसी दशा न होती होगी? सभी को यह दशा भोगनी पडेगी। यह तो साधारण नियम है। रोग सब को होता है, परन्तु कोई किसी का रोग ले नहीं सकता। मेरे पिता ने मेरा दुख दूर करने का प्रयत्न किया, पर वे कृतकार्य न हो सके। मैं उनकी चिन्ता दूर करना चाहता था, पर मैं भी उन्हें चिन्तामुक्त न कर सका। कारण यही कि मैं भी अनाथ और वह भी अनाथ थे। मुझे विचार आया—मैं अनाथता के कारण अनन्त काल से वेदना भोग रहा हूँ। अतएव इसी को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह विचार करके मैंने अनाथता का

परित्याग किया।

जो द्रव्य को भूल कर पर्याय में ही पड़ा रहता है, वह अनाथ है; और जो पर्याय को गौण मानकर द्रव्य को प्रधान रूप में देखता है; वह सनाथ है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए मुनि स्वानुभव की बात कहते हैं कि मेरा रोग-निवारण करने के लिए पिता सर्वस्व देने को तैयार थे फिर भी वे सफल न हो सके।

कथानकों में अनाथी मुनि के पिता को इब्भ सेठ कहा गया है, ऐसा सुना जाता है। इब्भ सेठ का वर्णन इस प्रकार है—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ के भेद से इब्भ (इभ्य) सेठ तीन प्रकार के होते हैं। जिनके पास हाथी को रुपयों से ढँक देने जितना धन हो, वह कनिष्ठ इब्भ सेठ कहलाता है। स्वर्णमोहरों से ढँक दे सकने वाला मध्यम और जिसके पास इतने रत्न हों कि हाथी भी ढँक जाय, वह उत्तम इब्भ सेठ कहलाता है। अनाथ मुनि के पिता ५७ इभ्यों के धनी थे। इतनी विपुल सम्पत्ति उनके पास थी और रोग मुक्त करने वाले को वह अपनी समस्त सम्पत्ति देने को तैयार थे। परन्तु उनके पुत्र को कोई नीरोग न कर सका।

मुनि बोले—राजन्। सम्पत्ति होने के कारण तुम अपने को सनाथ मानते हो, परन्तु मेरे यहाँ क्या कमी थी? सम्पत्ति की कमी न होने पर भी मै अनाथ था तो सम्पत्ति के कारण तुम सनाथ कैसे हो सकते हो? और जब तुम अपने ही नाथ नहीं तो पर के नाथ कैसे बन सकते हो?

माया मे महाराय! पुत्तसोग दुहट्टिया।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया॥ २५॥

अर्थ—महाराज । मेरी माता पुत्र के दुख से दुखी रहती थी, किन्तु वह भी दुख से बचाने में समर्थ नहीं थी। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान—मुनि कहते हैं—किसी किसी की माता अपने पुत्रों के प्रति निरक्त हो जाती है और उनसे प्रेम नहीं करती, परन्तु मेरी माता ऐसी नहीं थी। वह मुझ पर बहुत कृपा रखती थी, मेरा दया रखती थी, मुझे दुखी देखकर आप दुखी होती थी और कहती थी—मेरे प्यारे पुत्र। तेरे नेत्रों मे भयानक और उग्र वेदना हो रही है, फिर भी मे तुझे इस वेदना से बचा नहीं सकती। कोई बाहर का शत्रु तुझे भाला भोंकता होता तो मैं उसे अपने अग पर मेल लेती, परन्तु अन्दर की पीडा के लिए क्या करूँ ?

राजन्। मेरी माता इस प्रकार अपने मुख से ही अपनी असमर्थता प्रकट करती थी। माता के कहने से भी मुझे यही प्रतीत हुआ कि वास्तव मे मैं अपनी अनाथता के दुःख से ही दुखी हू।

कोई कोई माताएं इतनी निठुर होती है कि अपने स्वार्थ के खातिर अपने उदरजात पुत्र की जान भी ले लेती है, किन्तु मेरी माता ऐसी नहीं थी। वह मुझ पर गहरा स्नेह भाव रखती थी।

शास्त्र मे एक कथा है—ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती की माता ने चौदह स्वप्न देखे। उनके आधार पर वह जानती थी कि मेरा पुत्र चक्रवर्त्ती होगा। परन्तु दीर्घ राजा के साथ भ्रष्ट हो जाने के कारण उसने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को भी मार डालन का प्रयत्न किया। उसने सोचा—मेरा पुत्र बड़ा हो गया है। अब यह मेरे सुख मे बाधक बनेगा। ऐसा सोचकर उसन लाख का घर तैयार कराया और

ब्रह्मदत्त को उसमें सुला दिया। रात के समय स्वयं उठकर उसने घर में आग लगा दी। यह बात दूसरी कि वह अपने पूर्वार्जित पुण्य से या प्रधान की सावधानी से बच गया; परन्तु उसकी माता ने मार डालने में कुछ भी कसर नहीं रक्खी थी।

मुनि कहते हैं--राजन्! ऐसी निष्ठुर माताएं भी होती हैं, किन्तु ऐसी माताएँ भी भूतकाल में हुई हैं, वर्त्तमान में हैं और भविष्य मे होंगी जो अपने प्राणों को अर्पण करके भी अपने प्यारे पुत्र की रक्षा करती हैं। मेरी माता इसी श्रेणी की थी। उसका मेरे प्रति अगाध स्नेह था। वह मेरे दुःख से अतिशय दुखी रहती थी; फिर भी मेरे दुःख को न मिटा सकी। मैं भी उसके दुःख को मिटाने मे समर्थ न हो सका। यह मेरी अनाथता थी।

अनाथ मुनि के कथन का कोई यह उलटा अर्थ न लगा ले कि माता दुःख से मुक्त नहीं कर सकती, अतएव उसे मानना ही नहीं चाहिए। आजकल ऐसा कहा भी जाता है कि सन्तान पर माता-पिता का उपकार ही क्या है। थली (मारवाड़) का एक सम्प्रदाय तो यहाँ तक कहता है—'माता-पिता के लिए सन्तान कुपात्र है और सन्तान के लिए माता पिता कुपात्र हैं। उनके कथनानुसार माता-पिता की सेवा या दया करना एकान्त पाप है। माता-पिता या पुत्र कोई किसी की सहायता नही कर सकता; कोई किसी का दुःख निवारण नहीं कर सकता।'

अपने कथन की पुष्टि के लिए वे लोग अनाथ मुनि का उदाहरण देते हैं। कहते हैं—अनाथ मुनि को उनके माता-पिता भी दुःख मुक्त न कर सके, अतएव उनकी सेवा करना एकान्त पापबंध

का कारण है।

उनका यह कथन कितना भ्रामक, कितना अनुचित और कितना शास्त्र विरुद्ध है, यह समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए —

एक माता ने अपने पुत्र से कहा—बेटा, तू अब पढ़ लिख कर होशियार हो गया है। मैं यह आशा लगाये बैठी थी कि तू मेरी सेवा करेगा, परन्तु तू तो उलटा दुख दे रहा है। तुझे मालूम है कि मैंने तेरे लिए कितने दुख सहन किये हैं और किस तरह पाल-पोस कर बडा किया है। तू तो इन उपकारों को भूल ही गया जान पडता है।

माता का कथन सुनकर पुत्र बोला—बस, बहुत हो चुका। ज्यादा बकवास न करो। तुमने मेरा क्या उपकार कर दिया है। उलटा मैंने तुम्हारा उपकार किया है। मेरा जन्म नहीं हुआ था तो तुम कितनी उदास रहती थीं। मेरे लिए कितनी तरसती थीं। मैं पेट में आया तो तुम्हें प्रसन्नता हुई। मेरे जन्म से तुम्हारा बन्ध्यापन दूर हो गया। इस प्रकार तुमने मेरा नहीं, मैंने तुम्हारा उपकार किया है।

पुत्र की बात सुनकर माता कहने लगी—अरे बेटा, यह क्या कहता है। ऐसा कहना तुझे शोभा देता है? जरा विचार तो कर कि मैंने दूध पिला कर तुझे बडा किया है।

पुत्र—दूध पिलाने से क्या उपकार हो गया। मेरा जन्म होने पर ही तो तेरे स्तनों मे दूध आया। मैं न पीता तो तेरे स्तनों मे पीडा होती। यह तो मेरा उपकार मान कि मैंने दूध पीकर तुम्हे पीड़ा से बचा लिया। फिर भी अगर दूध के लिए झगड़ती है तो

दूध के पैसे ले लो।

माता—दूध के तो पैसे देने को तैयार है, मगर नौ महीना पेट में रक्खा सो ? यह उपकार भी तू भूल जायगा ?

पुत्र—तुमने मुझे पेट में रक्खा, यह सोचना ही तुम्हारी भूल है। मैने स्वयं पेट में जगह बना ली थी। इसमें तुम्हारा कोई उपकार नहीं। फिर भी एहसान जतलाती हो तो उसका भाड़ा ले लो। और क्या करोगी ?

माँ सीधी सादी थी। उसने सोचा—छोकरा विगड़ गया है। यों माथा-पच्ची करने से कोई लाभ नहीं होगा। इसे गुरुजी के पास ले जाने से ही काम चलेगा।

यह सोचकर उसने लड़के से कहा—चल, हम गुरु महाराज के पास चलें और उन्हीं से निर्णय करावें। वह कह देंगे कि पुत्र का माता पिता पर उपकार है तो मैं तेरा जुल्म सहन कर ही रही हूँ और आगे भी सह लूँगी। परन्तु यदि वे कहेंगे कि पुत्र पर माता-पिता का उपकार है तो तुझे उनका कथन स्वीकार करना पड़ेगा।

पुत्र ने यह बात मान ली और गुरु के पास जाना स्वीकार कर लिया। उसे विश्वास था कि माता-पिता आदि कोई किसी को दुःख से मुक्त नहीं कर सकते। गुरुजी भी यही कहेंगे। यही सोचकर वह गुरुजी के पास जाने को तैयार हो गया।

कदाचित् कोई खोटे गुरु मिल गये होते तो माता की कम्बख्ती हो जाती और लड़का माता के सिर चढ़ बैठता; किन्तु वह गुरु भगवान् महावीर के शास्त्रों के ज्ञाता थे।

माता ने गुरु को सब बातें समझा कर कहा—महाराज, माता-पिता

का सन्तान पर अनन्त उपकार है, यह कौन नहीं जानता ? फिर भी यह कहता है कि पुत्र का माता पिता पर उपकार है। इस विषय मे शास्त्र क्या व्यवस्था देता है ? कृपा कर बतलाइए।

पुत्र की युक्तियाँ सुनकर गुरुजी समझ गये कि लडका भ्रम मे पड गया है। अतएव उसका भ्रम निवारण करने हुए गुरुजी ने कहा—श्रीभगवतीसूत्र मे कहा है कि शरीर के तीन अग पिता के और तीन माता के होते है और शेष अग माता-पिता दोनों के होते हैं। मास, रुधिर और मस्तक माता के तथा हाड, मज्जा तथा रोम-यह तीन अग पिता के होते हैं। शेष अग माता पिता दोनों के होते हैं।

शास्त्र का प्रमाण बतला कर गुरु बोले—इस प्रकार शास्त्र के विधान के अनुसार माता पिता के अगों से पुत्र का शरीर बना है। अत माता पिता का पुत्र पर उपकार है। क्या तुम बतला सकते हो कि पुत्र के किसी अग से माता पिता का कोई अंग बना है ? अगर नहीं, तो माता पिता पर पुत्र का क्या उपकार सिद्ध होता है ?

गुरु का कथन सुनकर माता को हिम्मत बँधी। उसने पुत्र से कहा—बोल, अब तुझे क्या कहना है ? तू मेरे पेट मे रहने का भाडा और दूध की कीमत देने को तैयार था, मगर मेरे जो अग तेरे शरीर में हैं, उनका क्या भाडा देता है ? मुझे भाडा नहीं चाहिए, मेरे अंग मुझे और पिता के अग पिता को सौंप दे।

पुत्र चुप्पी साधे खडा रहा। वह देता भी तो क्या उत्तर देता ? गुरुजी के मुँहतोड़ उत्तर से उसकी जीभ सिल गई थी।

माता ने गुरुजी से फिर कहा—महाराज, शास्त्र में इस संबंध

में और भी कुछ बतलाया है ?

गुरुजी—श्रीस्थानांगसूत्र में भगवान् महावीर ने अपने श्रमण निर्ग्रन्थों को संबोधन करके कहा है—'हे आयुष्मन् श्रमण निर्ग्रन्थों! तीन प्रकार के उपकार का ऋण उतारना अत्यन्त कठिन है—एक तो माता-पिता का, दूसरे सहायकर्त्ता का और तीसरे धर्माचार्य का ऋण।' इस प्रकार भगवान् ने पुत्र पर माता-पिता का ऋण तो बतलाया है; परन्तु शास्त्रों में यह कहीं देखने में नहीं आया कि माता-पिता पर पुत्र का ऋण होता है।

गुरुजी ने आगे कहा—माता-पिता के उपकार के ऋण से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। श्रीस्थानांगसूत्र में भगवान् से पूछा गया है—भगवान्, कोई पुत्र अपने माता-पिता को नहलावे, खिलावे, वस्त्र पहनावे और अपने कंधे पर बिठलाकर घुमावे तो वह उनके उपकार के भार से मुक्त हो सकता है? भगवान् ने उत्तर दिया—नहीं, इतनी सेवा करने पर भी पुत्र माता-पिता के उपकार से उऋण नहीं हो सकता।

कहा जा सकता है कि पुत्र इससे अधिक माता-पिता की और क्या सेवा कर सकता है? इस सेवा से भी वह ऋणमुक्त क्यों नहीं हो सकता?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पुत्र जिस शरीर द्वारा माता पिता की सेवा करता है? वह शरीर उसे किसने दिया है? माता-पिता द्वारा प्रदत्त शरीर से ही अगर उसने माता-पिता की सेवा की तो क्या विशेषता हुई? अलबत्ता, शरीर से सेवा करने वाला पुत्र सुपुत्र कहा जा सकता है, उसमें कृतज्ञता का गुण है, फिर भी यह नहीं कहा जा

का सन्तान पर अनन्त उपकार है, यह कौन नहीं जानता ? फिर भी यह कहता है कि पुत्र का माता पिता पर उपकार है। इस विषय मे शास्त्र क्या व्यवस्था देता है ? कृपा कर बतलाइए।

पुत्र की युक्तियाँ सुनकर गुरुजी समझ गये कि लडका भ्रम मे पड गया है। अतएव उसका भ्रम निवारण करते हुए गुरुजी ने कहा—श्रीभगवतीसूत्र मे कहा है कि शरीर के तीन अग पिता के और तीन माता के होते है और शेष अग माता-पिता दोनों के होते हैं। मास, रुधिर और मस्तक माता के तथा हाड, मज्जा तथा रोम-यह तीन अग पिता के होते है। शेष अग माता पिता दोनों के होते हैं।

शास्त्र का प्रमाण बतला कर गुरु बोले—इस प्रकार शास्त्र के विधान के अनुसार माता पिता के अगों से पुत्र का शरीर बना है। अत माता पिता का पुत्र पर उपकार है। क्या तुम बतला सकते हो कि पुत्र के किसी अग से माता पिता का कोइ अग बना है ? अगर नहीं, तो माता पिता पर पुत्र का क्या उपकार सिद्ध होता है ?

गुरु का कथन सुनकर माता को हिम्मत बँधी। उसने पुत्र से कहा—बोल, अब तुझे क्या कहना है ? तू मेरे पेट मे रहने का भाडा और दूध की कीमत देने को तैयार था, मगर मेरे जो अग तेरे शरीर मे है, उनका क्या भाडा देता है ? मुझे भाडा नहीं चाहिए, मेरे अग मुझे और पिता के अग पिता को सौंप दे।

पुत्र चुप्पी साधे खडा रहा। वह देता भी तो क्या उत्तर देता ? गुरुजी के मुँहतोड उत्तर से उसकी जीभ सिल गइ थी।

माता ने गुरुजी से फिर कहा—महाराज, शास्त्र म इस सबध

का उत्तर यह है कि उपादान को सुधारने से ही ऋणमुक्त हो सकता है। जिस धर्म के कारण तुम्हारे माता-पिता का तुम्हारे साथ पिता-पुत्र का सम्बन्ध हुआ है और जिस धर्म के कारण उन्होंने तुम्हारा पालन-पोषण किया है, उस धर्म को दृढ़ करना, उसका बराबर पालन करना, उस धर्म के द्वारा आत्मा का सुधार करना और इस प्रकार उपादान का सुधार करना। इस प्रकार उपादान को सुधारने से ही ऋणमुक्त हो सकते हो।

सारांश यह है कि निश्चयदृष्टि से तो माता-पिता पुत्र के और पुत्र माता-पिता के नाथ बनने में समर्थ नहीं हैं, किन्तु यह तभी कहा जा सकता है और वही कह सकता है जो मुनि की तरह संसार का त्याग कर दे। पत्नी पुत्र का त्याग नहीं किया और सिर्फ माता-पिता का त्याग कर देना घोर अन्याय है।

यह तो पुत्र के कर्त्तव्य की बात हुई। माता-पिता का क्या कर्त्तव्य है, यह भी समझना चाहिए। माता पिता को सोचना चाहिए कि पुत्र कैसा ही कपूत क्यों न हो, हमें तो अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिए। क्योंकि हमारा धर्म ही हमारे साथ रहेगा। ऐसा सोचकर माता-पिता अपने धर्म पर स्थिर रहेंगे तो पुत्र भी आखिर सन्मार्ग पर आ जायगा। जैसी बेल होती है वैसे ही फल लगते हैं। दर असल पुत्र को विगाड़ने वाले या सुधारने वाले माँ-बाप ही हैं। सन्तति को सुधारने के लिए माता-पिता को पहले सुधरना चाहिए। माता-पिता सुधरेंगे तो उनकी सन्तति भी सुधरेगी।

सक्ता कि वह माता-पिता के उपकार से मुक्त हो गया। माता पिता के ऋण से मुक्त होने के लिए अनाथ मुनि का चरित्र देखना चाहिए।

माता-पिता बालक की बहुत सार सभाल रखते हैं, फिर भी कितनेक बालक मर जाते हैं। माता पिता नहीं चाहते कि हमारा बालक मर जाय, फिर भी मर जाता है। इससे यही प्रतीत होता है कि निमित्त कितना ही अच्छा क्यों न हो, जब तक उपादान अच्छा नहीं होता तब तक कुछ भी नहीं हो सकता।

निश्चय की बात न्यारी है। जब तक हम व्यवहार मे हैं तब तक व्यवहार की बात भूलना नहीं चाहिए। स्त्री और पुत्र का मोह तो छूटा नहीं है, सिर्फ माता-पिता के विषय मे कहना कि माता-पिता दुःख मुक्त नहीं कर सकते, अतएव उनकी सेवा करना वृथा है, यह अत्यन्त अनुचित है। पर आज कल तो यह हालत हो रही है —

> बेटा झगड़त बाप सों, कर तिरिया से नेहूँ।
> बराबरी से कहत हों, मोहि जुदा कर देहु ॥
> मोहि जुदा कर देहू चीज सब घर की मेरी,
> केती करूँ खराब अक्ल बिगरेगी तेरी ॥
> कह गिरधर कविराय सुनो हो सज्जन मित्ता,
> समय पलटतो जाय बाप सों झगड़त बेटा ॥

इस प्रकार पुत्र माता-पिता के साथ झगड़ा कर रहे हैं, परन्तु यह अनुचित है।

अब प्रश्न यह है कि इतनी सेवा करने पर भी अगर पुत्र ऋणमुक्त नहीं हो सकता तो किस प्रकार हो सकता है ? इस प्रश्न

शान्त हो गये और कहने लगे--आपकी जो आज्ञा होगी वही करूँगा; परन्तु मै चाहता हूँ कि मुझे आपका विछोह न देखना पड़े--मै आपकी सेवा में ही रहूँ।

राम ने कहा--तू मेरे साथ चलेगा तो माता-पिता को कितना दु.ख होगा? इसके अतिरिक्त मेरे साथ चलने का आग्रह क्यों करता है? क्या मै कायर हूँ? तू यहीं रहकर भाई भरत की सहायता कर। मेरे साथ चलने की आवश्यकता नही।

लक्ष्मण ने उत्तर दिया--माता-पिता की सेवा करने वाले यहाँ बहुत हैं। मै तो आपके साथ ही चलूँगा। आप वन में जाएँ और मै राजभवन में मौज उड़ाऊँ, यह नही होने का।

राम समझ गये कि लक्ष्मण साथ चले विना नही मानेगा। तव उन्होंने कहा--अच्छा, तू माता की अनुमति ले आ, फिर साथ चलना।

यह सुनकर लक्ष्मण प्रसन्न हुए। परन्तु साथ ही उन्हें विचार आया--पुत्र स्नेह के कारण कौन जाने माता अनुमति देगी या नहीं? माता ने अनुमति दी तो राम भी साथ नहीं ले जाएंगे। यह विचार कर लक्ष्मण परमात्मा से प्रार्थना करने लगे--प्रभो! मेरी माता को ऐसी सद्बुद्धि सूझे कि वह मुझे राम के साथ वन में जाने की स्वीकृति दे दे।

लक्ष्मण अपनी माता सुमित्रा के पास गये। सुमित्रा में पुत्रस्नेह की विमल धारा प्रवाहित हो रही थी, फिर भी उन्होने लक्ष्मण से जो कुछ कहा उसका जैन रामायण में वड़ा ही सुन्दर वर्णन दिया गया है। कहा है--

भायरो में महाराय । सगा जिङ्कणिट्ठगा ।
न य दुक्खा विमायन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥

अर्थ— राजन् । मेरे छोटे और बडे सगे भाई भी थे, किंतु वे भी मुझे दुःख से बचाने में समर्थ नहीं हो सके। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान — मुनि ने माता पिता की तरफ से अपनी अनाथता का वर्णन किया। अब वह भाइयों की विद्यमानता में भी अपनी अनाथता प्रकट कर रहे हैं। मुनि कहते हैं— महाराज। ससार में सच्चे भाइयों का मिलना अत्यन्त कठिन है। जो धन-वैभव को ही महत्वपूर्ण मानते हैं, उनकी दृष्टि में तो भाई वैरी के समान दिखाई देते हैं। वह सोचते हैं-- भाई जब माता के पट में आया तो मुझे माता के दूध से वंचित किया, जन्मा तो माता पिता के स्नेह में हिस्सेदार बन गया और बडा हुआ तो धन का भी भागीदार बन गया।

इस विचारधारा के लोग भाई को भी वैरी समझते हैं, परन्तु राजन्। मेरे भाई ऐसे नहीं थे कि मुझे शत्रु समझें। वे अपने प्राण देकर भी मेरी रक्षा करने को तैयार थे। हम लोग राम और लक्ष्मण तथा भगवान् महावीर एवं नन्दिवर्धन के समान सच्चे भाई थे।

कैकेयी के मनोरथ के लिए राम वन जाने को तैयार हुए और लक्ष्मण को उस काण्ड का समाचार मिला तो वह अत्यन्त कुपित हुए। लक्ष्मण के क्रोध को देखकर राम ने कहा—तू भाई का गौरव बढ़ाना चाहता अथवा घटाना चाहता है ? यह सुनकर लक्ष्मण

के लिए यत्नशील थे; फिर भी वह रोगमुक्त करने में समर्थ न हो सके। यही मेरी अनाथता थी।

अनाथी मुनि जो कुछ कह रहे हैं, उस पर आप लोग भी विचार करो। जब अनाथी मुनि के भाई उन्हें नीरोग न कर सके तो क्या तुम अपने भाई का दुःख दूर कर सकते हो ? नहीं, तो फिर जैसे श्रेणिक अपने आपको अनाथ मानने लगा, उसी प्रकार तुम भी अपने को अनाथ क्यों नहीं मानते ? माता, पिता, भाई आदि के तुम नाथ नहीं हो, उसी प्रकार वे भी तुम्हारे नाथ नहीं हैं। अतएव तुम स्वयं अपने नाथ बनो। तुम अपनी आत्मा के नाथ आप बन जाओगे तो अखिल संसार तुम्हारे पैरों में पड़ेगा। अनाथ मुनि अपने नाथ बने तो राजा श्रेणिक भी उनके चरणों में गिरा। राजा श्रेणिक किसी के भय से पैरों में गिरने वाला नहीं था; परन्तु जो अपनी आत्मा के नाथ बने थे, उन सनाथ बने हुए अनाथ मुनि के पैरों में गिरते श्रेणिक को तनिक भी संकोच नहीं हुआ।

तुम अपनी आत्मा के नाथ बनो। मै यह नहीं कहता कि आज ही घर-द्वार छोड़ दो; परन्तु 'मुझे अनाथता त्याग कर नाथ बनना है' ऐसी भावना तो आपके अन्तःकरण में होनी ही चाहिए। इस प्रकार सनाथ बनने की भावना होगी तो किसी दिन न बन भी जाओगे।

संसार में, जो लोग दुर्बल होते हैं, उन्हीं के सिर दुःख पड़ते । बलवानों से दुःख दूर रहते हैं। देखो, माताजी को बेचारे का ही बलिदान दिया जाता है, सिंह की बलि कोई नहीं

वत्स मुरत्स बुद्धि तारा, भलो मनो तुझ माय,
तात राम करी लेखवो, कहे सुमित्रा माय ॥

सुमित्रा कहती है—वत्स, तूने राम के साथ वन में जाने का जो विचार किया है, वह अतीव उत्तम विचार है। राम को पिता और सीता को माता की तरह समझना। उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो, इस बात का पूरा पूरा खयाल रखना और बराबर उनकी सेवा करना। तेरे भाग्य से ही राम वन जा रहे हैं। इसी से तुझे सेवा करने का ऐसा शुभ अवसर मिल रहा है।

लक्ष्मण जैसे भाई और सुमित्रा जैसी माता का मिलना कठिन है। सुमित्रा कहती है—'हे पुत्र। तेरे भाग्य से ही राम वन म जा रहे हैं। अतएव तू भी जा, विलम्ब मत कर। अन्यथा राम वन चल देंगे और तू यहीं रह जायगा।'

माता का यह कथन सुनकर लक्ष्मण को कितनी प्रसन्नता हुई होगी ? भूखे को भोजन और प्यासे को पानी मिलने से जो आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द लक्ष्मण को हुआ। वह राम के साथ वन मे गये और अनन्य भाव से राम एवं सीता की सेवा करते रहे।

मुनि कहते हैं—मेरे भाई स्वार्थी नहीं थे, किन्तु मुझे रोग मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। वे सदैव मेरे विषय में चिन्ता करते रहते थे कि मेरे भाई का दुःख कैसे दूर हो ? यह रोगमुक्त किस प्रकार हो ? हमें तभी आनन्द होगा, जब हमारे भाइ का रोग दूर होगा। भले कोइ यह सारी सम्पत्ति ले ले किन्तु हमारे भाई को स्वस्थ कर दे। इस प्रकार मेरे भाई मुझे रोगमुक्त करने

के लिए यत्नशील थे; फिर भी वह रोगमुक्त करने में समर्थ न हो सके। यही मेरी अनाथता थी।

अनाथी मुनि जो कुछ कह रहे हैं, उस पर आप लोग भी विचार करो। जब अनाथी मुनि के भाई उन्हें नीरोग न कर सके तो क्या तुम अपने भाई का दुःख दूर कर सकते हो ? नहीं, तो फिर जैसे श्रेणिक अपने आपको अनाथ मानने लगा, उसी प्रकार तुम भी अपने को अनाथ क्यों नहीं मानते ? माता, पिता, भाई आदि के तुम नाथ नहीं हो, उसी प्रकार वे भी तुम्हारे नाथ नहीं हैं। अतएव तुम स्वयं अपने नाथ बनो। तुम अपनी आत्मा के नाथ आप बन जाओगे तो अखिल संसार तुम्हारे पैरों में पड़ेगा। अनाथ मुनि अपने नाथ बने तो राजा श्रेणिक भी उनके चरणों में गिरा। राजा श्रेणिक किसी के भय से पैरों में गिरने वाला नहीं था; परन्तु जो अपनी आत्मा के नाथ बने थे, उन सनाथ बने हुए अनाथ मुनि के पैरों में गिरते श्रेणिक को तनिक भी संकोच नहीं हुआ।

तुम अपनी आत्मा के नाथ बनो। मै यह नहीं कहता कि आज ही घर-द्वार छोड़ दो; परन्तु 'मुझे अनाथता त्याग कर नाथ बनना है' ऐसी भावना तो आपके अन्तःकरण में होनी ही चाहिए। इस प्रकार सनाथ बनने की भावना होगी तो किसी दिन सनाथ बन भी जाओगे।

ससार में, जो लोग दुर्बल होते हैं, उन्हीं के सिर दुःख पड़ते हैं। बलवानों से दुःख दूर रहते हैं। देखो, माताजी को बेचारे बकरे का ही बलिदान दिया जाता है, सिंह की बलि कोई नहीं

देता। कारण यही कि बकरी तो कान पकड कर बलिवेदी पर ले जाई जाती है, पर सिंह तो पकडने वाले को ही खा जाता है। अतएव अनाथ मुनि का कथन ध्यान मे रक्खो और अपने आपको सबल एवं सनाथ बनाओ।

भइणिओ मे महाराय, सगा जिट्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २७ ॥

अर्थ — महाराज। मेरी छोटी और बडी सगी बहिनें भी थीं, किन्तु वे भी मुझे दुःख से मुक्त करने मे समर्थ नहीं हो सकीं। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान —अनाथ मुनि आगे कहते हैं— राजन्। मेरी छोटी और बडी सहोदर भगिनियाँ भी थीं। साधारणतया ससार की किसी भी स्त्री को बहिन कहा जा सकता है परन्तु वह धर्म के सम्बन्ध से बहिन कहलाती है। उन्हें सगी बहिन नहीं कह सकते। मेरी सगी बहिनों ने भी मेरे रोग को दूर करने मे सभी शक्य प्रयत्न किये, किन्तु वे भी सफल न हो सकीं।

यहाँ एक प्रश्न खडा हो सकता है कि जब माता, पिता और भाई भी दुःख मे न बचा सके तो फिर बेचारी बहिनों की क्या चलाई ? जहाँ सूर्य का प्रकाश भी काम न दे सकता हो, वहाँ दीपक का प्रकाश क्या काम देगा ? फिर बहिनों का अलग उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संसार मे ऐसी विचित्रता देखी जाती है कि कभी कभी जो काम बडों से नहीं होता, वह छोटों से हो जाता है। जहाँ सूर्य का प्रकाश

काम नहीं देता, वहां दीपक का प्रकाश भी उपयोगी सिद्ध होता है। मेरे खयाल से संसार की यही विचित्रता बतलाने के लिए बहिनों का वर्णन किया गया है।

भाई का भाई के साथ जैसा संबन्ध है, वैसा ही बहिन के साथ भी है। ऐसी स्थिति होने पर भी कुछ लोग पुत्र के जन्म से तो प्रसन्न होते हैं, किन्तु पुत्री के जन्म से दुःख अनुभव करते हैं। इससे भी अधिक दुःख की बात यह है कि कतिपय श्राविका कहलाने वाली बहिने भी पुत्र का जन्म होने पर जापे में उसकी पूरी-पूरी संभाल करती हैं, किन्तु पुत्री का जन्म हो तो उपेक्षा का भाव धारण करती हैं। पुत्र और पुत्री में इस प्रकार का भेद करना क्या उचित कहा जा सकता है ? अनार्य कहलाने वाले यूरोपवासी भी इस प्रकार का भेदभाव नहीं रखते। और तुम आर्य तथा श्रावक-श्राविका कहलाते हुए भी यह जघन्य भेदभाव रखते हो। यह उचित नहीं है। माता या पिता होने के नाते तुम्हें पुत्र और पुत्री पर समभाव रखना चाहिए, लेश मात्र भी पक्षपात नहीं करना चाहिए। पुत्र और पुत्री दोनों के सहकार से ही यह संसार चल रहा है। संसार रूपी गाड़ी के यह दोनों दो चक्र हैं। इन्हीं दो चक्रों के आधार पर संसार की गाड़ी चल रही है।

संसार की इस विचित्रता को बतलाने के लिए ही शास्त्रकारों ने बहिनों का पक्ष लिया है। इसके अतिरिक्त बहिनों के उल्लेख करने का एक कारण यह दिखलाना भी हो सकता है कि उनका घर भरा-पूरा था। उसमें खटकने वाला किसी प्रकार का अभाव नहीं था।

अनाथ मुनि ने भाई बहिनों के सम्बन्ध का परित्याग कर दिया था, फिर भी वह उस सम्बन्ध को पूर्वभाव से स्वीकार करके कहते हैं—जितना प्रयत्न माता, पिता और भाइयों ने किया था, उतना ही प्रयत्न बहिनों ने भी किया था।

आजकल कई लोग कहने लगे हैं—हमें न पुत्रकी आवश्यकता है और न पुत्री की ही। जनसंख्या बहुत बढ गई है, अतएव हम तो सन्ततिनियमन का प्रयत्न करते हैं। किन्तु विचारणीय बात तो यह है कि सन्तान की वृद्धि हुई क्यों ? तुम्हारी विषय वासना की वृद्धि के कारण ही सन्तति की वृद्धि हुई है। अब अगर आपको सन्तान की आवश्यकता नहीं है तो विषयवासना का त्याग क्यों नहीं करते ? विषय सेवन का त्याग न करना और कृत्रिम उपायों द्वारा सन्ततिनियमन करना अनुचित है। यह घोर दुष्कर्म है और इसके परिणाम का विचार करने से बडा दुःख होता है। भारत की जनता में कृत्रिम उपायों से सन्ततिनिरोध का भूत कहां से घुस पडा ? संयम का आदर्श कैसे भुला दिया गया ? सततिनिरोध का सच्चा उपाय संयम ही है। इस आदर्श उपाय को छोड कर स्वच्छंदता के मार्ग पर जाने से विषयवासना घटने के बदले बढ़ेगी। स्त्री पुरुषों का मन काम वासना से रंग जायगा और वीर्य का पानी की तरह दुरुपयोग होने के परिणाम स्वरूप निर्बलता आ जायगी।

वीर्य मनुष्य का जीवन सत्व है। वीर्य का ह्रास होने से मनुष्य जीवन का ह्रास होता है। जो वीर्य मनुष्यजीवन का सत्व गिना जाता है, उसका पानी की तरह दुरुपयोग करने से बढ़ कर दुःख की बात और क्या हो सकती है ? अतएव सन्तान की वृद्धि

विषय-भोग की वृद्धि का परिणाम है, यह स्वीकार करो और उसका नियंत्रण करने के लिए संयम के मार्ग को ग्रहण करो। संयम के मार्ग को ग्रहण करने से सन्तति का निरोध भी होगा और मनुष्य सबल हो कर अपना कल्याण भी कर सकेगा। तीर्थङ्कर देव स्वयं कह गये हैं कि यद्यपि हमारा जन्म माता-पिता के रज-वीर्य से हुआ है, फिर भी आत्मा का कल्याण तो ब्रह्मचर्य से ही होता है।

तीर्थङ्कर देव के इस कथन पर गम्भीर विचार करो और ब्रह्मचर्य को आदर्श मानकर सन्ततिनिरोध के लिए संयम का मार्ग ग्रहण करो। कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तति का निरोध करना सच्चा उपाय नहीं है। यह उपाय तो आत्मा को पतन के मार्ग पर ले जाने वाला और आत्मा का अहित करने वाला है। जैन समाज और भारतीय जनता इस उन्मार्ग पर न चले तो अच्छा है, अन्यथा इसका परिणाम भयंकर है।

अभिप्राय यह है कि सन्तति के रूप में पुत्र और पुत्री दोनों ही हैं। दोनो के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। परिवार में दोनो का स्थान समान है। यह प्रकट करने के लिए मुनि ने अपनी बहिनों का भी उल्लेख किया है।

मुनि कहते है—राजन्, मेरी बहिनें भी थीं। उन्होंने भी माता-पिता तथा भाइयों की तरह मेरे रोगनिवारण के लिए अनेक प्रयत्न किये, परन्तु वे सफल न हो सकीं। ऐसी मेरी अनाथता थी।

राजन्, बहिनों से कुछ न लेकर उन्हें देना चाहिए। यह भाई का धर्म है। परन्तु मेरी बहिनें मेरे दुःख से दुखी रहती थीं। मैं अपनी बहिनों को कुछ देकर सुखी बनाऊँ, यह मेरा कर्त्तव्य था,

किन्तु मैं स्वय दुखी था। इस कारण मैं उसे सुखी न बना सका। अपने शरीर की इतनी अधिक विवशता देखकर मुझे भान हुआ कि वास्तव मे यह शरीर ही दु ख का कारण है। इस शरीर से मुक्त हो कर ही मैं सुखी हो सकता हूँ। मेरे दु ख को दूसरा कोई भी नहीं मिटा सकता। मैं स्वय ही अपना दु ख दूर कर सकूगा।

मुनि के इस कथन पर जरा विचार करो। तुम्हारे दु ख को भी दूसरा कोइ दूर नहीं कर सकता। तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारे दु ख को दूर करने मे समर्थ हो सकती है। अतएव अपनी आत्मा की शक्तियों की ओर ही देखो और आत्मा को समर्थ तथा सावधान बनाओ।

आत्मा दूसरों की शरण मे जाने के कारण ही अनाथ बन गया है। अगर यह अपनी चित्शक्ति और ज्ञानशक्ति का विकास करे तो अनाथता को दूर करके सनाथ बन सकता है। आत्मिक शक्ति का विकास करने के लिए हृदयमथन की आवश्यकता है।

भारिया मे महाराय ! अणुरत्तमणुव्वया।
असु पुण्णेहिं नयणेहिं, उर मे परिसिंचइ ॥ २८ ॥
अन्न पाण च ण्हाण च, गधमल्लविलेवण।
मए नायमणाय वा, सा वाला नोवभुञ्जइ ॥ २९ ॥
खण पि मे महाराय ! पासाओ मे न फिट्टइ।
न य दुक्खा विमोयति, एसा मज्झ अणाहया ॥ ३० ॥

अर्थ—महाराजा, मेरी पत्नी पतिव्रता थी और मुझ पर अनुरक्त थी। वह मेरी दशा देखकर अपनी आँखों के आँसुओं से

मेरे हृदय का सिंचन किया करती थी। अर्थात् रोती रहती थी।

उस नवयुवती ने अन्न खाना, पानी पीना, केसर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन करना एवं शृंगार करना छोड़ दिया। मुझे दिखलाने के लिए ही उसने ऐसा नहीं किया, वरन् मेरे परोक्ष में— अनजान में भी वह इन सब का सेवन नहीं करती थी।

मेरी पत्नी क्षण भर के लिए भी मेरे पास से अलग नहीं होती थी। फिर भी वह मुझे दुःखमुक्त न कर सकी। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान:—संसार में स्त्री का संबंध बहुत निकट का माना जाता है। और स्त्री सुख का साधन समझी जाती है, परन्तु अनाथ मुनि कहते हैं—मै अपने अनुभव से कहता हूँ कि यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। यह कोई सुनी-सुनाई बात नहीं, अपने ही जीवन की अनुभव की हुई है।

महाराज, आप कहते हैं कि मेरे राज्य में चलो। मै सुन्दरियों के साथ तुम्हारा विवाह करा दूँगा; और जिस अनाथता के कारण संयम लेना पड़ा, वह अनाथता दूर हो जायगी। किन्तु इस कथन के उत्तर में मेरी बात सुनिए.—

मेरी पत्नी पतिव्रता थी। वह मेरे सुख में सुखी और दुख में दुखी रहती थी। मेरा दुख देखकर वह सदा रोया करती और अपने आंसुओं से मेरे हृदय को आर्द्र किया करती थी। मुझे दुःख में देखकर उसने खाना-पीना त्याग दिया था; स्नान और सुगंधित द्रव्यों का लेप करना भी छोड़ दिया था। वह सिंगार भी नहीं करती थी। यह बात नहीं थी कि मुझे प्रसन्न करने के लिए या कुलटाओं की तरह ऊपर से पतिभक्ति का प्रदर्शन करने के लिए

मेरे सामने वह खान पान आदि का उपभोग न करती हो और परोक्ष मे मौन उडाती हो, किन्तु वास्तव में ही वह मेरे दुःख से दुःखित थी और प्रत्यक्ष या परोक्ष में इन वस्तुओं का उपभोग नहीं करती थी। इसके अतिरिक्त मेरी पत्नी एक क्षण के लिए भी मुझसे विलग नहीं होती थी। फिर भी वह मुझे दुःख मुक्त न कर सकी। यह मेरी अनाथता थी।

जैसे तीव्र वेदना के कारण मुझे निद्रा नहीं आती थी, उसी प्रकार मेरे दुःख के कारण मेरी पत्नी को निद्रा नहीं आती थी। वह मन ही मन सोचती थी कि मै पति की अर्धांगना हूँ। पति कष्ट भोग रहे हैं तो उनका अर्धांग सुखी कैसे रह सकता है ? इस प्रकार के विचार से वह दुखी रहती थी। जैसे काच के सामने कोई वस्तु रक्खी जाय तो उसका प्रतिबिम्ब काच मे ज्यों का त्यों दिखलाई पडता है, उसी प्रकार मेरे दुःख की छाया उसके चेहरे पर प्रतिबिम्बित हो रही थी। ऐसी सुशीला और पतिव्रता पत्नी भी मुझे दुःख से मुक्त करने म समर्थ न हो सकी। यह मेरी अनाथता थी।

एक प्रश्न उपस्थित होता है—माता पिता, भाई-बहिन और पत्नी आदि के द्वारा समस्त शक्य प्रयत्न करने पर भी अनाथ मुनि का रोग शान्त नहीं हुआ, यह अच्छा हुआ या खराब ? ऊपरी दृष्टि से देखने वाले लोग तो यही कहेंगे कि अनाथ मुनि को तीव्र असाता वेदनीय कर्म का उदय होने से रोग उपशान्त नहीं हुआ होगा, परन्तु मुनि के कथन पर विचार करने से प्रतीत होगा कि उनका रोग शान्त न होना भी एक दृष्टि से अच्छा ही हुआ। मुनि कहते हैं—कदाचित् पत्नी के प्रयत्न से मेरा रोग मिट गया होता तो मैं उसका

गुलाम हो गया होता। मैं उसी को अपनी स्वामिनी मान लेता। किन्तु दुःख, सुख के लिए ही होता है। इस कारण मेरा रोग शान्त न हुआ, यह अच्छा ही हुआ। सब लोग दुःख को अनिष्ट समझते हैं पर मेरे लिए तो दुःख भी इष्ट मित्र के समान सहायक सिद्ध हुआ।

ज्ञानी जन कहते हैं:—

सुख के माथे शिला पड़ो, जो प्रभु से दूर ले जाय।
बलिहारी उस दुःख की, जो प्रभु से देत मिलाय॥

वह सुख किस काम का जो परमात्मा से दूर रखता है? दुःख की ही बलिहारी है जो प्रभु के पास ले जाता है। मनुष्य के सिर पर दुःख का भार न होता तो वह न जाने क्या क्या करता। कितना ऊधम मचाता, कितनी उछल-कूद करता।

आज संसार में जो बुराइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनके मूल कारण पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि उत्पादक और प्रचारक सुखी लोग ही हैं। सुखी लोग जितना प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करते हैं, उतना पशु-पक्षी भी नहीं करते। सुखी लोग ही प्रायः दुर्व्यसनों के शिकार होते हैं और मर्यादा का उल्लंघन करते हैं और हानिकारक वस्तुओं को अपनाते हैं। उदाहरण के लिए बीड़ी ही को लीजिए। बीड़ी पीना क्या लाभदायक है? वह धर्म-कर्म की भी हानि करती है और शरीर-स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचाती है। इसी प्रकार खान-पान और पोशाक के विषय में विचार किया जाय तो अनेक बुराइयों के उत्पादक और प्रचारक सुखी लोग ही मिलेंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर कथित सुख बुराइयों

को उत्पन्न करने का कारण प्रतीत होता है।

इसी हेतु अनाथ मुनि कहते हैं—मेरे रोग का शान्त न होना अच्छा ही रहा। हे राजन् ! अपनी पत्नी की ओर से मैं तो अनाथ था ही, परन्तु वह भी मेरी ओर से अनाथ थी। मैं अपनी पत्नी का दुःख दूर नहीं कर सकता था और पत्नी मेरा दुःख दूर नहीं कर सकती थी। वह भी अनाथ थी और मैं भी अनाथ था।

अनाथी मुनि के इस कथन से स्पष्ट है कि भले किसी को पतिपरायणा, पतिव्रता एवं सुशीला पत्नी मिली हो, किन्तु वह उसे सनाथ नहीं बना सकती। इसी प्रकार वह भी अपनी पत्नी को सनाथ नहीं बना सकता। भक्त जन इस बात को भलीभांति जानते हैं और कहते हैं—

मैं प्रभु पतितपावन सुने।
हौं पतित तुम पतितपावन, उभय बानक बने॥

भक्त जन अपनी अनाथावस्था को पतितावस्था का नाम देकर कहते हैं—मुझे पावन कौन करेगा ? सनाथ कौन बनाएगा ? धन सम्पत्ति, भाई बहिन और पत्नी पुत्र आदि मुझे पावन नहीं बना सकते और न सनाथ ही बना सकते हैं। संसार में कपट का जाल बिछा है। उस कपट जाल में से मुक्त करने के लिए और सनाथ बनाने के लिए सच्चा भक्त तो यही कहेगा कि—हे प्रभो। तू ही पतितपावन है। तू ही आत्मा को सनाथ बना सकता है। भगवन्! तेरे समान पतितपावन दूसरा कोई नहीं है। मुझ जैसे पतित को पावन करने वाला तू ही है।

आप लोग यहाँ आये हैं, पर क्या लेने आये हैं ? हम साधु

लोग आशीर्वाद के सिवाय आपको और क्या दे सकते हैं ? परन्तु साधु का आशीर्वाद मँहगा होता है। साधु तो धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दे सकते हैं। इसके सिवाय फकीरों-साधुओं के पास देने को और क्या है ?

फकीर का नाम सुन कर आप सोचते होंगे—फकीर और साधु में तो बहुत अन्तर है; किन्तु ऐसी बात नहीं है। दोनों में शाब्दिक अन्तर ही है, तात्विक भेद कुछ भी नहीं। फकीर किसे कहते हैं ? इस विषय में एक कवि ने कहा है—

फे से फख्र काफ से कुदरत, र से रहीम और ये से याद,
चार हरफ हैं फकीर के, जो पढे तो हो दिल शाद,
फकीर होना बहुत ही कठिन है, जिसमें फिकर की हो न बू,
और कुदरत भी न हो तो, ऐसी फकीरी पर है थू,
रहम न हो दिल माहे तो, दुनिया चाड न होना फकीर तू,
याद इलाही जो कोई करे तो, तू उसके चरणों को छू,

इस कविता में फकीर या साधु का लक्षण बतलाया गया है। फकीर शब्द तीन-चार अक्षरों से बना है; परन्तु उसमें भाव की व्यापकता है।

फकीर शब्द उर्दू के चार अक्षरों से बना है और इन अक्षरों का अर्थ जुदा-जुदा बतलाया गया है। इस प्रकार एक-एक अक्षर का अर्थ बतलाने को संस्कृत में निरुक्ति कहते हैं।

'फकीर' शब्द में पहला अक्षर 'फ' है। इसका अर्थ है—साधु को फिक्र नहीं होनी चाहिए।

कहा भी है—

फिकर सभी का खात है, फिकर सभी का पीर।
फिकर का जो फाका करे, ताको नाम फकीर॥

जिसके अन्तःकरण में दुनियादारी की फिक्र नहीं होती—जो अपनी आत्मा और परमात्मा में ही मस्त रहता है, वही साधु या फकीर है।

फकीर शब्द में दूसरा अक्षर 'क' है, जिसका अर्थ है कुदरत। कुदरत या प्रकृति का आश्रय लिये बिना जीवन नहीं निभ सकता। जब राम वन में गये तो क्या ले गये थे? फिर भी वे क्या भूखे रहे थे? जब साधु गृहसंसार का त्याग करते हैं तो साथ में क्या लेकर निकलते हैं? राम प्रकृति के भरोसे रहे थे तो वे दुखी नहीं हुए और साधु प्रकृति के भरोसे रहते है तो वे भी दुखी नहीं होते। कुदरत पर निर्भर रहते लोग दुखी नहीं होते। परन्तु आजकल तो लोग कुदरत से लड़ाई कर रहे हैं। इसका कटुक फल उन्हें भोगना पड़ रहा है। मगर फकीर लोग कुदरत के ही भरोसे रहते हैं और रहना चाहिए भी।

फकीर शब्द में तीसरा अक्षर 'र' है। उसका अर्थ यहाँ रहम या दया है। जो दूसरों पर रहम दया करता है और दूसरों को जरा भी कष्ट नहीं पहुँचाता, वही फकीर है। 'मैं दुखिया जनों का दुःख जितना दूर करता हूँ, उतना ही परमात्मा के सन्निकट पहुचता हूँ' ऐसा विचार करने वाला ही सच्चा फकीर है। आप यह बात एक कान से सुन कर दूसरे कान से न निकाल दें, किन्तु इस विषय में गंभीर विचार करके जीवन में दया को उतारने का प्रयत्न करें।

फकीर शब्द में चौथा अक्षर 'य' है, जिसका अर्थ है—परमात्मा

का नाम और स्वरूप सदैव याद रहे। जो एकाग्र चित्त से सदैव ईश्वर को याद करता है, वह स्वयं ईश्वर बन जाता है। अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है—जो ईश्वर में तन्मय रहता है—ईश्वर का ही ध्यान धरता है, वह ईश्वरमय बन जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सच्चे फकीर और साधु में शाब्दिक अन्तर भले हो, परन्तु फकीर की जो व्याख्या ऊपर की गई है, उसके अनुसार साधु और फकीर में कोई अन्तर नहीं है।

राजा श्रेणिक आज मस्त फकीर अनाथी मुनि से वार्त्तालाप कर रहा है। मुनि राजा से कहते हे—राजन्! तुम कहते हो कि मेरे यहां हाथी, घोड़ा, रथ, ग्राम और नगर आदि हैं। सब मेरे अधिकार में हैं। सब मेरी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं, परन्तु मै पूछता हूँ कि तुम्हारी आज्ञा तुम्हारे शरीर पर भी चलती है या नहीं? अगर नहीं चलती तो हाथियों और घोड़ों के कारण सनाथ होने का अभिमान त्याग दो। मेरा उदाहरण तुम्हारे सामने है। मेरे यहां सभी प्रकार का वैभव विद्यमान था, फिर भी मैं उससे सनाथ न बन सका।

अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक से जो बात कही है, उस पर तुम भी विचार करो। तुम भी ससार के वैभव पर अभिमान करते होगे, परन्तु क्या इन पदार्थों को छोड़ कर तुम्हें जाना नहीं पड़ेगा? क्या इन पदार्थों पर तुम्हारा हुक्म चलता है? सांसारिक पदार्थों को छोड़िए तुम्हारे शरीर पर भी तुम्हारी आज्ञा नहीं चलती! आज्ञा चलती होती तो तुम्हारे काले बाल सफेद क्यों हो गये? दांत क्यों गिर गये? इस प्रकार जब तुम्हारे शरीर पर भी तुम्हारा अधिकार

नहीं चलता तो फिर बाह्य पदार्थों पर तुम्हारा अधिकार कैसे हो सकता है ? अतएव तुम इस अहंकार का परिहार कर दो कि—मैं सब का नाथ हूँ। राजन् ! तुम जिन पदार्थों के कारण अपने को सनाथ समझते हो उन्हीं पदार्थों के बंधन में पड़कर अनाथ बन रहे हो।

बाह्य पदार्थों के फंदे में पड़ कर आत्मा किस प्रकार अनाथ बन रहा है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हूँ—

मान लीजिए, सिपाही कुछ कैदियों को पकड़ कर ले जा रहे हैं। सिपाही मन में समझते होंगे कि हम कैदियों को पकड़ कर ले जा रहे हैं, परन्तु विचार करने से जान पड़ेगा कि सिपाही भी कैदियों के साथ कैदी बन कर जा रहे हैं। सिपाहियों से कोई कहे कि कैदियों को वहीं खड़ा रख कर यहां आओ, तो क्या वे उन्हें छोड़ कर जा सकते हैं ? इस प्रकार उन कैदियों के साथ सिपाही भी कैदी बने है या नहीं ? इसी तरह आप समझते हैं—'हम सांसारिक पदार्थों के स्वामी हैं, किन्तु वास्तव में संसार के पदार्थ आपके स्वामी बने हैं और उन्होंने तुम्हें अपना गुलाम बना रक्खा है।'

अनाथी मुनि राजा श्रेणिक से कहते हैं--इस प्रकार तुम स्वयं ही अनाथ हो तो मेरे या दूसरों के नाथ कैसे बन सकते हो ? तुम जिन पदार्थों को अपना मान बैठे हो, उन्हीं पर पदार्थों की परवशता के कारण तुम अनाथ हो।

मुनि का कथन सुनकर राजा कहने लगा—यह तो मैं समझ गया कि संसार के पदार्थों के कारण अनाथता आती है, किन्तु यह जानना चाहता हूं कि सनाथ बनने का क्या उपाय है ?

मुनि ने उत्तर दिया—राजन्, अनाथता को दूर करके सनाथ किस प्रकार बना जा सकता है और सनाथ में कितनी अधिक शक्ति होती है, यह मै बतलाता हूँ। सावधान होकर सुनेः—

तओऽहं एवमाहंसु, दुक्खमाहु पुणो पुणो।
वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणंतए ॥ ३१ ॥

सइं च जइ मुच्चेज्जा, वेयणा विउला इतो।
खन्तो दन्तो निरारम्भो, पव्वइए अणगारियं ॥ ३२ ॥

एवं च चिन्तइत्ताणं, पसुत्तो मि नराहिवा।
परियत्तन्तीइ राईए, वेयणा मे खयं गया ॥ ३३ ॥

अर्थ—रोग न मिटने पर, विचार करने से मुझे विश्वास हुआ कि इस अनन्त संसार में मैंने इस प्रकार की वेदना बार-बार भोगी है।

यदि एक बार मै इस विपुल वेदना से छुटकारा पा लूँ तो क्षमावान्, इन्द्रियों का दमन करने वाला और निरारंभी बनकर अनगारधर्म को स्वीकार कर लूँगा।

हे नराधिप! इस प्रकार चिन्तन करते-करते मुझे नींद आ गई। मै सो गया। रात्रि व्यतीत होने पर मैंने अनुभव किया कि मेरी शारीरिक वेदना नष्ट हो गई है—मेरा शरीर नीरोग हो गया है।

व्याख्यान—इन गाथाओं में संसार का बड़ा गंभीर रहस्य बताया गया है। आत्मा किस प्रकार सुखी और किस प्रकार दुखी

होता है, यह यहाँ निरूपण किया गया है।

मुनि कहते हैं—राजन। जब मेरे माता पिता, भाई-बहिन, पत्नी और वैद्य वगैरह सब मिल कर भी मेरे रोग को दूर करने मे समर्थ न हो सके, तब मुझे लगा कि यह मेरे नाथ नहीं हैं। ये रक्षा नहीं कर सकते और मैं इनकी रक्षा नहीं कर सकता। यह सोचकर मैंने मन ही मन कहा—हे आत्मन्। तू इस प्रकार का दुःख पहली बार नहीं भोग रहा है। इससे पहले अनन्त बार भोग चुका है। अतः अब दुःख से मुक्त होने के लिए जागृत हो जा।

साधारण लोग दुःख से घबराते हैं, किन्तु महापुरुष दुःख में से भी सुख की खोज करते हैं। वे समझते हैं कि समस्त दुःख तो समाप्त हो जाते हैं, किन्तु मेरे आत्मा की कभी समाप्ति होने वाली नहीं है, आत्मा अनादि से है और अनन्त काल तक बना रहेगा। जब से ससार है तभी से मैं हूँ तभी से संसार है। मैं और ससार दोनों अनादि कालीन हैं मुझ मे और ससार मे से कौन पहले और कौन पश्चात है, ऐसा कोइ क्रम या भेद नहीं है। जैसे दो आखों मे और दो कानों मे कौन पहले और कौन पीछे है, यह नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार आत्मा और ससार मे कौन पहले और कौन पीछे, यह भी नहीं कहा जा सकता। दोनों ही अनादि हैं।

ससार मे मैंने अनेक बार दुःख भोगे हैं। यह दुःख कहा से आते हैं ? इस प्रश्न पर विचार करके मैं इस निश्चय पर आया हूँ। दुःख मात्र का उद्भव अपने ही सकल्प से होता है। जैसा मैंने सकल्प किया, उसी प्रकार के सुख या दुःख मुझे भोगने पड़े।

यह एक दार्शनिक चर्चा है। कोई-कोई दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा अज्ञानी होने के कारण स्वयं अपना नियामक नहीं हो सकता। अज्ञान के अधीन होकर जीव कर्म तो कर डालता है, किन्तु फल स्वयं नहीं भोग सकता। फल का नियामक ईश्वर ही है। इस प्रकार जीव कर्म करने में स्वतंत्र है, फल भोगने में परतंत्र है। कहा है--

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयम्, आत्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

इस प्रकार जीव को कर्म करने में स्वतंत्र और फल भोगने में ईश्वर के अधीन बतलाया जाता है। परन्तु विचार पर यह कथन तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।

कुरान में एक जगह कहा है--हे मुहम्मद! जो स्वयं नहीं बिगड़ता उसे मैं नहीं बिगाड़ता और जो स्वयं नही सुधरता, उसे मैं नहीं सुधारता। इस प्रकार इस्लाम धर्म भी खुदा को नियामक नहीं मानता।

परमात्मा अगर फल का नियामक नहीं है, तो जीव अपने कार्य के फल को किस प्रकार भोगता है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका उत्तर यह है कि जीव अपने संकल्प के अनुसार सुख या दुःख रूप फल को स्वयं भोगता है। परमात्मा को फल का नियामक मानने में अनेक आपत्तियाँ है। कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य ने चोरी की। तो चोरी करने वाले ने तथा धनी ने पूर्वकृत कर्म का फल भोगा या नया पाप किया? अगर कहा जाय कि पूर्व-पाप का फल भोगा है तो जिसके घर चोरी की गई है, उसने तथा चोरी

करने वाले ने तो पूर्वोपार्जित कर्म का फल भोगा, परन्तु चोरी कराने वाला कौन है ? वह चोरी तो परमात्मा ने ही कराई है। अतएव परमात्मा ने चोरी करवा कर उसे पूर्वकृत पाप का फल प्रदान किया, इस प्रकार मानना ठीक नहीं कहा जा सकता। ज्ञानी जन कहते हैं--चोर चोरी करके पूर्व कर्म को भोगता है और नवीन कर्मों का बंध करता है। अगर संवर द्वारा नवीन कर्मों को न बांधे तो ही वह पाप कर्म से मुक्त हो सकता है।

मुनि कहते हैं- राजन्! अपनी अनाथता के संबंध में विचार करने पर ज्ञात हुआ कि अपने संकल्प के कारण ही मुझे दुःख भोगने पड रहे हैं।

प्रश्न होता है—आत्मा सुख का संकल्प तो करता है, परन्तु दुःख का संकल्प कौन करता है ? इसके अतिरिक्त आत्मा अगर अज्ञान है तो वह नियामक कैसे बन सकता है ? अगर कहा जाय कि प्रकृति व्यवस्था करती है, तो वह जड है। वह अपने आपको भी नहीं जान सकती तो दूसरे की व्यवस्था कैसे कर सकती है ? ऐसी स्थिति मे आत्मा का नियामक तो कोई ज्ञानी होना ही चाहिए।

इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि दूध को यह ज्ञान नहीं होता कि मुझमें कितना रसभाग है और कितना खलभाग है ? उसे यह भी मालूम नहीं होता कि पेट मे जाकर में किस रूप मे परिणत होना है ? इसी प्रकार आपको भी ज्ञान नहीं है कि दूध हमारे पेट मे जाकर किस प्रकार रसभाग और मलभाग मे परिणित होता है ? ऐसी स्थिति मे भी दूध जब पेट मे जाता है तो उसका रसभाग और खलभाग अलग अलग हो जाता है। रसभाग

में से भी जितना भाग आंख को मिलना चाहिए उतना आंख को, जितना भाग कान को मिलना चाहिए उतना कान को और इसी प्रकार प्रत्येक अंग को मिल ही जाता है। इस प्रकार प्रकृति ही ऐसी बनी है कि सब काम अपने आप ही नियमित रूप से होते रहते हैं।

अगर आप प्रकृति द्वारा होने वाले सब खेलों को भलीभांति देखो और समझो तो आप पूर्ण ही बन जाएँ. पर आपको मालूम नहीं है कि यह सब कैसे हो रहा है। आप जानें या न जानें, प्रकृति तो अपना सारा खेल बराबर खेल रही है और आत्मा प्रकृति के इस खेल के कारण ही अपने कर्म का फल आप ही भोगने के लिए विवश हो जाता है।

इस प्रकार कर्म का फल भोगने के लिए परमात्मा या किसी अन्य नियामक की आवश्यकता ही नहीं रहती।

मुनि कहते हैं—राजन् ! अपनी आत्मा की स्थिति देखते हुए मैं इस निश्चय पर आया कि मेरा यह रोग मेरे अपने ही संकल्प से उत्पन्न हुआ है। अतएव यह हाय-हाय करने से दूर नहीं हो सकता। मै अनन्त बार वेदना सहन कर चुका हूँ। अगर वेदना शान्त न हुआ करती होती तो पहले की वेदना कैसे शान्त हो गई ? इससे तो यही जान पड़ता है कि वेदना उत्पन्न भी होती है और उपशान्त भी होती है। तो फिर मेरी यह वेदना क्यों नहीं दूर होती ? इस प्रश्न पर विचार करते-करते मै इसी परिणाम पर आया कि यह उग्र वेदना मैने अपने संकल्प से ही बुलाई है और अपने ही संकल्प से यह दूर की जा सकती है।

आत्मा कितने ही संकल्प स्वयं करता है और कितने ही संकल्प उसे पूर्वजों की विरासत के रूप में प्राप्त होते हैं। यथा—किसी के पूर्वज मासभक्षी नहीं होते तो उसमें भी मांसभक्षण के संस्कार नहीं आते। इसी प्रकार कुछ संस्कार पूर्वजन्म के भी जागृत हो जाते हैं। जैसे—मांस न खाने वाले पुरुष को कभी मांस खाने का स्वप्न भी नहीं आता। इसका कारण यही है कि उसमें मांस खाने का संस्कार ही नहीं है।

इस प्रकार जो होता है, अपने ही संस्कार से होता है, फिर चाहे वह संस्कार इस भव के हों या पूर्वभव के हों। जैसे संकल्प दृढ होने से माता के साथ दुराचार सेवन करने का स्वप्न भी नहीं आता, उसी प्रकार यदि समस्त परस्त्रियों या स्त्री मात्र के साथ भोग न करने का अथवा त्याज्य वस्तुओं को न अपनाने का संकल्प दृढ हो तो आत्मा की बहुत उन्नति हो सकती है।

आत्मा की अधोदशा का कारण आत्मा और परमात्मा की एकरूपता को विस्मृत कर देना है। अगर आत्मा परमात्मा के साथ एकता साधन करके भिन्नता को दूर करने का मकरन्द निश्चय करे तो आत्मा की अधोगति न हो।

जब तक सत्संकल्प नहीं किया जाता, तब तक अनाथता दूर नहीं की जा सकती। अनाथ मुनि ने कैसा सत्संकल्प करके अपनी अनाथता को दूर किया, इस पर गंभीर भाव से विचार करो।

मुनि ने विचार किया—अनेक प्रयत्न करने पर भी जब मेरा रोग दूर नहीं हुआ तो स्पष्ट है कि रोग का मूल बाहर नहीं भीतर ही है। कोई दूसरा मुझे दुःख नहीं दे रहा है। मैं स्वयं अपने

दुःख का कारण हूँ। इस अवस्था में दूसरा मेरे दर्द को कैसे दूर कर सकता है? हां, दूसरा कोई मुझे दुःख देता होता हो, मेरे माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री आदि उसे दूर कर सकते थे। मगर यहां तो मेरी आत्मा स्वयं ही दुःख दे रही है तो दूसरा उसका निवारण किस प्रकार कर सकता है? इस दुःख को तो मेरी ही आत्मा मिटा सकती है। इस प्रकार अपने दुःख को दूर करने का और सनाथ बनने का मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया।

प्रश्न खड़ा होता है—क्या संकल्प करने से दुःख दूर हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानी जन कहते हैं कि—हां, संकल्प से दुःख का निवारण हो सकता है। संकल्प करने का अर्थ है—आत्मा को जागृत करना। जो जागृत होता है, उसे कोई दुःख नहीं दे सकता। जो मनुष्य गाढ़ निद्रा में सोया हो और डरपोक हो, उसके घर में घुस कर चोर भले चोरी कर ले जाय; किन्तु जो मनुष्य जागता होता है और साहसी होता है, क्या उसके घर में चोर घसने का साहस कर सकते हैं? आप जागृत हैं तो चोर क्या कर सकता है?

बाह्य विषय में आपको ऐसा विश्वास रहता है, परन्तु आध्यात्मिक विषय में यह विश्वास निश्चल नहीं रह सकता। आपका आत्मा जागृत हो तो कर्म-चोर की क्या ताकत है कि तुम्हारी शक्ति का अपहरण कर सके? सत्य यह है कि आपने अपनी असावधानी से ही कर्म रूपी चोर को आत्मा-गृह में घुसने दिया है। अगर आप निरन्तर जागरूक रहें और अपने आप की चौकसी करते रहें तो चोर कदापि प्रवेश नहीं कर सकते।

आत्मा कितने ही संकल्प स्वय करता है और कितने ही संकल्प उसे पूर्वजों की विरासत के रूप मे प्राप्त होते हैं। यथा—किसी के पूर्वज मासभक्षी नहीं होते तो उसमे भी मासभक्षण के संस्कार नहीं आते। इसी प्रकार कुछ संस्कार पूर्वजन्म के भी जागृत हो जाते हैं। जैसे—मास न खाने वाले पुरुष को कभी मास खाने का स्वप्न भी नहीं आता। इसका कारण यही है कि उसमें मास खाने का संस्कार ही नहीं है।

इस प्रकार जो होता है, अपने ही संस्कार से होता है, फिर चाहे वह संस्कार इस भव के हों या पूर्वभव के हों। जैसे संकल्प दृढ होने से माता के साथ दुराचार सेवन करने का स्वप्न भी नहीं आता, उसी प्रकार यदि समस्त परस्त्रियों या स्त्री मात्र के साथ भोग न करने का अथवा त्याज्य वस्तुओं को न अपनाने का संकल्प दृढ हो तो आत्मा की बहुत उन्नति हो सकती है।

आत्मा की अधोदशा का कारण आत्मा और परमात्मा की एकरूपता को विस्मृत कर देना है। अगर आत्मा परमात्मा के साथ एकता साधन करके भिन्नता को दूर करने का संकल्प निश्चय करे तो आत्मा की अधोगति न हो।

जब तक सत्संकल्प नहीं किया जाता, तब तक अनाथता दूर नहीं की जा सकती। अनाथ मुनि ने कैसा सत्संकल्प करके अपनी अनाथता को दूर किया, इस पर गभीर भाव से विचार करो।

मुनि ने विचार किया—अनेक प्रयत्न करने पर भी जब मेरा रोग दूर नहीं हुआ तो स्पष्ट है कि रोग का मूल बाहर नहीं भीतर ही है। कोई दूसरा मुझे दुःख नहीं दे रहा है। मैं स्वयं अपने

बड़बड़ाना जागृति का स्वरूप नहीं, निद्रा का ही द्योतक है, उसी प्रकार रुग्णावस्था की चीख और चिल्लाहट भी भाव-निद्रा की सूचक है।

मुनि कहते हैं—बीमारी के समय मैं भी चिल्लाहट मचा रहा था, परन्तु उसे रोग की अधिकता का परिणाम समझकर कोई सुनता नहीं था। इसी प्रकार तुम भी रोग को चले जाने को कहते हो अथवा उसके लिए चीखते हो, किन्तु जब तक अधिकारी बन-कर न कहा जाय, तब तक कैसे रोग जा सकता है ?

जिस प्रकार अनाथ मुनि ने अधिकारी बन कर अपनी अना-थता दूर की, उसी प्रकार आप भी अधिकारी बनकर संकल्प करो तो रोग भी दूर हो सकता है।

मुनि कहते हैं—राजन् ! अब मुझे पता लगा है कि मैंने अपने संकल्प से ही रोग को पकड़ रक्खा है और संकल्प के द्वारा ही उसे दूर किया जा सकता है। इस प्रकार दृढ़ संकल्प करके मैंने रोगों से कहा—'रोगों ! तुम हट जाओ।' अब मुझे शान्त, दान्त और निरारंभी होना है। एक वार मेरी वेदना शान्त हो कि मैं दुनिया के सारे बखेड़े छोड़ दूँगा।'

अनाथ मुनि ने यह भावना तो की कि मेरा रोग चला जाय तो मैं शान्त, दान्त और निरारम्भी बनूँ, किन्तु यह भावना नहीं कि मैं नीरोग हो जाऊँ तो मौज-मजा करूँ। उनकी हृदयभावना ऐसी ही थी कि अगर एक वार रोगमुक्त हो जाऊँ तो जिस अनाथता के कारण दुःख भोगना पड़ता है, उसे सदा के लिए दूर कर दूँ। मुनि की इस भावना का आशय यही है कि यह आत्मा अनन्त काल से अपनी भूल के कारण दुःख भोग रहा है। इसे दुःख

कहा जा सकता है—चोर की बात तो प्रत्यक्ष अनुभव में आती है। चोर आँखों से दिखाई दे जाय और जोर की चिल्लाहट मचाई जाय तो वह भाग जाता है; परन्तु कर्म कहां भाग जाता है ? इसके अतिरिक्त जब शरीर में रोग जनित पीड़ा होती है तो हाय हाय मचाई जाती है, रोगी चीखता है, चिल्लाता है, फिर भी रोग जाता नहीं। ऐसी स्थिति में किस प्रकार विश्वास किया जाय कि सङ्कल्प करने मात्र से कर्म या रोग चला जाता है ? इसके सिवाय शास्त्र में भी तो कहा है कि—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्—कृत कर्मों से तब तक छुटकारा नहीं मिल सकता, जब तक उनका फल न भोग लिया जाय।

शास्त्र तो ऐसा कहते हैं और आप यह कहते हैं कि जागृत रहने से कर्म भी भाग जाते हैं। यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। तो कैसे माना जाय कि जागृत रहने से अथवा संकल्प करने से कर्म अथवा रोग दूर हो जाते है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भिन्न भिन्न दृष्टियों से दोनों बातें सत्य हैं। कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं, यह बात भी सत्य है और सङ्कल्प करने से कर्म तथा रोग दूर हो जाते हैं, यह बात भी सत्य है।

कहा जा सकता है रोग की पीड़ा से व्याकुल होकर जब रोगी तड़फता है और चीखता चिल्लाता है, तब रोग दूर क्यों नहीं हो जाता ? परन्तु रोग के समय हाय-तोबा मचाना, चीखना, चिल्लाना जागृति का लक्षण नहीं है, प्रत्युत निद्रा का लक्षण है जैसे निद्रा में

बड़बड़ाना जागृति का स्वरूप नहीं, निद्रा का ही द्योतक है, उसी प्रकार रुग्णावस्था की चीख और चिल्लाहट भी भाव-निद्रा की सूचक है।

मुनि कहते हैं—बीमारी के समय मैं भी चिल्लाहट मचा रहा था, परन्तु उसे रोग की अधिकता का परिणाम समझकर कोई सुनता नहीं था। इसी प्रकार तुम भी रोग को चले जाने को कहते हो अथवा उसके लिए चीखते हो, किन्तु जब तक अधिकारी बनकर न कहा जाय, तब तक कैसे रोग जा सकता है ?

जिस प्रकार अनाथ मुनि ने अधिकारी बन कर अपनी अनाथता दूर की, उसी प्रकार आप भी अधिकारी बनकर संकल्प करो तो रोग भी दूर हो सकता है।

मुनि कहते हैं—राजन्! अब मुझे पता लगा है कि मैंने अपने संकल्प से ही रोग को पकड़ रक्खा है और संकल्प के द्वारा ही उसे दूर किया जा सकता है। इस प्रकार दृढ़ संकल्प करके मैंने रोगों से कहा—'रोगों! तुम हट जाओ।' अब मुझे शान्त, दान्त और निरारंभी होना है। एक बार मेरी वेदना शान्त हो कि मैं दुनिया के सारे बखेड़े छोड़ दूँगा।'

अनाथ मुनि ने यह भावना तो की कि मेरा रोग चला जाय तो मैं शान्त, दान्त और निरारम्भी बनूँ, किन्तु यह भावना नहीं कि मैं नीरोग हो जाऊँ तो मौज-मजा करूँ। उनकी हृदयभावना ऐसी ही थी कि अगर एक बार रोगमुक्त हो जाऊँ तो जिस अनाथता के कारण दुःख भोगना पड़ता है, उसे सदा के लिए दूर कर दूँ। मुनि की इस भावना का आशय यही है कि यह आत्मा अनन्त काल से अपनी भूल के कारण दुःख भोग रहा है। इसे दुःख

पहुँचाने वाला कोई दूसरा नहीं है।

मुनि के इस कथन पर विचार करके आप अपने कर्त्तव्य का निश्चय कीजिए। मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि आप सब इन मुनि की तरह आज ही दीक्षा ले लें। ऐसा करना तो अपनी अपनी शक्ति पर निर्भर है, किन्तु मुनि के कथन में जो तत्त्व निहित है, उसे अपने अन्तःकरण में स्थान दो। भक्त लोग तत्त्व को समझते हैं और इसीलिए वह कहते हैं—

> जलचर वृन्द जाल अन्तगत होत सिमट एक पासा,
> एकहि एक खात परस्पर, नहिं देखत निज नाशा।
> माधव जू! मों सम मन्द न काऊ॥
> यद्यपि मीन पतंग हीनमति मोहि न पूजै ओऊ,
> महामोह सरिता अपार में सन्तत फिरत बहोऊ,
> श्रीप्रभु चरण कमल नौका तजि, फरी फरी फन गह्यो,
> माधव जू! सो सम मन्द न काऊ॥

भक्त कहते हैं--प्रभो! मैं व्यर्थ ही दूसरों को दोष देता हूँ। मेरा यह सोचना व्यर्थ है कि रोग, दुःख, नरक, कर्म आदि मुझे सताते हैं। ऐसा विचार करना मेरी मूर्खता है। वस्तुतः ऐसा विचार करने वाले के समान और कोई मूर्ख नहीं है। जिस प्रकार मछली जाल में पड़कर अपने प्राण गंवा देती है और पतंग दीपक के मोह में पड़कर मर जाता है, यह उनकी मूर्खता है परन्तु मैं तो उनसे भी अधिक मूर्ख हूँ। क्यों कि—

> रुचिर रूप आहार वश्य उन्ह पावक लोह न जान्यो।
> देखत विपति विषय न तजत हौं तातें अधिक अयान्यो॥

मछली जाल को जाल समझ कर उसमें नहीं फँसती। वह आहार की खोज में जाती है और फँस जाती है। उसे विदित होता कि यह आहार नहीं, बल्कि उसे पकड़ने का जाल है तो वह उस आहार को भी न खाती। इसी प्रकार पतंग भी आग को आग नहीं समझता। वह अग्नि का सुन्दर रूप देखकर उसमें गिरता है। कदाचित् उसे आग का वास्तविक ज्ञान होता तो वह उसमें न पडता। किन्तु मैं तो विषय को विपत्ति समझ कर भी विषय वासना में पड़ा हुआ हूँ। इस कारण मैं मछली और पतंग से भी अधिक मूर्ख हूँ।

मुनि कहते हैं—मैं अपनी ही भूल के कारण अनादि काल से दुःख भोग रहा हूँ। विषयभोग के कारण ही मुझे दुःखों का पात्र बनना पड़ रहा है। यह जान करके भी मैं विषयों का त्याग नहीं करता था। किन्तु राजन्। जब मुझे अपनी भूल का भान हुआ, तभी मैंने दुःखों से कह दिया—'तुम सब यहाँ से चले जाओ। मैं क्षमावान्, दान्त और निरारम्भी बनूँगा।' मेरे इस संकल्प के सामने क्या दुःख टिक सकते थे?

मुनि के इस कथन के प्रकाश में विचार करो कि आप संसार से बाहर निकलने के काम करते हो अथवा और अधिक संसार में फँसने के? भक्त जनों का कहना तो यह है कि—हे प्रभो! इस संसार-सागर में हम अपनी भूल के कारण ही गोते खा रहे हैं। संसार-सागर से पार होने के लिए महापुरुषों ने हमारे सामने नौका भी खड़ी रक्खी है; किन्तु हम उस नौका को छोड़ देते हैं और फेन जैसी निस्सार वस्तु का सहारा लेने का प्रयत्न करते हैं।

पहुँचाने वाला कोई दूसरा नहीं है।

मुनि के इस कथन पर विचार करके आप अपने कर्त्तव्य का निश्चय कीजिए। मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि आप सब इन मुनि की तरह आज ही दीक्षा ले लें। ऐसा करना तो अपनी अपनी शक्ति पर निर्भर है, किन्तु मुनि के कथन में जो तत्त्व निहित है, उसे अपने अन्तःकरण में स्थान दो। भक्त लोग तत्त्व को समझते हैं और इसीलिए वह कहते हैं—

जलचर वृन्द जाल अन्तगत होत सिमट एक पासा,
एकहि एक खात परस्पर, नहिं देखत निज नाशा।
माधव जू! मो सम मन्द न काऊ॥
यद्यपि मीन पतंग हीनमति मोहि न पूजै ओऊ,
महामोह सरिता अपार में संतत फिरत बह्योऊ,
श्रीप्रभु चरण कमल नौका तजि, फरी फरी फन गह्यो
माधव जू! मो सम मन्द न काऊ॥

भक्त कहते हैं—प्रभो! मैं व्यर्थ ही दूसरों को दोष देता हूँ। मेरा यह सोचना व्यर्थ है कि रोग, दुःख, नरक, कर्म आदि मुझे सताते हैं। ऐसा विचार करना मेरी मूर्खता है। वस्तुतः ऐसा विचार करने वाले के समान और कोई मूर्ख नहीं है। जिस प्रकार मछली जाल में पड़कर अपने प्राण गंवा देती है और पतंग दीपक के मोह में पड़कर मर जाता है, यह उनकी मूर्खता है, परन्तु मैं तो उनसे भी अधिक मूर्ख हूँ। क्यों कि—

रुचिर रूप आहार वश्य उन्ह पावक लोह न जान्यो।
देखत विपति विषय न तजत हों तातें अधिक अयानो॥

हैं और मनुष्य पार्थिव-औदारिक शरीरवाले ! किन्तु उस समय देव ने इन्द्र से कुछ न कह कर पहले राजा को समकित से च्युत करके फिर इन्द्र से कहने का विचार किया। इस प्रकार विचार करके उस देव ने राजा को सम्यक्त्वच्युत करने के अनेक प्रयास किये। मगर राजा सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुआ। अन्त में देव को कहना पड़ा—इन्द्र महाराज ने जैसी आपकी प्रशंसा की थी, वास्तव में ही आप वैसे हैं। आप सचमुच प्रशंसनीय और श्लाघनीय हैं। मैंने इन्द्र महाराज के कथन पर तो विश्वास नहीं किया मगर आपकी दृढ़ता देखकर विश्वास करना पड़ा।

अभिप्राय यह है कि जैन धर्म निर्ग्रन्थप्रवचन है। अतएव निर्ग्रन्थप्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा रक्खो। सत्संकल्प-दृढ़ श्रद्धा रखने से तुम्हारा श्रेय होगा। सुख और दुःख या सद्गुण और दुर्गुण-सब तुम्हारे प्रशस्त या अप्रशस्त सँकल्प पर निर्भर हैं। अतएव निरंतर सत्संकल्प ही करना चाहिए।

संकल्प की शक्ति कितनी अद्भुत है, यह देखो। मैंने विचार किया-इस प्रकार का दुःख मै अनन्त बार भुगत चुका हूँ। दुःख उत्पन्न हुआ और नष्ट भी हो गया, पर मे जैसा का जैसा ही रहा। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि वेदना का जनक स्वयं मै हूँ और मैं ही उसका नाश कर सकता हूँ। इस प्रकार विचार करके मै इस निश्चय पर आया कि आत्म साधना में बाधक यह वेदना अगर दूर हो जाय तो मै क्षमाशील, इन्द्रियों को दमन करने वाला और आरंभ त्यागी बन जाऊँगा।

क्षमा, इन्द्रियदमन, निरारंभता और प्रव्रज्या, यह सब क्या

मुनि कहते हैं—राजन् ! मैं प्रभु रूपी नौका का सहारा न लेकर माता पिता रूपी संसार सागर के फेन को पकड़ रहा था। मैं मानता था कि मेरे माता पिता मेरे रोग को मिटा देंगे; परन्तु जो फेन के समान है वह क्या सागर में डूबते प्राणियों को बचाने में सहायता कर सकता है ? आखिर जब मैंने प्रभु रूपी नौका पकड़ी, तभी मेरा दुःख दूर हुआ। राजन् ! तुम मेरे इस अनुभव के आधार पर विचार कर देखो कि तुमने जिन वस्तुओं को अपनी समझा है, वह क्या तुम्हें दुःख से मुक्त कर सकेंगी ?

राजा श्रेणिक अनाथ मुनि के कथन को मान गया। वह समझ गया कि मैं वास्तव में अनाथ हूँ और मुझे अनाथ बनाने वाले संसार के यह पदार्थ ही हैं। उसने अनाथता का स्वरूप समझ लिया था। आप लोग भी समझो और अनाथता का निवारण करने का प्रयत्न करो।

यद्यपि राजा श्रेणिक संयम को धारण नहीं कर सका था, किन्तु सीढ़ी सीढ़ी चढ़कर उसने जो बात स्वीकार की थी, उससे तनिक भी विचलित नहीं हुआ था। ग्रन्थकारों के कथनानुसार मुनि का उपदेश सुनकर वह क्षायिक सम्यक्त्व का अधिकारी बन गया था। एक ग्रंथ में तो यहाँ तक कहा है कि सनाथ अनाथ का भेद समझने के बाद उसे धर्म पर दृढ़ विश्वास हो गया था। उसका सम्यक्त्व दृढ़ था। एक बार इन्द्र ने भी उसकी प्रशंसा की थी। इन्द्र द्वारा की हुई राजा श्रेणिक की प्रशंसा एक देव सहन न कर सका। नरेश की प्रशंसा सुनकर वह देव मन ही मन कहने लगा—हमारे सामने मनुष्य की क्या प्रशंसा हो सकती है। हम वैक्रियशरीर के धारक

हैं और मनुष्य पार्थिव-औदारिक शरीरवाले। किन्तु उस समय देव ने इन्द्र से कुछ न कह कर पहले राजा को समकित से च्युत करके फिर इन्द्र से कहने का विचार किया। इस प्रकार विचार करके उस देव ने राजा को सम्यक्त्वच्युत करने के अनेक प्रयास किये। मगर राजा सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुआ। अन्त में देव को कहना पड़ा–इन्द्र महाराज ने जैसी आपकी प्रशंसा की थी, वास्तव में ही आप वैसे हैं। आप सचमुच प्रशंसनीय और श्लाघनीय हैं। मैंने इन्द्र महाराज के कथन पर तो विश्वास नहीं किया मगर आपकी दृढ़ता देखकर विश्वास करना पड़ा।

अभिप्राय यह है कि जैन धर्म निर्ग्रन्थप्रवचन है। अतएव निर्ग्रन्थप्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा रक्खो। सत्संकल्प–दृढ़ श्रद्धा रखने से तुम्हारा श्रेय होगा। सुख और दुःख या सद्गुण और दुर्गुण–सब तुम्हारे प्रशस्त या अप्रशस्त सँकल्प पर निर्भर हैं। अतएव निरंतर सत्संकल्प ही करना चाहिए।

संकल्प की शक्ति कितनी अद्भुत है, यह देखो। मैंने विचार किया–इस प्रकार का दुःख मै अनन्त बार भुगत चुका हूॅ। दुःख उत्पन्न हुआ और नष्ट भी हो गया, पर में जैसा का जैसा ही रहा। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि वेदना का जनक स्वयं मै हूॅ और मैं ही उसका नाश कर सकता हूॅ। इस प्रकार विचार करके मै इस निश्चय पर आया कि आत्म साधना में बाधक यह वेदना अगर दूर हो जाय तो मै क्षमाशील, इन्द्रियों को दमन करने वाला और आरंभ त्यागी बन जाऊँगा।

क्षमा, इन्द्रियदमन, निरारंभता और प्रव्रज्या, यह सब क्या

है ? इनका परस्पर क्या संबंध है ? इस विषय पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिये ।

क्षमाशीलता का अर्थ है सहनशीलता। चाहे कैसी भी स्थिति क्यों न हो और कितने ही जुल्म सिर पर क्यों न आवें, पर अपने स्वरूप का त्याग न करना और धैर्य एवं शान्ति के साथ उनका सामना करना क्षमा है। शास्त्र में कहा है—

पुढवी समे मुणी हविज्जा ।

अर्थात्—मुनि को पृथ्वी के समान क्षमाशील होना चाहिए।

पृथ्वी को कोई लात मारता है, कोई सींचता है तो कोई खोदता है, किन्तु यह सब कुछ सहन करके भी पृथ्वी अपना गुण ही प्रकट करती है। वह सदैव स्थिर रहती है। पृथ्वी की स्थिरता और सहायता से ही यह संसार चल रहा है। पृथ्वी की सहायता प्राप्त न हो तो यह संसार टिक ही नहीं सकता। तुम पृथ्वी के उपकारों को भूल रहे हो परन्तु गनीमत यही है कि पृथ्वी तुम्हें नहीं भूली है। कोई पृथ्वी की पूजा करे या लातें मारे वह किसी पर अप्रसन्न नहीं होती, किसी पर प्रसन्न भी नहीं होती। पृथ्वी प्रसन्नता या अप्रसन्नता के द्वन्द्व में पड़ती ही नहीं।

भगवान् का कथन है कि—हे मुनियो। अगर तुम क्षमावान् बनना चाहते हो तो पृथ्वी के समान सहनशील बनो। पृथ्वी की भांति सहनशील बनोगे तो।—

लाहालाहे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ ॥

लाभ और अलाभ या सुख और दुख का प्रश्न ही तुम्हारे सामने

नहीं रहेगा। साधु के समक्ष धन के लाभ और अलाभ का तो प्रश्न ही नहीं होता, शरीरनिर्वाह के लिए जो भोजन चाहिये, उसमें भी लाभ अलाभ का प्रश्न नहीं रह जाएगा। भोजन मिल गया तो भी आनन्द मानोगे और न मिला तो भी आनन्द मानोगे। व्यापारी लाभ हानि का विचार करते हैं, परन्तु हे साधुओ! व्यापारियों की तरह तुम लाभ हानि के प्रश्न में न पड़ो। तुम तो अपने कर्त्तव्यपालन का ही ध्यान रक्खो। लाभ-हानि के द्वन्द्व में न पड़ना ही संयम का मूल लक्षण है। इस प्रकार यतिधर्म में क्षमा का स्थान पहला है। अतएव लाभ-अलाभ में समान भाव रखना मुनि का पहला धर्म है।

हे मुनियो; क्षमाभाव धारण करने के साथ तुम सुख दुःख में भी समान रहो। जिस प्रकार पृथ्वी पूजने से प्रसन्न नहीं होती और खोदने से नाराज नहीं होती; उसी प्रकार तुम भी सुख-दुःख में समभाव धारण करो। सुख-दुःख में यहां तक मध्यस्थ बन जाओ कि:—

जीवियासमरणभय विप्पमुक्का।

जीवित रहने की लालसा और मरने का भय भी तुम्हारे अन्तःकरण में न रह जाय; तुम्हारे लिए जीवन और मरण भी एकाकार हो उठे। दोनों में किसी प्रकार की भिन्नता न रहे।

हे मुनियो; कोई तुम्हें वन्दना करेगा और कोई यह कह कर निन्दा करेगा कि—कमा कर खाने में मुहताज होने के कारण ढोंगी साधु बन गया है; इस प्रकार प्रशंसक और निन्दक दोनों प्रकार के लोग तुम्हें मिलेंगे। पर किसी के मुख से प्रशंसा सुन कर तुम्हें सुख

का अनुभव नहीं करना है और निन्दा सुन कर दुःख का अनुभव नहीं करना है। तुम निन्दा और प्रशंसा के संबंध में विचार ही न करो। जैसे पृथ्वी खोदने वाले और गालियां देने वाले को—दोनों को—समान रूप से आधार देती है, उसी प्रकार हे मुनियों, जो तुम्हें गालियां दे, उसका भी तुम कल्याण करो। गालियां देने वाला तुम्हें निर्मल बना रहा है, ऐसा मान कर उसके भी कल्याण की कामना करो।

कोई धोबी मुफ्त में तुम्हारे कपड़े धो दे तो तुम्हें प्रसन्नता होगी या अप्रसन्नता ? इसी प्रकार ज्ञानी जन मानते हैं कि *गालियाँ देने* वाला अपने को मुफ्त निर्मल बना रहा है। इस प्रकार जो अपकारी को भी उपकारी मानते हैं, वास्तव में उन महात्माओं की बलिहारी है।

तुम श्रमणोपासक हो और बहिनें श्रमणोपासिका हैं। भगवान् ने तुम्हें *श्रमणोपासक कहा है, अरिहन्तोपासक नहीं कहा।* अतः विचार करो कि तुम्हारा जीवन-व्यवहार कैसा होना चाहिए ? जो अपने तप पर दृढ़ रहता है, वह श्रमण कहलाता है और तुम श्रमण के उपासक हो। जिस प्रकार साधु लाभ हानि के प्रसंग पर समभावी रहते हैं, उसी प्रकार संसार के प्रलोभनों में न पड़कर, *लाभ हानि के प्रसंग पर श्रमण का आंशिक अनुसरण करके,* समभावी बनने से ही तुम सच्चे श्रमणोपासक बन सकते हो। क्या प्रलोभन में पड़कर असत्य भाषण करना श्रमणोपासक का कर्त्तव्य है ? अगर नहीं, तो श्रमणोपासक होकर क्यों मिथ्या भाषण करते हो ? क्यों गालियाँ देते हो ? क्यों किसी को कटुक

वाणी कहते हो ?

मदनरेखा ने अपने पति को दो घड़ी में ही नरक से बचाकर स्वर्ग में पहुँचा दिया था। जब तक उसके पति के कंठ में प्राण रहे, तब तक वह धर्म का ही उपदेश देती रही। उसने रोना और छाती पीटना उचित नहीं समझा। यह विचार नहीं किया कि—'मेरा क्या होगा ? मै क्या करूँगी ?' पति का अन्तिम श्वास निकल जाने के पश्चात् ही उसने अपनी रक्षा के संबंध में विचार किया।

मदनरेखा के मस्तक पर उस समय कितना बड़ा संकट था। सगे जेठ ने उसके पति के प्राण लिये थे। मदनरेखा गर्भवती थी, उसी समय जेठ उसके शील को नष्ट करने के लिए तैयार था। जेठ राजा था, सत्ता और ऐश्वर्य उसकी मुट्ठी में थे। मदनरेखा के लिए कितना विकराल प्रसंग था वह। फिर भी वह रोई नहीं। उसने शील की रक्षा की। इसी कारण आज भी उसका गुणगान किया जाता है। तुम भी रोने का रिवाज त्यागो और आर्त्तध्यान त्यागकर धर्मध्यान करो।

तात्पर्य यह है कि क्षमाशील बनने से अपना भी कल्याण होता है और जगत् का भी कल्याण होता है।

अनाथी मुनि कहते हैं—मैंने निश्चय कर लिया कि एक बार मैं स्वस्थ हो जाऊँ तो क्ष :ील बन जाऊँगा।

जड़ सृष्टि पर भी 'त्संकल्प का प्रभाव पड़ता है। शास्त्र में कहा है—

'सच्चं खु भयवं।

सत्य के प्रभाव से क्या नहींहो सकता ? सत्य से तो भगवान् भी

का अनुभव नहीं करना है और निन्दा सुन कर दुख का अनुभव नहीं करना है। तुम निन्दा और प्रशंसा के संबंध में विचार ही न करो। जैसे पृथ्वी खोदने वाले और गालियां देने वाले को— दोनों को—समान रूप से आधार देती है, उसी प्रकार हे मुनियों, जो तुम्हें गालियां दे, उसका भी तुम कल्याण करो। गालियां देने वाला तुम्हें निर्मल बना रहा है, ऐसा मान कर उसके भी कल्याण की कामना करो।

कोई धोबी मुफ्त में तुम्हारे कपड़े धो दे तो तुम्हें प्रसन्नता होगी या अप्रसन्नता? इसी प्रकार ज्ञानी जन मानते हैं कि गालियाँ देने वाला अपने को मुफ्त निर्मल बना रहा है। इस प्रकार जो अपकारी को भी उपकारी मानते हैं, वास्तव में उन महात्माओं की बलिहारी है।

तुम श्रमणोपासक हो और बहिनें श्रमणोपासिका हैं। भगवान् ने तुम्हें श्रमणोपासक कहा है, अरिहन्तोपासक नहीं कहा। अतः विचार करो कि तुम्हारा जीवन-व्यवहार कैसा होना चाहिए? जो अपने तप पर दृढ़ रहता है, वह श्रमण कहलाता है और तुम श्रमण के उपासक हो। जिस प्रकार साधु लाभ हानि के प्रसंग पर समभावी रहते हैं, उसी प्रकार संसार के प्रलोभनों में न पड़कर, लाभ हानि के प्रसंग पर श्रमण का आंशिक अनुसरण करके, समभावी बनने से ही तुम सच्चे श्रमणोपासक बन सकते हो। क्या प्रलोभन में पड़कर असत्य भाषण करना श्रमणोपासक का कर्त्तव्य है? अगर नहीं, तो श्रमणोपासक होकर क्यों मिथ्या भाषण करते हो? क्यों गालियाँ देते हो? क्यों किसी को कटुक

वाणी कहते हो ?

मदनरेखा ने अपने पति को दो घड़ी में ही नरक से बचाकर स्वर्ग में पहुँचा दिया था। जब तक उसके पति के कंठ में प्राण रहे, तब तक वह धर्म का ही उपदेश देती रही। उसने रोना और छाती पीटना उचित नहीं समझा। यह विचार नहीं किया कि—'मेरा क्या होगा ? मैं क्या करूँगी ?' पति का अन्तिम श्वास निकल जाने के पश्चात् ही उसने अपनी रक्षा के संबंध में विचार किया।

मदनरेखा के मस्तक पर उस समय कितना बड़ा संकट था। सगे जेठ ने उसके पति के प्राण लिये थे। मदनरेखा गर्भवती थी, इसी समय जेठ उसके शील को नष्ट करने के लिए तैयार था। जेठ राजा था, सत्ता और ऐश्वर्य उसकी मुट्ठी में थे। मदनरेखा के लिए कितना विकराल प्रसंग था वह। फिर भी वह रोई नहीं। उसने शील की रक्षा की। इसी कारण आज भी उसका गुणगान किया जाता है। तुम भी रोने का रिवाज त्यागो और आर्त्तध्यान त्यागकर धर्मध्यान करो।

तात्पर्य यह है कि क्षमाशील बनने से अपना भी कल्याण होता है और जगत् का भी कल्याण होता है।

अनाथी मुनि कहते हैं—मैंने निश्चय कर लिया कि एक बार मैं स्वस्थ हो जाऊँ तो क्ष ीील बन जाऊँगा।

जड़ सृष्टि पर भी त्संकल्प का प्रभाव पड़ता है। शास्त्र में कहा है—

सच्चं खु भयवं।

सत्य के प्रभाव से क्या नहीं हो सकता ? सत्य से तो भगवान् भी

बना जा सकता है। सत्य ही भगवान् है। सत्संकल्प के प्रताप से विष भी अमृत हो जाता है और अग्नि शीतल हो जाती है। सत् संकल्प के महान् प्रभाव को अनुभव करके मुनि कहते हैं कि—मैंने ऐसा संकल्प किया कि एक बार मेरी यह वेदना शान्त हो जाय तो मैं क्षमावान्, इन्द्रियों का दमन करने वाला और निरारंभी बन जाऊँगा।

मुनि कहते हैं—मैंने ज्यों ही यह संकल्प किया, त्यों ही कौन जाने क्या अद्भुत परिवर्त्तन हो गया? बहुत दिनों से मुझे नींद नहीं आ रही थी। इस संकल्प के पश्चात् गहरी निद्रा आ गई। मेरी निद्रा से कुटुम्बी जनों को जो प्रसन्नता हुई होगी, उसके पीछे उनकी भावना और ही रही होगी। शायद पिताजी सोचते होंगे- 'मेरा पुत्र स्वस्थ हो जाय तो मेरे काम में सहायता पहुंचावे।' माता सोचती होगी—'मेरा बेटा नीरोग हो जाय तो मेरा दुःख दूर हो जाय।' भाई विचारते होंगे—'मेरा भाई तन्दुरुस्त हो जाय तो हमें इसकी चिन्ता न करनी पड़े।' इसी प्रकार भगिनी और भार्या भी कदाचित् अपने स्वार्थ की बात सोचती होगी। परन्तु मेरे मन में कुछ और ही भावना थी। मैं यही सोच रहा था कि अपने उपार्जित कर्मों को मैं आप ही दूर करूँगा।

जीव किसके किये कर्मों का या दुःख को भोगता है, शास्त्र में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। भगवतीसूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया है—भगवन्! जीव स्वयंकृत कर्म भोगता है या परकृत कर्म भोगता है?

उत्तर में भगवान् ने कहा—गौतम! जीव अपना किया दुःख

ही भोगता है; दूसरों का किया दुःख नहीं भोगता।

इस कथन से स्पष्ट है कि संसार के सभी सुख-दुःख अपने ही किये हैं। हम कर्म को दोष देते हैं, परन्तु कर्म क्या करे? कर्मों को तो मैंने ही पकड़ रक्खा है। तभी वे रुके हैं; अन्यथा वे रुक ही कैसे सकते थे? अगर मै चाहूँ तो थोड़ी ही देर में कर्मों को भाग जाना पड़ेगा।

मुनि कहते हैं—जब मुझे यह भान हुआ कि दुःखों का जनक मै स्वयं ही हूँ, तब मैंने उन्हें नष्ट कर डालने का संकल्प कर लिया।

मुनि को यह ज्ञान स्वयं उत्पन्न हो गया अथवा किसी महात्मा के उपदेश से हुआ? इस विषय में शास्त्र में कोई उल्लेख नहीं है, अतएव निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। ज्ञान दो प्रकार से होता है—एक तो अपने विचार से या किसी घटना को देखने से और दूसरे किसी का उपदेश सुनने से। अनाथी मुनि को इन दो तरीकों में से किस तरीके से ज्ञान हुआ था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तुम्हें स्वयं ज्ञान न हो तो यह उपदेश तुम्हारे सामने है। इस उपदेश को सुन कर अपने दुःख को दूर करने का संकल्प करो।

अनाथ मुनि ने जैसे ही सुदृढ़ संकल्प किया कि गहरी निद्रा आ गई। वह सो गये। वह सो क्या रहे थे, मानो सदा के लिए दुःखों को दूर कर रहे थे। मुनि कहते हैं—मेरे दुःखों की वह अन्तिम रात्रि थी।

अगर तुम्हारे संकल्प में सचाई और दृढ़ता है तो तुम्हें दुःख हो ही नहीं सकता। सुदृढ़ सत्संकल्प से ही दुःखों से छुटकारा पाया

जा सकता है। ढीले सकल्प से कुछ बनता नहीं।

आप यह सकते हैं—सकल्प मात्र से दु ख का दूर हो जाना कैसे सभव हो सकता है ? किंतु मानसशास्त्री के सामने यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। जो मानसशास्त्र से अनभिज्ञ हैं, उन्हीं को ऐसा सन्देह होता है। ऐसे लोगों से कहना है कि क्या केवल अपने सकल्प के कारण ससार मे दु ख की उत्पत्ति नहीं देखी जाती ? डाकिन लग गई या भूत लग गया, यह अपने ही मन के संकल्प का फल है या और कुछ ? डाकिन और भूत की बात सुन कर लोग भय का सकल्प करते हैं और भय के सकल्प के कारण ही वे दुखी होते हैं। कोई तुमसे कहे कि अमुक मकान मे भूत है। तो उस मकान मे जाते तुम्हे भय लगेगा या नहीं ? उस मकान मे प्रवेश करते ही तुम्हारे पैर कापने लगेंगे। भूत के भय के कारण तुम्हारा सकल्प ही ऐसा बन जाता है कि उसके कारण मकान मे पाँव रखते ही तुम्हारे पैर काँपने लगते है।

भय के कारण मेरे मन मे भी एक बार ऐसा सकल्प उत्पन्न हो गया था और उससे मुझे पॉच महीने तक कष्ट भोगना पडा था। मैं दीक्षित हो चुका था। मगर दीक्षा लेने से पहले भूत डाकिन सबधी जो बातें सुन रक्खी थीं, उनके भय का सस्कार दूर नहीं हुआ था। इस सस्कार के कारण मैं यही समझता था कि अमुक मनुष्य मेरे ऊपर जादू कर रहा है। रात्रि के समय पहरा देने वाले मनुष्य आवाज करते थे तो उस आवाज को सुन कर मैं सोचता था—यह लोग मेरे ऊपर जादू कर रहे हैं। मैं इसके लिए संसार को दोषी समझता था, परन्तु वास्तव म कौन दोषी था ? मुझे जो भय लगता

था, वह मेरे ही भ्रममय विचारों के कारण लगता था। अपने ही दूषित संकल्प की बदौलत मुझे दुःख हो रहा था। किन्तु जब मेरे अन्तःकरण में से इस प्रकार के मिथ्या विचार निकल गये तो मेरा दुःख भी चला गया।

सारांश यह है कि, संकल्प से दुःख उत्पन्न होता है, यह बात तो तुम भी अनुभव करते हो। अतएव स्पष्ट है कि मनुष्य अपने ही संकल्प से दुःखों को उत्पन्न करता है। स्त्रियों में तो भय का संकल्प करने की पद्धति विशेष रूप से देखी जाती है। कई स्त्रियां तो साधुओं से कहती हैं कि इसके ऊपर ओगा फेर दीजिए। इसके ऊपर यंत्र-मंत्र कर दीजिए। पर यदि साधु यंत्र-मंत्र करने लगें तो कितने लोग आने लगे? वास्तव में गृहस्थों की इस पद्धति ने ही साधुओं को साधुत्व से नीचा गिराया है और उनके लिए दुःख उत्पन्न किया है। कई साधु भी तुम्हें प्रसन्न करने के लिए यंत्र-मंत्र के चक्कर में पड़ गये हैं। परन्तु वास्तव में साधुओं के पास परमात्मा के नाम के सिवाय और कुछ भी देने को नहीं होना चाहिए। किन्तु तुम संकल्प से पतित हो गये हो और साधु भी पतित हो रहे हैं।

तो इस प्रकार के संकल्प से दुःख की उत्पत्ति होती है; यह बात तो तुम्हारे अनुभव में भी आती है और जब संकल्प से दुःख उत्पन्न होता है तो क्या संकल्प से दुःख का नाश नहीं हो सकता? और यदि संकल्प से दुःख उत्पन्न हो सकता है तो क्या सुख उत्पन्न नहीं हो सकता? वास्तव में अपने संकल्प के कारण ही सुख-दुःख उत्पन्न होता है। आज के लोगों को संकल्प की शक्ति के

विषय मे सन्देह रहता है, परन्तु सङ्कल्प मे अनन्त बल सन्निहित है। सङ्कल्प की महिमा बतलाते हुए उपनिषद् मे भी कहा है—

'स य सङ्कल्प ब्रह्मेत्युपासते क्लृप्तान् वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुव ।'

अर्थात्—आत्मा जब अपने सङ्कल्प को ईश्वरीय स्वरूप प्रदान करता है और दृढतापूर्वक उसकी उपासना करता है, तब उस सङ्कल्प के आधार पर ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होते हैं। देवगति, नरकगति, मनुष्यगति और तिर्यञ्चगति सङ्कल्प द्वारा ही प्राप्त होती हैं। मोक्ष भी अपने सङ्कल्प से ही मिलता है।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब सङ्कल्प से ही मनुष्य गति मिलती है तो फिर मनुष्यलोक की रचना किसने की है ? मनुष्य लोक की रचना आत्मा ने अपने सङ्कल्प से ही की है। यह मकान और यह नगर, जिसमें तुम निवास कर रहे हो, आत्मा के सङ्कल्प से ही बना है।

इस प्रकार यह आत्मा अगर सङ्कल्प करता ही रहता है, किन्तु यदि उसका सङ्कल्प सत्सङ्कल्प हो तो उसके द्वारा उसे ध्रुवत्व अर्थात् *मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। सत्सङ्कल्प ही ईश्वर है,* यह मान कर सङ्कल्प पर दृढ रहो और उस पर दृढ विश्वास रक्खो। भक्त तुकाराम कहते हैं —

निश्चयाचा बल तुका म्हणे तोच फल ।

अर्थात्—सङ्कल्प मे बहुत बल है। अतएव तुम भी सत्सङ्कल्प करो और उस पर दृढ आस्था रक्खो।

मुनि कहते हैं—राजन्। अनाथता को दूर करने के लिए

आत्मतत्त्व को जानने की आवश्यकता है और जब तक राग-द्वेष विद्यमान रहते हैं तब तक आत्मतत्त्व नहीं जाना जा सकता। जब राग द्वेष का त्याग करके आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करोगे, तब उसको जानने में विलम्ब नहीं लगेगा। राजन्! ज्यों ही मुझे ज्ञात हुआ कि इस दुःख का कारण स्वयं मैं ही हूँ, तब मैंने उसे दूर करने का संकल्प किया और संकल्प करते ही मुझे निद्रा आ गई।

कोई कह सकता है—मुनि ने सत्सङ्कल्प किया और उनका रोग चला गया। इसमें बड़ी बात क्या है? रोग तो दवा दारू और तंत्र-मंत्र से भी चला जाता है। भले आत्मभाव का दृढ़ संकल्प करने से भी रोग चला जा सकता है, इसमें आश्चर्य की क्या बात है? मूल बात तो रोग दूर करने की है। वह किसी भी उपाय से मिटे, मिटना चाहिए। दवा खाने-पीने में तो पथ्य परहेज पालना पड़ता है, परन्तु यंत्र-मंत्र में तो पथ्य भी नहीं पालना पड़ता। ऐसी स्थिति में यदि मंत्र, तंत्र, मेस्मेरिज्म या हिप्नोटिज्म से भी रोग दूर हो तो भी क्या हर्ज है? आज बात की बात में मेस्मेरिज्म या हिप्नोटिज्म द्वारा रोग चला जाता है, तो फिर इन्हीं प्रयोगों द्वारा रोग—निवारण करके नीरोग क्यों न बना जाय?

हमारे कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि डाक्टर के उपचार से रोग मिटता ही नहीं है। डाक्टर अथवा मंत्र-यंत्र आदि द्वारा भी रोग मिट जाता होगा, परन्तु इन उपायों का अवलम्बन करने से तुम सनाथ हुए हो या अनाथ? मुनि का उद्देश्य सिर्फ रोग मिटाना नहीं था, वह तो अनाथता को भी मिटाना चाहते थे। उन्होंने दृढ़ संकल्प के प्रभाव से रोग ही नहीं मिटाया, अपनी अनाथता भी

गाड़ी के समय की भी कीमत समझते हैं, किन्तु क्या मनुष्यजीवन की कीमत रेल के समय जितनी भी नहीं है ? जो काम आप भय या लोभ से करते हैं, वही काम अगर धर्म के अभिप्राय से करो तो आपकी आत्मा कितनी सुखमय बन जाय ? अगर आप प्रातःकाल उठ कर सामायिक करना चाहो तो क्या नहीं कर सकते ? आप सामायिक का मूल्य रेल के समय से भी कम न समझते होते तो क्या प्रातःकाल होने पर भी सोये पड़े रह सकते थे ? स्टेशन पर जाने के लिए जल्दी उठ बैठते हो तो फिर सामायिक करने के लिए क्यों नहीं उठते ? रेल मे बैठने से तो पाप का बंध भी होता है, किन्तु सामायिक करने से तो उलटा आत्म लाभ होता है। ऐसा होने पर भी, प्रातःकाल होने के पश्चात् भी क्यों पड़े सोते रहते हो ? और जब आप सोते रहते हैं तो कैसे कहा जाय कि आपकी आत्मा में जागृति है।

मुनि के शरीर मे दुस्सह वेदना का उद्भव हुआ था। उस वेदना के मिट जाने पर उन्हें कितनी अधिक शान्ति हुई होगी ? कहावत है--

पहला सौख्य निरोगी काया,

इस कहावत के अनुसार रोगमुक्त होने से और शरीर स्वस्थ होने से अनाथ मुनि को बड़ा आनन्द हुआ होगा। कदाचित् इस प्रकार की बीमारी भोगने के पश्चात् आपको स्वास्थ्यलाभ हुआ हो तो आप यही सोचेंगे कि--अब मैं खूब खा-पी सकूंगा, आमोद प्रमोद कर सकूंगा और गुलछर्रे उड़ा सकूंगा। किन्तु अनाथ मुनि रोगमुक्त होने पर किस प्रकार का विचार करते हैं, इस पर ध्यान

दो। वह सोचते हैं—मैं अब रोगमुक्त हो गया हूँ; अतएव मुझे अपने संकल्प की पूर्ति करनी चाहिए। संकल्प में असीम सामर्थ्य है। मेरे शरीर में जो दारुण व्यथा उत्पन्न हुई थी, वह संकल्प के ही माहात्म्य से दूर हुई है। अतएव इस शुभ प्रभात में मुझे अपने संकल्प को क्रियान्वित करना चाहिए।

अनाथ मुनि तो प्रभात होने पर संकल्प को पूरा करने का विचार करते हैं, परन्तु संसार विचित्र है। दूसरे लोग दूसरा ही विचार करते हैं। वैद्य, यांत्रिक आदि कहने लगे—आज का सूर्य कितना शुभ और मंगलमय उगा है! हमारा बहुत कष्टसाध्य प्रयत्न सफल हुआ है। हमारे उपचार से आज रोगी सर्वथा रोगमुक्त हो गया है।

माता-पिता, बन्धु बान्धव प्रसन्न होकर कहते होंगे—अहा, आज का प्रभात कितना प्रशस्त है। हमारा पुत्र, हमारा भाई, हमारा पति, नीरोग हो गया। उसे शान्ति हुई और उसकी शान्ति को देखकर हम सबको भी शान्ति हो गई।

मुनि कहते हैं—राजन्। प्रातःकाल होते और सूर्योदय होते ही मैं नीरोग होकर उठ बैठा। स्वस्थ होकर उठा देख मेरे माता-पिता, बन्धु आदि कुटुम्बी जन मेरे पास दौड़े आये और अपना हर्ष प्रकट करने लगे। सब कुटुम्बी अत्यन्त प्रसन्न थे। मैंने उनसे कहा—'कल तक मैं बीमार था परन्तु आज मेरा रोग और दुःख किस प्रकार सहसा विलीन हो गया।' मेरी बात सुनकर सब कहने लगे—अब उस दुःख को स्मरण ही मत करो। दुःख के वे दिन चले गये। अब आनन्द के दिन आये हैं, अतएव आनन्द करो।

राजन् । मैंने अपने कुटुम्बियों से कहा—आप सब लोगों ने मेरे लिए इतने अधिक कष्ट सहन किये हैं। मैं आप सब का आभार मानता हूँ। परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ—क्या आप सब के इतने कष्ट सहन करने के कारण मेरा दुःख दूर हुआ है ?

प्राचीन काल के लोग आज के लोगों की तरह कुटिल नहीं थे। वे सरल और सीधे सादे थे। उन्होंने उत्तर में यही कहा—नहीं, हमारे प्रयत्न से दुःख दूर नहीं हुआ।

वैद्य और तान्त्रिक मांत्रिक कहने लगे—हमारे उपचार से ही आप रोग मुक्त हुए हैं, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह कहा जा सकता है कि दवा में भी शक्ति है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन् ! मैंने उनसे कहा—यह आपकी नम्रता है कि आप लोग यह अभिमान नहीं करते कि हमारे प्रयत्न से तुम्हारा रोग दूर हो गया। यह आपकी महत्ता है। किन्तु वास्तव में रोग किसी और कारण से नहीं गया है, एक महाशक्ति की आराधना से ही गया है।

मेरा यह कथन सुनकर सब के सब कह उठे—वह महाशक्ति क्या है ? उस महाशक्ति के हमें दर्शन कराओ तो हम भी उसकी पूजा करें।

राजन् । मैंने उन लोगों के प्रश्न के उत्तर में कहा—वह महा शक्ति कहीं अन्यत्र नहीं रहती, हृदय में ही विराजमान है। आह्वान करने से उस शक्ति का विकास होता है और प्रमाद का सेवन करने से उसका ह्रास होता है।

मेरी बात सुनकर लोग कहने लगे—यह तो ठीक है, परन्तु वह

शक्ति क्या है, यह तो बतलाओ।

यह मै आप सब को बतलाऊँगा; परन्तु पहले मैं आपसे पूछता हूँ कि जिस महाशक्ति की कृपा से मेरा रोग दूर हुआ, उसकी मुझे आराधना करनी चाहिए या नहीं? अगर मै उसकी आराधना करूँ तो आप मेरे कार्य में वाधा तो नहीं डालेंगे?

मेरे प्रश्न के उत्तर में कुटुम्वी जनों ने कहा—अवश्य उस महाशक्ति की आराधना करनी चाहिए। हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि आपकी आराधना में हम विघ्नबाधा उपस्थित नहीं करेंगे।

उनका यह आश्वासन सुनकर मैने उनसे कहा—मेरा रोग सत्संकल्प से दूर हुआ है। मैंने संयम धारण करने का संकल्प किया है। मैने निश्चय किया था कि रोग शान्त होने पर मैं क्षमावान्, जितेन्द्रिय, निरारंभी और प्रव्रजित बनूँगा। मेरे इस संकल्प बल से ही मेरा रोग नष्ट हुआ है। अतएव अब संकल्प के अनुसार कार्य करना चाहिए और ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा को पूर्ण करना चाहिए।

राजन्! मेरा यह कथन सुनकर, मेरे परिवार के सदस्यों को मेरे वियोग का दुःख होना स्वाभाविक था। विरह का दुःख सांसारिक जनों को होता ही है। अतएव माता-पिता को भी दुःख होना स्वाभाविक था। मगर मेरे माता-पिता सीधे-साधे और सच्चे हृदय के थे; अतएव वे पवित्र कार्य में बाधा नहीं डाल सकते थे। सच्चे माता पिता अपनी सन्तति को सन्मार्ग में जाने से नहीं रोकते।

गजसुकुमार जब दीक्षा लेने को तैयार हुए थे, तब उनकी माता देवकी को भी दुःख हुआ था। गजसुकुमार का लालन-पालन बड़े

ही लाड प्यार से हुआ था, अतएव उनके विरह से माता पिता के दुःख होना स्वाभाविक था। किन्तु जब गजसुकुमार ने माता से पूछा—माताजी, अगर कोई शत्रु आक्रमण कर बैठे तो उस समय तुम मुझे छिपाओगी या रणभूमि मे भेजोगी ? तब महारानी देवकी ने उत्तर दिया था—पुत्र, ऐसे प्रसग पर तो मैं यही अभिलाषा रक्खूँगी कि अगर मेरा पुत्र गर्भ मे हो तो गर्भ से बाहर निकल कर लड़े।

गजसुकुमार बोले—तो माता, जब मैं कर्मशत्रुओं के साथ लड़ने जाता हूँ तो वीरमाता होकर क्यों मुझे रोकना चाहती हो ? और क्यों दुखी हो रही हो ?

इस प्रकार गजसुकुमार ने जब माता के सामने कर्मों द्वारा उत्पन्न होने वाले दुःख का वर्णन किया और कर्म-बन्धन से मुक्त होने का उपाय पूछा तब माता ने यही कहा—हे पुत्र। कर्म को नष्ट करने का और कर्म पर विजय प्राप्त करने का मार्ग सयम ही है। आखिर माता देवकी तथा अन्य कुटुम्बी जन उन्हें भगवान् के समीप ले गये। भगवान् के चरणों मे समर्पित करके कहने लगे—भते। मेरा यह पुत्र कर्मों को नष्ट करना चाहता है। यह संसार के दुःखों से सत्रस्त है। इसे अपने चरण शरण मे लेकर इसका उद्धार कीजिए।

राजन्। देवकी माता की तरह मेरी माता भी दुखित हुई, किन्तु जब मैंने उसे समझाया तब उसने भी सयम ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी।

कहा जा सकता है कि सयम धारण करना यदि श्रेष्ठ कार्य है

तो फिर उसके लिए माता-पिता आदि की स्वीकृति लेने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु ज्ञानियों ने ऐसी मर्यादा बाँधी है। इस मर्यादा के पीछे उनका क्या अभिप्राय है ? और इस मर्यादा का पालन करने से किस व्यवहार की रक्षा होती है; इत्यादि विवेचन करने का अभी समय नहीं है। किसी दूसरे प्रसंग पर उसका विवेचन किया जा सकेगा।

संकल्प का निर्वाह करना तो वीरों का ही कार्य है। कहने वालों की कमी नहीं है, किन्तु कहने के अनुसार कार्य कर दिखलाने वाले ही प्रशंसा के पात्र होते हैं। सुभद्रा ने धन्ना सेठ से कहा था—मेरा भाई (शालिभद्र) प्रतिदिन एक-एक पत्नी का परित्याग करता है। इसमें कायरता की क्या बात है ? कहना आसान है, कर दिखलाना बहुत कठिन है। जो त्याग करता है उसी को पता चलता है।

सुभद्रा का उत्तर सुनकर धन्नाजी बोले—ठीक है, कुलीन स्त्री इसी प्रकार उपदेश दिया करती है। तुमने मुझे उपदेश दिया है, परन्तु कहना जितना कठिन है, कर दिखलाना उतना कठिन नहीं है। देखो, अब मै करके दिखलाता हूँ। इस प्रकार कह कर उन्होंने उसी समय गृहत्याग करके संयम धारण किया।

आशय यह है कि जो कहने के अनुसार कर बतलाता है, वही वीर है। संकल्प का पालन करने के लिए वीरता की आवश्यकता है।

अनाथी मुनि निश्चय से तो संकल्प करते ही साधु हो गये थे, किन्तु जैसे हीरा और उसकी कान्ति—इन दोनों की आवश्यकता है,

ही लाड़ प्यार से हुआ था, अतएव उनके विरह से माता पिता को दुःख होना स्वाभाविक था। किंतु जब गजसुकुमार ने माता से पूछा—माताजी, अगर कोई शत्रु आक्रमण कर बैठे तो उस समय तुम मुझे छिपाओगी या रणभूमि मे भेजोगी ? तब महारानी देवकी ने उत्तर दिया था—पुत्र, ऐसे प्रसंग पर तो मैं यही अभिलाषा रक्खूँगी कि अगर मेरा पुत्र गर्भ मे हो तो गर्भ से बाहर निकल कर लडे।

गजसुकुमार बोले—तो माता, जब मैं कर्मशत्रुओं के साथ लड़ने जाता हूँ तो वीरमाता होकर क्यों मुझे रोकना चाहती हो ? और क्यों दुखी हो रही हो ?

इस प्रकार गजसुकुमार ने जब माता के सामने कर्मों द्वारा उत्पन्न होने वाले दुःख का वर्णन किया और कर्म-बन्धन से मुक्त होने का उपाय पूछा तब माता ने यही कहा—हे पुत्र ! कर्म को नष्ट करने का और कर्म पर विजय प्राप्त करने का मार्ग संयम ही है। आखिर माता देवकी तथा अन्य कुटुम्बी जन उन्हें भगवान् के समीप ले गये। भगवान् के चरणों मे समर्पित करके कहने लगे—भंते ! मेरा यह पुत्र कर्मों को नष्ट करना चाहता है। यह संसार के दुःखों से संत्रस्त है। इसे अपने चरण शरण मे लेकर इसका उद्धार कीजिए।

राजन् ! देवकी माता की तरह मेरी माता भी दुखित हुई, किन्तु जब मैंने उसे समझाया तब उसने भी संयम ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी।

कहा जा सकता है कि संयम धारण करना यदि श्रेष्ठ कार्य है

ही है। मुनि निश्चय में तो संकल्प द्वारा पूर्ण रूप से साधु हो गये थे। उनकी साधुता में कुछ कमी होती अर्थात् उनका संकल्प अधूरा या डगमगाता हुआ होता तो ऐसी अवस्था में कदाचित् रोग का समूल नाश ही न होता। किन्तु उन्होंने दृढ़ संकल्प किया था, निश्चय से वह साधु बन गये थे, फिर भी व्यवहार की रक्षा करने के लिए उन्होंने अपने भाइयों से पूछकर दीक्षा ली। भाइयों की अनुमति लेने में उनका आशय निश्चय के साथ व्यवहार की रक्षा करना था।

अनाथी मुनि ने जब अपने कुटुम्बी जनों से दीक्षा लेने के लिए पूछा होगा, तब उनके कुटुम्बियों को कितना दुःख हुआ होगा! वे मन में क्या सोचते होंगे; वे सोचते होंगे—'इनका रोग चला गया है तो अब संसार के सुख भोगेंगे, किन्तु यह तो स्वस्थ होते ही संयम लेने के लिए उद्यत हो गये।'

अनाथी मुनि संयम लेने के लिए तैयार हुए, फिर भी क्या कोई कुटुम्बी ऐसी भावना कर सकता है कि—यह रोगी होकर पड़े रहते तो ठीक था। नहीं, ऐसा कोई कुटुम्बी विचार नहीं कर सकता। उन्होंने तो यही सोचा होगा कि जिनकी कृपा से रोग दूर हुआ है, उनकी शरण में जाना ही उचित है। ऐसा सोचने पर भी कुटुम्बीजनों को विरह की वेदना होना स्वाभाविक है। इसी कारण माता-पिता की वेदना प्रकट भी हुई होगी।

अनाथी मुनि कहते हैं—जब मैंने संयम ग्रहण करने की अपनी मनो-भावना प्रकट की, तो मेरे घर वालों को बहुत दुःख हुआ। सब एक दूसरे की ओर देखने लगे और अपने-अपने नेत्रों

उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार—दोनों की आवश्यक्ता है। हम लोग एकदम व्यवहार का त्याग करके निश्चय मे नहीं आ सकते। इसीलिए शास्त्र मे कहा है—'हे राजन्। मैंने अपने बन्धु बांधवों से अनुमति लेकर सयम धारण किया।' अनाथी मुनि ने निश्चय से तो सयम धारण कर लिया था, फिर भी व्यवहार को प्रकट करने के लिए यह बात कही है। शास्त्र के सिद्धान्त मौलिक है और यह मौलिक सिद्धान्त निश्चय और व्यवहार-दोनों का आश्रय लेकर ही है, यह बात सिद्ध करने के लिए मैं तैयार हूँ।

शास्त्र मे दोनों—निश्चय और व्यवहार का प्रतिपादन किया गया है। यही बतलाने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि मैंने भाई-बन्दों से पूछ कर दीक्षा ली। निश्चय मे सयम की भी आवश्यकता है और व्यवहार से भी सयमी होने की आवश्यकता है। निश्चय मे व्रत होना चाहिए और व्यवहार मे संयमी का लिंग भी होना चाहिए। यही जिनेन्द्रदेव का मार्ग है।

यों तो किसी किसी को गृहस्थलिंग म ही केवल ज्ञान हो जाता है और कोई-कोई अन्यलिंग मे भी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, फिर भी सिद्धि प्राप्त करने के लिए लिंग की आवश्यक्ता है। जैसे किसी किसी जीव को उपदेश के बिना ही, स्वाभाविक रूप से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है और किसी किसी को उपदेश श्रवण से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, किन्तु सम्यक्त्व प्राप्त करने का राजमार्ग तो उपदेश ही है। इसी प्रकार निश्चय की आवश्यक्ता तो है ही, परन्तु एकान्त निश्चय का अवलम्बन करके व्यवहार का त्याग कर देना राजमार्ग नहीं है। राजमार्ग तो निश्चय के साथ व्यवहार रखना

नाथ का अर्थ 'रक्षा करने वाला' होता है। इस अर्थ के अनुसार अगर अनाथी मुनि नाथ बन गये थे तो, प्रश्न उपस्थित होता है कि वे उन्होंने अपने माता-पिता की रक्षा क्यों नहीं की ? उन सब को विरह की वेदना व्याकुल बना रही थी तो फिर वह दूर क्यों नहीं की ? उनकी पत्नी सनाथा रही या अनाथा ? इस प्रकार यदि मुनि प्राणी मात्र के नाथ हुए थे तो उनके माता पिता वगैरह अनाथ कैसे रह गये ? ऐसी स्थिति में किस प्रकार कहा जा सकता है कि मुनि सब के नाथ हो गये थे ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संसार में नाथ उन्हीं को कहा जाता है, जिन्हें सब प्रकार की सुखसामग्री प्राप्त हो, भोग-विलास एवं खाने-पीने के साधन उपलब्ध हों। जिन्हें यह साधन उपलब्ध नहीं होते वे अनाथ कहलाते हैं। परन्तु सनाथ-अनाथ का यह अर्थ व्यावहारिक है। आध्यात्मिक अर्थ दूसरा है। सनाथ का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि जो अपनी आत्मा का नाथ बन जाता है, वही दूसरों का भी बन जाता है।

प्रत्येक कार्य तीन प्रकार से होता है। सर्वप्रथम विचार होता है, फिर वचनोच्चार होता है और अन्त में आचार होता है। सबसे पहले अन्तःकरण में प्रत्येक कार्य के लिए संकल्प होता है। संकल्प के पश्चात् उसके संबंध में निःसंकोच उच्चार-कथन—किया जाता है और फिर कथन के अनुसार आचरण किया जाता है। इस तरह प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति विचार से ही होती है; किन्तु कार्य की सिद्धि तो आचार से ही होती है।

अनाथ मुनि के कुटुम्बी जन दीक्षा लेने के लिए समर्थ हो सके

से आसू टपकाने लगे। मैं उन्हें अत्यन्त प्रिय था, इसी कारण मेरी बात सुन कर उन्हे बहुत दुःख हुआ। मैंने उन्हे दुखी देखकर कहा- आप क्यों व्यर्थ दुखी हो रहे हैं? हर्ष के प्रसग पर विषाद की लहरें क्यों उठनी चाहिए? मैं वेदना का अनुभव कर रहा था, वैद्य आदि की चिकित्सा कारगर नहीं हो रही थी। उसी वेदना मे मेरी मृत्यु हो जाती तो आपको धैर्य धारण करना पड़ता या नहीं? फिर जिस संयम की महाशक्ति से मैं स्वस्थ हुआ हूँ, उसकी शरण मे जाने के समय आप धैर्य रखकर, प्रसन्नता के साथ, स्वीकृति देने में क्यों सकोच करते हैं? इस प्रकार बहुत समझाने बुझाने पर उन्होंने मुझे सयम ग्रहण करने की स्वीकृति दी।

कुटुम्बी जनों की स्वीकृति प्राप्त होने पर मैंने गृह त्याग कर साधु धर्म अङ्गीकार कर लिया।

तओऽहं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाण, तसाण थावराण य ॥ ३५ ॥

अर्थ—सयम ग्रहण करने के पश्चात् मैं अपना नाथ बन गया और साथ ही पर का भी नाथ बन गया। मैं समस्त त्रस और स्थावर भूतों का नाथ बन गया।

व्याख्या—राजन्। जब तक मैंने सयम धारण नहीं किया था, मैं अनाथ था; किन्तु सयम धारण करते ही मैं सनाथ हो गया। अब मैं अपना भी नाथ हूँ और दूसरों का भी नाथ हूँ। मैं प्राणी मात्र का नाथ बन गया हूँ। जगत् के दृश्य और अदृश्य-सब त्रस, स्थावर जीवों का नाथ बन गया हूँ।

चाहत अभय भैरव शरणागति,
खगपति नाथ ।

एक मनुष्य को एक भयंकर साँप काटने दौड़ा। वह मनुष्य साँप से अपनी रक्षा करने के लिए मेंढक की शरण में भागा गया। उसने यह भी विचार नहीं किया कि मेंढक की शरण में जाने से क्या बचाव हो सकेगा ? मेंढक तो खुद ही साँप का आहार है। वह स्वयं साँप से डरता है तो दूसरे की साँप से कैसे रक्षा कर सकेगा ?

और गरुड़ उसे बुला रहा है। वह कहता है—साँप से रक्षा करने वाला तो मैं हूँ। तू मेरी शरण में आ जा। मेरी शरण में आने के पश्चात् साँप तेरे पास भी नहीं फटक सकता।

गरुड़ के इस प्रकार कहने पर भी वह मनुष्य गरुड़ के पास तो जाता नहीं और मेंढक की शरण में जाता है। तो क्या उस मनुष्य की मूर्खता के कारण गरुड़ का महत्त्व घट जाएगा ? और क्या मेंढक का महत्त्व बढ़ जायगा ?

संसारी जीवों की भी यही हालत है। लोग कहते हैं—संसार खराब है, दुःखमय है, हेय है। मगर इस खराब संसार से बचने के लिए वे किस की शरण लेते हैं ? कोई स्त्री की शरण लेते हैं, कोई पुत्र की शरण ग्रहण करते हैं और किसी को धन की शरण में ही कल्याण दिखाई देता है। मगर वे यह नहीं सोचते कि जब वही लोग संसार के भय से मुक्त नहीं हुए हैं तो हमारी क्या रक्षा कर सकेंगे ? इसके विपरीत, दूसरी ओर गरुड़ के समान परमात्मा अपने पास लोगों को बुला रहे हैं, परन्तु लोग उनकी

हों या न हो सके हों, किन्तु उनके हृदय में यह विचार अवश्य हुआ होगा कि जिसके सङ्कल्प मात्र से रोग चला जाता है, वह संयम अवश्य ग्राह्य है। उन्होंने यह भी सोचा होगा कि—'हमें इसके विरह का दुःख अवश्य है, पर हमें यह कह रहा है कि तुम अपनी आत्मा को सनाथ बनाओ।' क्या इस विचार से माता पिता को प्रसन्नता नहीं हुई होगी ?

इस दृष्टि से मुनि अपने माता पिता के भी नाथ हुए या नहीं ? यह मुनि तो सभी को सनाथ बनने की शिक्षा देकर सनाथ बनाते हैं। फिर भी अगर कोई मुनि की शिक्षा को शिरोधार्य न करे तो इसमें मुनि का क्या दोष है ?

मान लीजिए, किसी ने एक पाठशाला की स्थापना की और यह घोषणा की कि पाठशाला में प्रत्येक प्रकार की शिक्षा दी जाती है। जिसकी इच्छा हो, पाठशाला में आकर शिक्षा ले सकता है। इस प्रकार का विज्ञापन करने पर भी अगर कोई उस पाठशाला में प्रविष्ट नहीं होता और शिक्षा नहीं लेता तो पाठशाला खोलने वाले का क्या दोष है ? इसी प्रकार मुनि अनाथता दूर करके, सनाथ होकर सब को सनाथता प्रदान करते हैं—सनाथ होने का मार्ग प्रदर्शित करते हैं, फिर भी अगर कोई सनाथता ग्रहण नहीं करता तो मुनि का क्या दोष है ? मुनि तो सब के नाथ हैं और सब को सनाथ बनाने वाले हैं।

परम कठिन व्याल ग्रसत है,

त्रसित भयो भय भारी।

चाहत अभय भैरव शरणागति,
खगपति नाथ ।

एक मनुष्य को एक भयंकर साँप काटने दौड़ा। वह मनुष्य साँप से अपनी रक्षा करने के लिए मेंढक की शरण मे भागा गया। उसने यह भी विचार नहीं किया कि मेंढक की शरण में जाने से क्या बचाव हो सकेगा ? मेंढक तो खुद ही साँप का आहार है। वह स्वयं साँप से डरता है तो दूसरे की साँप से कैसे रक्षा कर सकेगा ?

और गरुड़ उसे बुला रहा है। वह कहता है—साँप से रक्षा करने वाला तो मै हूँ। तू मेरी शरण में आ जा। मेरी शरण में आने के पश्चात् साँप तेरे पास भी नही फटक सकता।

गरुड़ के इस प्रकार कहने पर भी वह मनुष्य गरुड़ के पास तो जाता नहीं और मेंढक की शरण में जाता है। तो क्या उस मनुष्य की मूर्खता के कारण गरुड़ का महत्त्व घट जाएगा ? और क्या मेंढक का महत्त्व बढ़ जायगा ?

संसारी जीवों की भी यही हालत है। लोग कहते हैं—संसार खराब है, दुःखमय है, हेय है। मगर इस खराब संसार से बचने के लिए वे किस की शरण लेते हैं ? कोई स्त्री की शरण लेते हैं, कोई पुत्र की शरण ग्रहण करते हैं और किसी को धन की शरण में ही कल्याण दिखाई देता है। मगर वे यह नहीं सोचते कि जब वही लोग संसार के भय से मुक्त नहीं हुए हैं तो हमारी क्या रक्षा कर सकेंगे ? इसके विपरीत, दूसरी ओर गरुड़ के समान परमात्मा अपने पास लोगों को बुला रहे हैं, परन्तु लोग उनकी

शरण में नहीं जाते।

हिरदे राखीजे हो भवियन मंगलिक शरणा चार,
अरिहन्त सिद्ध साधु तणा हो, भवियन केवली भाषित धर्म,
ये चारों जपता थका हो भवियन टूटे आठ कर्म ॥

अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलप्ररूपित धर्म—यह चार संसार रूपी साँप से बचने के लिए गरुड़ के समान है। संसार-सर्प से बचना हो तो इन चार की शरण गहो। तुम्हारी रक्षा अवश्य होगी। भय या लोभ में पड़कर इस शरण का त्याग न करो। जो पुरुष इन चारों शरणों को स्वीकार करता है, वह संकट के समय भी नहीं घबराता है। वह स्वयं नाथ बन जाता है।

अनाथी मुनि ने राजा से कहा - पर वस्तु पर अपना अधिकार जमाना अनाथता है और परवस्तु के स्वामित्व को त्याग कर आत्म स्वरूप को समझना ही सनाथता है।

कोई अनाथ नहीं बनना चाहता। सभी की इच्छा सनाथ बनने की ही होती है, किन्तु सनाथ बनने के लिए योग्यता प्राप्त करनी चाहिए।

अभिप्राय यह है कि तुम सनाथ तो बनना चाहते हो, परन्तु इस बात पर विचार करो कि सनाथ बनने का उपाय क्या है? जो पुरुष किसी भी पर पदार्थ का गुलाम नहीं बनना चाहता अथवा उस पर अधिकार नहीं जमाना चाहता, वही सनाथ है। अगर आप सनाथता की इस व्याख्या को अपने हृदय में स्थान दोगे तो आपका सांसारिक जीवन व्यर्थ न जाकर सुखप्रद बन जायगा।

राजा श्रेणिक ने अनाथी मुनि को अपनी विशाल ऋद्धि बतला

कर कहा था--मेरे पास इतनी बड़ी ऋद्धि है। मै हाथी, घोड़े तथा राज्य का स्वामी हूँ। फिर आप मुझे अनाथ क्यों कहते हैं ? परन्तु मुनि ने अपनी अनाथता का परिचय देकर राजा से कहा-- राजन्। तुम जिन वस्तुओं के कारण अपने आपको सनाथ समझते हो, उन्हीं के कारण वास्तव में अनाथ हो। इस तथ्य पर भली-भांति विचार करो।

राजन्। तुम्हारे पास घोड़े होने के कारण अपने को सनाथ समझते हो, किन्तु वह तो तुम्हारी निर्बलता का सूचक है। जो स्वयं निर्बल है, वही घोड़ों की सहायता लेता है। अतएव घोड़ों की बदौलत तुम सनाथ नहीं, बल्कि अनाथ बने हो।

और राजन्। तुम कहते हो कि मेरे पास घोड़ों के अतिरिक्त हाथी भी हैं। अतएव मै अनाथ नहीं हूँ। पर जरा विचार तो करो कि अगर घोड़े अनाथता दूर नहीं कर सकते तो हाथी सनाथ कैसे बना सकते हैं ? घोड़ों की अपेक्षा हाथियों ने तुम्हें अधिक अनाथ बनाया है। ऐसी स्थिति में क्यों यह अभिमान करते हो कि हाथी-घोड़े होने से मै सनाथ हूँ।

और हे राजन्। तुम कहते हो कि मेरे अधिकार में इतना बड़ा साम्राज्य है, इतने बहुत गांव हैं, फिर मै अनाथ कैसे रहा ? परन्तु तुम जिस राज्य की बदौलत अपने को सनाथ समझते हो, वही राज्य तो तुम्हें अनाथ बनाने वाला है। इस प्रकार तुम जिन पर-पदार्थों के कारण अपने को सनाथ मान कर फूलते हो, उन्हीं के कारण वास्तव में अनाथ बन रहे हो।

राजन्! विचार करो कि संसार के पदाथ मनुष्य को वस्तुतः

शरण में नहीं जाते।

हिरदे राखीजे हो भवियन मंगलिक शरणा चार,
अरिहंत सिद्ध साधु तणा ने, भवियन केवली भाषित धर्म,
ये चारों जपता थका हो भवियन टूटे आठ कर्म ॥

अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलप्ररूपित धर्म—यह चार संसार रूपी सांप से बचने के लिए गरुड़ के समान है। संसार-सर्प से बचना हो तो इन चार की शरण गहो। तुम्हारी रक्षा अवश्य होगी। भय या लोभ में पड़कर इस शरण का त्याग न करो। जो पुरुष इन चारों शरणों को स्वीकार करता है, वह संकट के समय भी नहीं घबराता है। वह स्वयं नाथ बन जाता है।

अनाथी मुनि ने राजा से कहा – पर वस्तु पर अपना अधिकार जमाना अनाथता है और परवस्तु के स्वामित्व को त्याग कर आत्म स्वरूप को समझना ही सनाथता है।

कोई अनाथ नहीं बनना चाहता। सभी की इच्छा सनाथ बनने की ही होती है, किन्तु सनाथ बनने के लिए योग्यता प्राप्त करनी चाहिए।

अभिप्राय यह है कि तुम सनाथ तो बनना चाहते हो, परन्तु इस बात पर विचार करो कि सनाथ बनने का उपाय क्या है? जो पुरुष किसी भी पर पदार्थ का गुलाम नहीं बनना चाहता अथवा उस पर अधिकार नहीं जमाना चाहता, वही सनाथ है। अगर आप सनाथता की इस व्याख्या को अपने हृदय में स्थान दोगे तो आपका सामाजिक जीवन व्यर्थ न जाकर सुखप्रद बन जायगा।

राजा श्रेणिक ने अनाथी मुनि को अपनी विशाल ऋद्धि बतला

और सांसारिक पदार्थों के कारण अपने को सनाथ नहीं मानते। अतएव वे भी अनाथता से मुक्त हैं। राजा श्रेणिक साधु नहीं बन सके थे। सम्यग्दृष्टि ही रहे थे, फिर भी वह अनाथ नहीं रह गये थे। क्योंकि उन्होंने अनाथ मुनि का उपदेश सुनकर, सांसारिक पदार्थों के कारण अपने आपको सनाथ मानने का अभिमान त्याग दिया था। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सांसारिक पदार्थों को अनाथता का कारण समझने के कारण अनाथता से मुक्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है:—

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट,
शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करे शिव-मारग मे,
जग माहि जिनेश्वर के लघु नदन।
सत्य स्वरूप सदा जिनके प्रकट्यो,
अवदात मिथ्यात्व-निकन्दन।
शान्त दशा जिनकी पहिचानि,
करे कर जोरि बनारसी वन्दन॥

× × × ×

स्वारथ के साचे परमारथ के साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहे साचे जैन यती हैं।
काहू के विरुद्ध नाहि परजाय बुद्धि नाहिं,
आतमगवेषी न गृहस्थ है न जती है।
रिद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घट मे प्रकट रूप,
अंतर की लच्छी सौ अजाचि लखपती है।

अनाथ बनाते हैं या सनाथ ? तुम कहते हो कि समग्र राज्य मे मेरी आज्ञा चलती है, फिर मैं नाथ क्यों नहीं हूँ ? परन्तु मैं पूछता हूँ—तुम्हारी आज्ञा तुम्हारे शरीर पर चलती है या नहीं, यह तो देखो। अगर तुम्हारा शरीर ही तुम्हारी आज्ञा नहीं मानता और तुम्हारी आज्ञा के बिना ही तुम्हारे काले बाल सफेद हो गये हैं, दात गिर गये हैं, नेत्रों की ज्योति मन्द हो गई है और शरीर की शक्ति क्षीण हो गई है अथवा हो सकती है, तो कैसे माना जाय कि तुम्हारी आज्ञा सर्वत्र चलती है ? तुम यह अभिमान किस प्रकार कर सकते हो कि तुम्हारा राज्य तुम्हारी इच्छा पर चल रहा है। जो अपने शरीर को भी इच्छानुसार नहीं चला सकता, वह राज्य को कैसे इच्छानुसार चला सकेगा ?

मित्रो ! मुनि के इस कथन पर आप भी विचार करो। यह शरीर और ससार के पदार्थ अलग हैं और आत्मा उन सब से अलग है। इस प्रकार तुम शरीर और आत्मा को भिन्न मानकर कार्य करोगे तो ससार के व्यवहार को न भी छोड सकोगे तो भी, तुम्हें बहुत आनन्द प्राप्त होगा।

अनाथी मुनि ने जब सम्पूर्ण हिंसा का त्याग किया था, तभी वह प्राणी मात्र के नाथ बन सके थे। इस आधार पर प्रश्न उपस्थित होता है कि—अनाथ मुनि की तरह सम्पूर्ण का त्याग करने वाले तो सनाथ बन सकते हैं, किन्तु जो ऐसा करने मे समर्थ नहीं हैं, ऐसे श्रावकों और सम्यग्दृष्टियों को क्या कहना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रावक और सम्यग्दृष्टि—दोनों ही आत्मा और शरीर को भिन्न मानकर आत्मभाव मे रमण करते हैं

और सांसारिक पदार्थों के कारण अपने को सनाथ नहीं मानते। अतएव वे भी अनाथता से मुक्त हैं। राजा श्रेणिक साधु नहीं बन सके थे। सम्यग्दृष्टि ही रहे थे, फिर भी वह अनाथ नहीं रह गये थे। क्योंकि उन्होंने अनाथ मुनि का उपदेश सुनकर, सांसारिक पदार्थों के कारण अपने आपको सनाथ मानने का अभिमान त्याग दिया था। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सांसारिक पदार्थों को अनाथता का कारण समझने के कारण अनाथता से मुक्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है:—

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट,
शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करे शिव-मारग में,
जग माहि जिनेश्वर के लघु नंदन।
सत्य स्वरूप सदा जिनके प्रकट्यो,
अवदात मिथ्यात्व-निकन्दन।
शान्त दशा जिनकी पहिचानि,
करे कर जोरि बनारसी वन्दन॥

× × × ×

स्वारथ के साचे परमारथ के साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहे साचे जैन यती हैं।
काहू के विरुद्ध नाहि परजाय बुद्धि नाहिं,
आतमगवेषी न गृहस्थ है न जती है।
रिद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घट मे प्रकट रूप,
अंतर की लच्छी सौं अजाचि लखपती है।

दास भगवत के उदास रहे जगत् से।
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती है॥

सम्यग्दृष्टि की भावना यही रहती है कि मेरा लक्ष्य जन्म जरा मरण से अतीत होकर शाश्वत सिद्धि प्राप्त करना और आत्म स्वरूप को प्रकट करना है। जैसे पनिहारी हँसती और बातें करती हुई, मस्तक पर घड़ा उठा कर चली जाती है, परन्तु उसका लक्ष्य घड़े की ओर ही होता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रावक सांसारिक अनिवार्य कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ भी संसार के प्रपञ्चों से छुटकारा पाना ही अपना लक्ष्य मानता है। अतएव सम्यग्दृष्टि और श्रावक अनाथ नहीं वरन सनाथ ही है।

अनाथी मुनि ने श्रेणिक को सनाथ अनाथ की जो व्याख्या समझाई, उसे समझ कर राजा विचार करने लगा—

मैंने इन महात्मा का नाथ बनने की बात कह कर गम्भीर भूल की है। वास्तव में इन महात्मा का नाथ होने का विचार करना भी एक प्रकार की हिमाकत है। जब मैं स्वयं ही अनाथ हूँ तो इनका या दूसरों का नाथ कैसे बन सकता हूँ ?

इस प्रकार आप भी स्वीकार करें कि परपदार्थों के कारण अनाथता आती है। जितना भी परावलम्बन है, सब अनाथता का हेतु है। ऐसा समझ कर अनाथता को दूर करने का प्रयत्न करो। इसी प्रयत्न में आपका कल्याण निहित है।

जो अपना नाथ बन जाता है, वही दूसरों का नाथ बन सकता है। परन्तु आज इससे विपरीत ही प्रवृत्ति देखी जाती है। लोग अपने नाथ तो बनते नहीं, दूसरों के नाथ बनने को तैयार हो जाते

हैं। परन्तु ज्ञानियों का कथन है कि पर पदार्थों पर अवलम्बित होने के कारण तुम स्वयं ही अनाथ बन रहे हो तो दूसरों के नाथ किस प्रकार बन सकते हो ?

अनाथ मुनि ने मगधसम्राट् से स्पष्ट कह दिया-राजन् ! तुम मेरे नाथ बनने को चले हो; मगर पहले अपने नाथ तो बनलो !

अनाथ मुनि की यह बात सभी को ध्यान में रखनी चाहिए। जो एकदम अपने नाथ नहीं बन सकते, उन्हें भी कम से कम इतना तो स्वीकार करना ही चाहिए कि हम संसार की वस्तुओं की ममता में फँसे हुए हैं, अतएव अनाथ हैं।

मुनि ने राजा श्रेणिक को आपबीती सुनाकर बतलाया--मैं पहले अनाथ था और अब सनाथ हो गया हूँ। अब मैं अपने आपको अपना भी नाथ मानता हूँ और दूसरों का भी नाथ मानता हूँ। अब मैं समस्त त्रस और स्थावर जीवों का नाथ हूँ।

कहा जा सकता है कि कदाचित् त्रस जीवों का नाथ होना तो ठीक है; परन्तु स्थावर जीवों के नाथ किस प्रकार हो सकते हैं ? जो किसी को अपना नाथ ही नहीं मानते, उनके नाथ मुनि कैसे हो गये ?

गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर जिसने अंगार रख दिये थे, मुनि उस सोमल ब्राह्मण के नाथ थे अथवा नहीं ? अगर आप इस संबंध में गंभीर विचार करें तो गजसुकुमार मुनि के चरित्र में आपको अपूर्व और अद्भुत बात दृष्टिगोचर होने लगेगी।

गजसुकुमार मुनि की हत्या के समाचार सुनकर कृष्णजी क्रोध से संतप्त हो उठे। उन्होंने अरिष्टनेमि भगवान् से पूछा-मेरे ही

राज्य म मेरे भाई की हत्या करने वाला कौन है ?

कृष्ण को कुपित देखकर भगवान् ने अपने मुख-सुधाकर से सुधास्राविणी वाणी मे कहा-वासुदेव। 'क्रोध न करो। उस मनुष्य ने *गजसुकुमार का वध नहीं किया, उसकी सहायता की है।'*

क्या सोमल ने सहायता करने की इच्छा से गजसुकुमार के मस्तक पर अगार रक्खे थे ? क्या सोमल मुनि का सहायक था ? परन्तु जो महात्मा सबके नाथ बन जाते हैं, वे किसी को अपना शत्रु नहीं समझते। वे सबको अपना सहायक समझते हैं। वही सब के नाथ है।

निर्ग्रंथ प्रवचन की यह एक बडी विशेषता है कि यह प्राणी मात्र को अपना मित्र ही मानने का उपदेश देता है। हम लोग तो छद्मस्थ है, हममें आज कुछ है तो कल कुछ है। तुम निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रक्खो और यदि हम निर्ग्रन्थप्रवचन के अनुसार सयम का पालन करके तुम्हे निर्ग्रंथवचन सुनाएँ तो हमारी बात मानो, अन्यथा मत मानो। कोई बात निर्ग्रन्थप्रवचन के विरुद्ध हो और तुम हॉ हॉ करो, यह बहुत बुरी बात है।

हॉ तो भगवान अरिष्टनेमि ने कहा—उस पुरुष ने गजसुकुमार मुनि को सहायता दी है। यद्यपि उसने मुनि के मस्तक पर उनका अपमान करने के लिए ही अगार रक्खे थे, किन्तु जब आत्मा ससार के सब प्राणियों को आत्मवत समझने लगता है, तब उसे शत्रु भी मित्र ही प्रतीत होते है उसकी दृष्टि मे कोई शत्रु ही नहीं रह जाता। इस अपेक्षा से वह सब का नाथ ही है।

इसी बालक अपने पिता की दाढ़ी भी खींच लेता है और

उसे थप्पड़ भी जमा देता है फिर भी पिता उस बालक को नहीं मारता; वरन् प्रेम के साथ थप्पड़ खा लेता है तो क्या उस पिता को कायर कहा जा सकता है ? और यदि पिता उस बालक को पीटे तो वीर कहा जायगा ? सच्चा बाप तो वही कहलाएगा जो अबोध बालक द्वारा दिये गये कष्ट को सहन कर ले, पर बदला लेने की भावना से बालक को न मारे। इसी प्रकार नाथ भी वही है जो दूसरों द्वारा दिये गये दुःखों को शान्ति पूर्वक सहन कर लेता है, परन्तु स्वयं किसी को लेश मात्र भी कष्ट नहीं देता।

साधुओं के संबध में भी इस बात को देखो कि उनमें यह गुण है या नहीं ? उन्हें कोई कितना ही कष्ट क्यों न दे, फिर भी वे किसी को कष्ट नही पहुँचाते। वे स्वयं घोर से घोर कष्ट सह लेंगे, पर किसी और को कष्ट न देंगे। मुनि प्यास से पीड़ित और भूख से व्याकुल होने पर भी सचित्त पानी या सचित्त वनस्पति का उपयोग नहीं करेंगे। इस प्रकार स्वयं कष्ट सहन करके भी दूसरों को—त्रस या स्थावर जीवों को—कष्ट न पहुँचाने के कारण वे उनके नाथ कहलाते हैं।

साधु मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि उपकरण किस उद्देश्य से रखते हैं ? और भिक्षा के लिए घर-घर क्यों भटकते हैं ? क्या कोई भक्त उनके निवास स्थान पर लाकर उन्हें भोजन नहीं दे सकता ? कोई न कोई ऐसा भक्त भी मिल ही सकता है। मगर वे ऐसा भोजन नहीं लेते और घर-घर जाकर भिक्षाचर्या करते हैं। जो दुत्कारते हैं, उनके घर भी भिक्षा के लिए जाते हैं। वे जाएँ क्यों नहीं, आखिर तो सब के नाथ ठहरे न ? वह सब के नाथ हैं

या नहीं, इस बात की परीक्षा तो घर घर भिक्षा माँगते समय ही हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं—बाह्य क्रिया मे क्या रक्खा है ? किन्तु बाह्य क्रिया मे अगर कुछ नहीं रक्खा है तो उनमे भी क्या रक्खा है ? स्वय से क्रिया न पल सकती हो तो अपनी निर्बलता स्वीकार करनी चाहिए, किन्तु निर्ग्रन्थप्रवचन को तो दूषित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

अनाथी मुनि ने अपनी अनाथता बतलाकर राजा को यह भी बतलाया कि वे किस प्रकार सनाथ बने ? अब मुनि द्वारा दिये गये उपदेश पर विचार करना है, जो साधु और गृहस्थ सब के लिए समान रूप से उपयोगी है। सत्य तो यह है कि यही उपदेश इस कथा का मूल प्राण है। जहाँ मूल होता है, वहीं फल की आशा रक्खी जा सकती है। मूल के अभाव मे फल की आशा दुराशा मात्र है। अनाथी मुनि द्वारा प्रदत्त उपदेश ही इस कथा का, बल्कि कहना चाहिए, द्वादशागी वाणी का मूल है। मुनिराज कहते हैं—

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा काम दुहा धेणू अप्पा मे नन्दण वण ॥३६॥

अर्थ—मेरा आत्मा ही वैतरणी नदी है, मेरा आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है, मेरा आत्मा ही इच्छित वस्तु देने वाली कामधेनु है, और मेरा आत्मा ही नन्दनवन है।

व्याख्यान —शास्त्रकारों ने, पुण्य और पाप के फल के लिए, सुख और दुःख ये दो पक्ष दिखाये हैं। यानी यह बताया है, कि पुण्य से सुख प्राप्त होता है और पाप से दुःख। इस सुख दुःख से,

धर्म का फल भिन्न है; क्योंकि धर्म का फल मोक्ष है। मोक्ष होने पर न तो कर्मजनित सुख ही है, न दुःख ही। यदि मोक्ष में कर्मजनित सुख माना जावेगा; तो फिर वहाँ दुःख का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। क्योंकि जहाँ एक पक्ष होगा वहाँ दूसरा पक्ष भी होगा ही। लेकिन मोक्ष में, कर्मजनित दुःख का नाम भी नहीं है, इसलिए कर्मजनित सुख भी नहीं है। दुःख और सुख तो तभी तक हैं, जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिए धर्म का फल—मोक्ष—सुख दुःख रहित है।

शास्त्रकारों ने, पाप का फल दुःख बताया है। दुःख में भी वैतरणी नदी एवं कूटशाल्मली वृक्ष के दुःख विशेष हैं। शास्त्रकारों का कथन है, कि नैरयिक को वैतरणी नदी द्वारा बड़े बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। वह उसमें डूबता तथा उतराता है उसके अन्दर रहनेवाले अनेक जीव उसे काटते खाते हैं। इस प्रकार वैतरणी नदी द्वारा, नैरयिक को बहुत कष्ट भोगने पड़ते हैं।

नैरयिकों को नरक में कूटशाल्मली वृक्ष से भी बहुत दुःख होता है। कूटशाल्मली वृक्ष के पत्ते तलवार की धार के समान पैने होते हैं। वे पत्ते नैरयिकों के शरीर पर गिरकर, उनके शरीर को क्षत-विक्षत करते रहते है, जिससे नैरयिकों को अपार कष्ट होता है। शास्त्रकारों के कथनानुसार; नरक में विशेषत. इन्ही के द्वारा कष्ट होता है।

शास्त्रकारों ने पुण्य का फल, सुख बताया है। पुण्य से प्राप्त होने वाला सुख, विशेषतः इच्छित वस्तु देनेवाली कामधेनु और नन्दनवन के द्वारा प्राप्त होता है। कामधेनु एक ऐसी गाय होती है, कि उससे

चाही गई समस्त वस्तुएँ प्राप्त होती है। उसका अग प्रत्यग विशेषता युक्त है। उसका दध तो लाभप्रद है ही, लेकिन गोबर और मूत्र मे भी अन्धे की आँखें खोल देन का गुण होता है। इसी प्रकार नन्दन वन एक ऐसा बाग है, जिससे स्वर्गीय देवों को बहुत आनन्द मिलता है। उस बाग मे पहुँचने पर वे लोग, चिन्ता शोक रहित हो जाते है।

यहाँ मुनि, सुख और दु ख दोनों पक्ष लेकर कह रहे है अधिक से अधिक सुखकारी कामधेनु गाय, तथा सुखदाता नन्दनवन माना जाता है और अधिक से अधिक दुखकारी वैतरणी नदी और दु खदाता कूटशाल्मली वृक्ष माना जाता है। लेकिन कामधेनु, नन्दनवन, वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष कोई दूसरा नहीं है, किन्तु हमारा आत्मा ही है।

सनाथी मुनि, सुख और दु ख की अन्तिम सीमा को लेकर कह रहे है कि ससार में सुख और दु ख का दाता दूसरे को माना जाता है। कोई कहता है, कि मुझे धन सुख देता है। कोई कहता है, स्त्री सुख देती है। कोई कहता है, कि पुत्र या मित्र सुख देता है। कोई कहता है हाथी, घोड़े, राजपाट या कामधेनु सुख देता है। कोई कहता है, कि सुख तो स्वर्ग मे ही मिल सकता है, और प्रधानत नन्दनवन ही सुखप्रद है। इसी प्रकार कोई कहता है, कि शरीर दु ख देता है। कोई कहता है कि शत्रु दु ख देता है। कोई कहता है, कि दु ख तो नरक मे है और नरक मे भी विशेषत वैतरणी नदी एवं कूटशाल्मली वृक्ष दु खदाता है। इस प्रकार लोगों ने दूसरों को सुख या दु ख का देनेवाला मान रखा है। कोई-कोई इससे आगे

वढ़कर कहते हैं, कि सुख-दुःख देनेवाले कर्म हैं। शुभकर्म सुख देते हैं, और अशुभकर्म दुःख देते हैं। शुभकर्म, सुखप्रद कामधेनु वा नन्दनवन से भेंट कराते हैं, और अशुभ कर्म नरक से भेंट कराते हैं, जहां दुःख देनेवाली वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष है। कोई कोई लोग, सुख-दुःख का दाता, काल को वताते हैं, कोई स्वभाव को वताते हैं और कोई ईश्वर को वताते हैं, लेकिन वास्तव में सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है, किन्तु हमारा आत्मा ही अपने आपको सुख या दुःख का देने वाला है।

जो लोग, दूसरे को सुख-दुःख देनेवाला मानते हैं, वे उसी प्रकार की भूल करते हैं, जैसी भूल कुत्ता करता है। कुत्ते को, यदि कोई लकड़ी से मारता है, तो वह उस लकड़ी से मारनेवाले को तो नहीं पकड़ता, और लकड़ी को पकड़ता है। वह समझता है, कि मारने वाली यह लकड़ी ही है। यद्यपि यह लकड़ी तो निमित्त मात्र है, मारनेवाला तो दूसरा ही है लेकिन कुत्ता, अज्ञान के वश यह नहीं समझता है। इसी प्रकार, सुख-दुःख का दाता दूसरे को मानने वाले लोग भी भूल करते हैं। दूसरा तो निमित्त मात्र है, सुख दुःख का देनेवाला, दूसरा कदापि नहीं हो सकता। सुख या दुःख का दाता कौन है, इस वात को सिंह की तरह देखने की आवश्यकता है। सिंह पर जब कोई आदमी, गोली या तीर चलाता है, तव सिंह, उस गोली या तीर को नही पकड़ता, किन्तु, गोली या तीर चलाने वाले पर झपटता है। वह समझता है, कि यह गोली या तीर अपने आप नहीं आया है, किन्तु दूसरे के चलाने से आया है। इसी प्रकार दुख सुख देनेवाले—वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और

नन्दनवन आदि किसी और को मत मानो, किन्तु यह देखो कि दुःख सुख बनाया किसने है ? इन्हें प्राप्त करने वाला कौन है ? ये सुख दुःख आते कहाँ से हैं और किसके भेजे हुए आते हैं ? इस बात का, शेर की तरह अनुसन्धान करने पर, अन्त में यही ठहरता है कि हमारा आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन है। इसी प्रकार शत्रु, मित्र, अनुकूल, प्रतिकूल, स्वपक्षी, आदि भी हमारे आत्मा से ही बनते हैं।

मुनि जो बात कह रहे हैं, वही बात गीता में भी इस प्रकार से कही है—

> उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
>
> —अध्याय ६ ठा

अर्थात्—अपने आत्मा से ही अपने आत्मा का उद्धार करो, गिरने मत दो। आत्मा का शत्रु या मित्र, स्वयं आत्मा ही है। दूसरा कोई उत्थान या पतन करने वाला नहीं है।

मनाथी मुनि कहते हैं—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३७ ॥

अर्थ—सुख और दुःख का उत्पादक एवं विनाशक (कर्त्ता हर्त्ता) आत्मा ही है। आत्मा ही मित्र, शत्रु, दुष्प्रतिष्ठ (दुःख पात्र) एवं सुप्रतिष्ठ (सुख-पात्र) है।

व्याख्यान—मुनि कहते हैं, कि छोटे से लेकर वैतरणी नदी

और कूटशाल्मली वृक्ष तक के महान् दुःख आत्मा के ही पैदा किये हुए हैं, और आत्मा ही इन्हें नष्ट भी कर सकता है। इसी प्रकार, छोटे से लेकर कामधेनु एवं नन्दनवन तक के महान् सुख भी आत्मा के ही पैदा किये हुए हैं, और आत्मा इन सुखों को भी नष्ट कर सकता है। समस्त दुःख-सुख का कर्त्ता आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है।

भ्रमवश आत्मा, अपने लिए दुःख-सुख का देने और करने वाला किसी दूसरे को ही मानता है। इस बात को तो भूल ही जाता है कि सुख-दुःख मेरे ही किये हुए हैं, इसी से मैं इन्हें भोग भी रहा हूँ, और यदि मैं चाहूँ तो इनसे निकल भी सकता हूँ। इस बात को, आत्मा किस प्रकार भूला हुआ है, यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझाई जाती है।

एक महल में एक कुत्ता घुस गया। उस महल में, चारों ओर प्रतिविम्ब-दर्शक काँच लगे हुए थे। कुत्ते को उन चारों तरफ लगे हुए काँचों में अपना प्रतिविम्ब दिखाई देने लगा। अपने प्रतिविम्ब को देखकर, कुत्ता समझने लगा, कि ये दूसरे कुत्ते हैं। वह जिधर भी देखता है, उधर उसे अपने ही समान कुत्ता दिखाई पड़ता है। यद्यपि काँच में दिखाई देने वाला कुत्ता, दूसरा नहीं है, उसी कुत्ते का प्रतिविम्ब है, और काँच में के कुत्तों को इसी कुत्ते ने वनाया है, लेकिन कुत्ता इस वात को नहीं समझता और काँच में दूसरे वहुत से कुत्ते समझ कर भौंकता है। यह कुत्ता आप स्वयं जिस प्रकार मुंह वना कर भौंकता है, उसी प्रकार काँच-स्थित कुत्ते भी मुँह वना कर भौंक रहे हैं, यह देख कर,

तथा अपनी ही प्रतिध्वनि सुन कर, कुत्ता हैरान होता है, और समझता है, कि इन सब कुत्तों ने, मुझे चारों ओर से घेर लिया है, तथा मुझ पर हमला करने के लिए भौंक रहे हैं। इस प्रकार, वह अपने भ्रम से ही आप दुखी हो रहा है। दुःख देने वाला दूसरा कोई नहीं है।

ठीक इसी तरह, आत्मा, अपने आपके पैदा किये हुए दुःख भोगता है, कोई दूसरा दुःख नहीं दे रहा है, फिर भी, आत्मा यही समझता है, कि मुझे दूसरों ने दुःख दे रखा है। यदि वह कुत्ता चाहे, तो उस काँच जटित महल से बाहर निकल कर, अपने आपको सुखी बना सकता है, जो सर्वथा उसी के अधीन है, इसी तरह यदि आत्मा भी चाहे तो अपने आपको दुःख-मुक्त और सुखी बना सकता है।

चाहे स्वर्ग का सुख हो, या नरक का दुःख, उस सुख-दुःख का कर्त्ता आत्मा ही है। आत्मा ने ही, स्वर्ग या नरक में जाने योग्य कार्य किये हैं। किसी दूसरे के किये हुए कार्यों के कारण, अपना आत्मा, स्वर्ग या नरक को नहीं जा सकता। आत्मा को अपने कर्तृत्व से ही स्वर्ग नरक प्राप्त होता है। सुख दुःख का देने वाला दूसरे को माननेवाले लोग, उपादान और निमित्त को नहीं समझते, इसीसे उन्हें यह भ्रम रहता है, कि सुख दुःख का देने वाला दूसरा है।

कारण के बिना कार्य नहीं होता। चाहे स्वर्ग के सुख हों, या नरक के दुःख, प्राप्त होते हैं कारण से ही। उन कारणों का उत्पादक स्वयं आत्मा ही है। आत्मा ही, स्वर्ग या नरक प्राप्त होने के कार्य

करता है। विना कर्म किये, स्वर्ग या नरक नहीं जाता, न सुख-दुःख ही पाता है। नरक या स्वर्ग का आयुष्य बांधने में, कर्म-बन्ध की प्रधानता है। कर्म-बन्ध अध्यवसाय से होता है और अध्यवसाय, आत्मा के अधीन है। इसलिए आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता, भोक्ता, एवं हर्त्ता है।

कुछ लोग काल को नरक-स्वर्ग या सुख-दुःख का देने वाला कहते हैं। कुछ का कहना है, कि स्वाभाव से ही नरक या स्वर्ग प्राप्त होता है। कोई, सुख-दुःख का देनेवाला होनहार को मानते हैं, और कुछ लोग कहते हैं, कि सव कुछ ईश्वर के अधीन है वह जैसा चाहता है, वैसा हो जाता है।

कालवादी कहते हैं कि कर्त्ता-हर्त्ता काल ही है। वे लोग अपने कथन की पुष्टि में कहते हैं, 'काल होने पर ही, जवानी आती है और काल होने पर ही, वुढ़ापा आता है। काल होने पर ही, स्त्रियां वालक प्रसव करती हैं और वृक्ष फूलते फलते हैं। काल होने पर ही गर्मी सर्दी और वर्षा भी होती है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य, काल से ही होता है, विना काल, कुछ नहीं होता। इसी के अनुसार, काल होने पर, नरक जाना पड़ता है। काल होने पर, सुख मिलता है, और काल होने पर दुःख मिलता है। तात्पर्य यह कि सव कुछ काल ही करता है और काल ही सब कुछ होता भी है।'

स्वभाववादी कहता है, 'काल कर्त्ता नहीं है, किन्तु स्वभाव कर्त्ता है। जो कुछ होता है, स्वभाव से ही होता है, काल आदि किसी के किये कुछ भी नहीं होता। यदि काल ही कर्त्ता है, काल से ही सब कुछ होता है, तो काल तो सब पर वर्तता है। फिर एक का

काम होता है, और दूसरे का काम क्यों नहीं होता ? काल होने पर भी एक स्त्री के तो बालक होता है और दूसरी स्त्री के क्यों नहीं होता ? एक ही बाग के कुछ वृक्ष तो फलते हैं और कुछ वृक्ष काल होने पर भी क्यों नहीं फलते ? एक वृक्ष मे आम लगते हैं, दूसरे में नींबू क्यों लगते हैं ? सब मे आम क्यों नहीं लगते ? काल तो सब पर समानता से वर्तता है, फिर इस प्रकार की विषमता क्यों ? इन बातों पर दृष्टि देने से काल, कर्त्ता नहीं ठहरता, किन्तु स्वभाव कर्त्ता ठहरता है। जो कुछ होता है, स्वभाव से ही होता है। स्वभाव होने पर ही स्त्री के बालक होते हैं और वृक्ष मे, फल लगते हैं । इसी प्रकार जिस वृक्ष मे, आम का फल लगने का स्वभाव होता है, उसमे, आम का फल लगता है और जिसमे नींबू का फल लगने का स्वभाव होता है उसमे, नींबू का फल लगता है। जिसमें नरक का स्वभाव होता है, वह नरक जाता है और जिसमे स्वर्ग का स्वभाव होता है, वह स्वर्ग जाता है। जिसमे सुख का स्वभाव होता है, वह सुख पाता है, और जिसमे दुःख का स्वभाव होता है, वह दुःख पाता है। इस प्रकार, सब कुछ स्वभाव से ही होता है। स्वभाव ही, प्रत्येक बात का कर्त्ता है, काल आदि कोई भी कर्त्ता नहीं है।'

होनहारवादी, काल तथा स्वभाव आदि को न कुछ बताकर कहता है, 'जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है। होनहार ही कर्त्ता है, दूसरा कोई भी कर्त्ता नहीं है। स्वभाववादी ने कालवादी को झूठा ठहरा कर, स्वभाव को कर्त्ता बताया है, लेकिन स्वभाव भी कर्त्ता नहीं है, कर्त्ता तो होनहार ही है। यदि स्वभाव

ही कर्त्ता हो, तो दो स्त्रियों में से, एक के तो पहले बालक हुआ और दूसरी के बहुत समय पश्चात बालक क्यों हुआ ? बालक उत्पन्न करने का स्वभाव तो इस दूसरी में भी था, फिर इतने विलम्ब का क्या कारण ? स्वभाव होने पर भी पहले बालक नहीं हुआ और फिर बालक हुआ, इससे सिद्ध है, कि जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है।'

ईश्वर को कर्त्ता मानने वाले लोग कहते हैं, 'जो कुछ होता है, वह सब ईश्वर के करने से ही होता है। काल, स्वभाव या होनहार कर्त्ता नहीं है, किन्तु ईश्वर ही कर्त्ता है। प्रत्येक बात, ईश्वर के करने से ही होती है। वह चाहता है, तो स्वर्ग भेज देता है और वह चाहता है, तो नरक भेज देता है। वह चाहता है, तो दुःख देता है और वह चाहता है तो सुख देता है। वह चाहता है तो स्त्री बालक प्रसव करती है, और वह नहीं चाहता है, तो प्रसव नहीं करती है। इस प्रकार सब कुछ ईश्वर के ही करने से होता है, किसी और के किये कुछ भी नहीं होता।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत के लोगों ने, संसार को चक्कर में डाल रखा है, लेकिन सनाथी मुनि कहते हैं, कि आत्मा ही कर्त्ता-हर्त्ता और भोक्ता है! दूसरा कोई न तो कर्त्ता है, न हर्त्ता है, न करानेवाला या भोगनेवाला ही है।

यद्यपि जैन-शास्त्र आत्मा को ही कर्त्ता बताते हैं, लेकिन ऊपर कहे हुए मतवादियों की युक्ति का, युक्तियुक्त उत्तर दिये बिना, साधारण लोगों की समझ में यह बात नहीं आ सकती कि आत्मा कर्त्ता-हर्त्ता कैसे है? इसलिए युक्ति द्वारा मतवादियों की युक्तियों का

खण्डन किया जाता है।

सबसे पहले, हम, कालवादी से पूछते हैं, कि काल जड़ है, या चैतन्य ? काल, चैतन्य तो हो नहीं सकता—क्योंकि, समय का नाम 'काल' है—इसलिए काल, जड़ ही ठहरता है। काल, जड़ है और आत्मा चैतन्य है। जड़ काल, जब अपने आपको ही नहीं समझता है, तब वह, चैतन्य आत्मा के विषय में कुछ करने के लिए समर्थ कैसे हो सकता है ? चैतन्य आत्मा को, जड़-काल के अधीन समझना, चैतन्य आत्मा के लिए, जड काल को कर्त्ता मानना कौनसी बुद्धिमानी है ? जड काल के अधीन, चैतन्य आत्मा को मानना, चैतन्य को जड़ बनाना है। इस कारण, काल, कदापि कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

काल की ही तरह, स्वभाव के लिए भी यही प्रश्न होता है, कि 'स्वभाव' जड है, या चैतन्य ? यदि कहें कि जड है, तो फिर काल की ही तरह स्वभाव भी, चैतन्य आत्मा का कर्त्ता कैसे हो सकता है और चैतन्य आत्मा को, जड स्वभाव के अधीन कैसे माना जा सकता है ? यदि कहो, कि स्वभाव चैतन्य है, तो आत्मा से भिन्न है, या अभिन्न ? यदि अभिन्न है, तब तो फिर आत्मा ही कर्त्ता ठहरता है, स्वभाव, कर्त्ता कहाँ रहा ? स्वभाव, आत्मा के अधीन है। आत्मा, अपने स्वभाव को अपनी इच्छानुसार बना सकता है। क्षमावान् से क्रोधी, क्रोधी से क्षमावान्, चोर से साहूकार और साहूकार से चोर होते देखे जाते हैं। इस प्रकार, स्वभाव में परिवर्तन होता है, जो सर्वथा आत्मा के अधीन है। इसलिए, स्वभाव कर्त्ता नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है, कि आत्मा के अधीन

रहे कर, स्वभाव, कर्तृत्व में भी भाग लेता हो, लेकिन इस कारण, स्वभाव कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। कर्त्ता तो वही कहा जावेगा, जिसकी कर्तृत्व में प्रधानता है।

रही होनहार की बात; लेकिन होनहार तो कुछ है ही नहीं। होनहार को कर्त्ता मानना, असत् को सत् मानना है। हम होनहार-वादी से पूछते हैं कि एक रसोई बनानेवाला, रसोई बनाने की सब सामग्री लेकर बैठा रहे, रसोई न बनावे, किन्तु यह मानता रहे या कहा करे, कि 'रसोई बननी होगी, तो बन जावेगी!' तो क्या इस प्रकार बैठे रहने पर, रसोई बन सकती है? यदि बिना बनाये रसोई नहीं बन सकती, तो फिर होनहार को कर्त्ता मानना तथा उसके भरोसे बैठे रहना, कैसे उचित है? यदि होनेवाले कार्य को ही होनहार कहा जावे, तो उस होनेवाले कार्य का कर्त्ता तो आत्मा ही रहा न? जब आत्मा ही कर्त्ता है, तब फिर होनहार को कर्त्ता कैसे माना जा सकता है?

अब ईश्वर को कर्त्ता माननेवाले लोगों से हम पूछते हैं, कि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा के अन्तर्गत ही है, या आत्मा से भिन्न? यदि आत्मा के अन्तर्गत ही ईश्वर का अस्तित्व है, तब तो चाहे ईश्वर को कर्त्ता कहो, या आत्मा को कर्त्ता कहो, एक ही बात है। फिर तो कोई मत भेद ही नहीं है। लेकिन यदि यह कहो, कि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा से भिन्न है, ईश्वर एक व्यक्ति विशेष है और जो कुछ करता है, वही करता है, आत्मा के किये कुछ नहीं होता; तो इसका अर्थ तो यह हुआ, कि आत्मा एक मशीन है और ईश्वर उसका संचालक है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता

खण्डन किया जाता है।

सबसे पहले, हम, कालवादी से पूछते हैं, कि काल जड है, या चैतन्य ? काल, चैतन्य तो हो नहीं सकता—क्योंकि, समय का नाम 'काल' है—इसलिए काल, जड ही ठहरता है। काल, जड है और आत्मा चैतन्य है। जड काल, जब अपने आपको ही नहीं समझता है, तब वह, चैतन्य आत्मा के विषय मे कुछ करने के लिए समर्थ कैसे हो सकता है ? चैतन्य आत्मा को, जड काल के अधीन समझना, चैतन्य आत्मा के लिए, जड काल को कर्त्ता मानना कौनसी बुद्धिमानी है ? जड काल के अधीन, चैतन्य आत्मा को मानना, चैतन्य को जड बनाना है। इस कारण, काल, कदापि कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

काल की ही तरह, स्वभाव के लिए भी यही प्रश्न होता है, कि 'स्वभाव' जड है, या चैतन्य ? यदि कहे कि जड है, तो फिर काल की ही तरह स्वभाव भी, चैतन्य आत्मा का कर्त्ता कैसे हो सकता है और चैतन्य आत्मा को, जड स्वभाव के अधीन कैसे माना जा सकता है ? यदि कहो, कि स्वभाव चैतन्य है, तो आत्मा से भिन्न है, या अभिन ? यदि अभिन्न है, तब तो फिर आत्मा ही कर्त्ता ठहरता है, स्वभाव, कर्त्ता कहाँ रहा ? स्वभाव, आत्मा के अधीन है। आत्मा, अपने स्वभाव को अपनी इच्छानुसार बना सकता है। क्षमावान् से क्रोधी, क्रोधी से क्षमावान्, चोर से साहूकार और साहूकार से चोर होते देखे जाते हैं। इस प्रकार, स्वभाव मे परिवर्तन होता है, जो सर्वथा आत्मा के अधीन है। इसलिए, स्वभाव कर्त्ता नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है, कि आत्मा के अधीन

भोगता है, नौकर पर नहीं डालता। एक व्यापारी का मुनीम, यदि नुकसान का सौदा कर बैठता है, तो उस नुकसान को भी व्यापारी ही उठाता है, मुनीम को नहीं उठाना पड़ता। फिर जो ईश्वर स्वयं ही आत्मा से पाप करावे, वही उस आत्मा को नरक भेज दे, यह न्यायोचित कैसे है? उचित तो यह है, कि ईश्वर, प्रत्येक आत्मा को कुछ न कुछ इनाम ही दे, फिर चाहे आत्मा द्वारा बुरा ही काम सम्पादन क्यों न हुआ हो! क्योंकि बुरा काम करके भी, आत्मा ने, ईश्वर की आज्ञा का पालन ही किया है, और आज्ञा का पालन करने के कारण, आत्मा तो पुरस्कार का ही अधिकारी है।

आत्मा से, ईश्वर ही सब कुछ कराता हो, आत्मा, कुछ भी अधिकार न रखता हो, तब तो फिर, संसार में, किसी प्रकार का सदुपदेश देने, या धर्म का प्रचार करने आदि की भी आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि आत्मा तो दूसरे के अधीन है, इसलिए उस पर उपदेश का कोई असर नहीं हो सकता और ईश्वर को उपदेश की आवश्यकता ही क्या है? यदि यह कहा जावे, कि ईश्वर की प्रेरणा से ही, एक आत्मा, दूसरे आत्मा को उपदेश देता है, तो यह बात ठीक नहीं जँचती। क्योंकि वही ईश्वर, चोरी त्यागने का उपदेश दिलावे और वही ईश्वर चोरी करने की प्रेरणा करे, यह कैसे सम्भव है?

ईश्वर को कर्त्ता मानने पर, इसी प्रकार के बहुत से ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं जिनका समाधान होना कठिन है।

ईश्वर को कर्त्ता मानने वाले लोग ईश्वर-कर्तृत्व के विषय में, एक यह दलील देते हैं, 'ईश्वर को कर्त्ता न मानने से, संसार में

भोगता है, नौकर पर नहीं डालता। एक व्यापारी का मुनीम, यदि नुकसान का सौदा कर बैठता है, तो उस नुकसान को भी व्यापारी ही उठाता है, मुनीम को नहीं उठाना पड़ता। फिर जो ईश्वर स्वयं ही आत्मा से पाप करावे, वही उस आत्मा को नरक भेज दे, यह न्यायोचित कैसे है ? उचित तो यह है, कि ईश्वर, प्रत्येक आत्मा को कुछ न कुछ इनाम ही दे, फिर चाहे आत्मा द्वारा बुरा ही काम सम्पादन क्यों न हुआ हो ! क्योंकि बुरा काम करके भी, आत्मा ने, ईश्वर की आज्ञा का पालन ही किया है, और आज्ञा का पालन करने के कारण, आत्मा तो पुरस्कार का ही अधिकारी है।

आत्मा से, ईश्वर ही सब कुछ कराता हो, आत्मा, कुछ भी अधिकार न रखता हो, तब तो फिर, संसार में, किसी प्रकार का सदुपदेश देने, या धर्म का प्रचार करने आदि की भी आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि आत्मा तो दूसरे के अधीन है, इसलिए उस पर उपदेश का कोई असर नहीं हो सकता और ईश्वर को उपदेश की आवश्यकता ही क्या है ? यदि यह कहा जावे, कि ईश्वर की प्रेरणा से ही, एक आत्मा, दूसरे आत्मा को उपदेश देता है, तो यह बात ठीक नहीं जँचती। क्योंकि वही ईश्वर, चोरी त्यागने का उपदेश दिलावे और वही ईश्वर चोरी करने की प्रेरणा करे, यह कैसे सम्भव है ?

ईश्वर को कर्त्ता मानने पर, इसी प्रकार के बहुत से ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं जिनका समाधान होना कठिन है।

ईश्वर को कर्त्ता मानने वाले लोग ईश्वर-कर्तृत्व के विषय में, एक यह दलील देते हैं, 'ईश्वर को कर्त्ता न मानने से, संसार में

कि एक आदमी, चोरी कर रहा है। यह चोरी का पाप, वह आदमी, पूर्व-पाप के दण्ड स्वरूप कर रहा है या नया पाप, कर रहा है ? यदि यह कहो, कि पूर्व पाप के दण्ड स्वरूप कर रहा है, तब तो यह अर्थ हुआ कि ईश्वर पाप का दण्ड देने के लिए, पाप कराता है। फिर तो किसी को 'चोरी मत करो' उपदेश, ईश्वरीय व्यवस्था में हस्तक्षेप करना—अपराध होगा! यदि यह कहा जावे, कि वह चोरी करनेवाला, नया पाप कर रहा है, तो ईश्वर की प्रेरणा से कर रहा है, या स्वेच्छा से ? यदि ईश्वर की प्रेरणा से कर रहा है, तब तो यह हुआ कि ईश्वर पाप कराता है और स्वयं पाप करा कर भी, पाप का दण्ड देता है। यदि यह कहा जावे, कि पाप करने के लिए, आत्मा स्वतन्त्र है, इसीलिए वह स्वेच्छा से पाप कर रहा है, तब भी यह प्रश्न होता है, कि पाप हो जाने पर उसका दण्ड देने के बदले, ईश्वर, पाप करने वाले को पाप करने के समय ही क्यों नहीं रोक देता ? पाप करने देकर फिर दण्ड देने से, ईश्वर को क्या लाभ ? वह दयालु कहाता है, फिर किसी को दुःख में पड़ने या किसी के पास दुःख रहने ही क्यों देता है ?

ईश्वर को कर्त्ता सिद्ध करने के लिए दी जाने वाली समस्त दलीलें, इसी प्रकार लचर ठहरती हैं। हाँ, ईश्वर को निमित्त रूप कर्त्ता तो जैन-शास्त्र भी मानते हैं, लेकिन ईश्वर को उपादान कर्त्ता मानने एवं आत्मा को—जो प्रत्यक्ष ही कर्त्ता भोक्ता है—अकर्त्ता मानने का कोई कारण नहीं है। यदि आत्मा को ही शुद्ध-प्ररूपणा के अनुसार ईश्वर माना जावे, तब तो ईश्वर को

शुभ कर्म का शुभ फल और अशुभ कर्म का अशुभ फल, कर्म
ने स्वभाव से ही भुगताते हैं। इसमें किसी तीसरे की आव-
कता नहीं है। यदि कर्म का फल कोई तीसरा भुगताता हो, तो
का अर्थ यह होगा कि कर्म अपना फल भुगताने की शक्ति नहीं
ते। लेकिन यह बात नहीं है। मिर्च और मिश्री की तरह, कर्म
भी अच्छा-बुरा फल भुगताने की शक्ति है, इसलिए कर्म-फल
गताने के लिए, ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती।

रही यह बात, कि फिर आत्मा, स्वर्ग या मोक्ष क्यों नहीं चला
ाता ? इसका उत्तर यह है, कि जैन-शास्त्र, स्वर्ग को भी कर्म-
ल भोगने का वैसा ही एक स्थान मानते हैं, जैसा कि नरक को।
ाँ, यह अन्तर अवश्य मानते हैं, कि स्वर्ग में शुभ कर्मों का फल
ुगता जाता है और नरक में अशुभ कर्मों का फल भुगता जाता
। शुभ कर्म भोगने के लिए, आत्मा को स्वर्ग जाना पड़ता है,
इसलिए यदि आत्मा स्वर्ग चला भी गया, तब भी कोई विशेषता
की बात नहीं हुई। अब केवल मोक्ष जाने की बात रही, लेकिन
जब तक आत्मा के साथ कर्म हैं, आत्मा, मोक्ष जा ही कैसे सकता
है और कर्म-रहित होने पर आत्मा को मोक्ष से रोक ही कौन सकता
है ? कर्म रहित आत्मा का नाम ही 'मुक्तात्मा' है। आत्मा के साथ
कर्म न होने को ही मोक्ष कहते हैं। यदि आत्मा अपने कर्मों को
नष्ट कर ो वह मुक्त ही है।

स ी, कि काल, स्वभाव, होनहार, या ईश्वर को कर्त्ता
मानना, भूल है। इस भूल से, आत्मा, अनाथता में
. है दूसरा नहीं है, किन्तु आत्मा ही है । इसी-

है। शुभ कर्म का शुभ फल और अशुभ कर्म का अशुभ फल, कर्म अपने स्वभाव से ही भुगताते हैं। इसमें किसी तीसरे की आवश्यकता नहीं है। यदि कर्म का फल कोई तीसरा भुगताता हो, तो इसका अर्थ यह होगा कि कर्म अपना फल भुगताने की शक्ति नहीं रखते। लेकिन यह बात नहीं है। मिर्च और मिश्री की तरह, कर्म में भी अच्छा-बुरा फल भुगताने की शक्ति है, इसलिए कर्म-फल भुगताने के लिए, ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती।

रही यह बात, कि फिर आत्मा, स्वर्ग या मोक्ष क्यों नहीं चला जाता ? इसका उत्तर यह है, कि जैन-शास्त्र, स्वर्ग को भी कर्म-फल भोगने का वैसा ही एक स्थान मानते हैं, जैसा कि नरक को। हाँ, यह अन्तर अवश्य मानते हैं, कि स्वर्ग में शुभ कर्मों का फल भुगता जाता है और नरक में अशुभ कर्मों का फल भुगता जाता है। शुभ कर्म भोगने के लिए, आत्मा को स्वर्ग जाना पड़ता है, इसलिए यदि आत्मा स्वर्ग चला भी गया, तब भी कोई विशेषता की बात नहीं हुई। अब केवल मोक्ष जाने की बात रही, लेकिन जब तक आत्मा के साथ कर्म हैं, आत्मा, मोक्ष जा ही कैसे सकता है और कर्म-रहित होने पर आत्मा को मोक्ष से रोक ही कौन सकता है ? कर्म रहित आत्मा का नाम ही 'मुक्तात्मा' है। आत्मा के साथ कर्म न होने को ही मोक्ष कहते हैं। यदि आत्मा अपने कर्मों को नष्ट कर दे, तो वह मुक्त ही है।

सारांश यह, कि काल, स्वभाव, होनहार, या ईश्वर को कर्त्ता मानना, भयंकर भूल है। इस भूल से, आत्मा, अनाथता में पड़ता है। कर्त्ता, कोई दूसरा नहीं है, किन्तु आत्मा ही है। इसी-

आत्मा ही है। यही बात अनाथता और सनाथता के लिए भी है। आत्मा, अनाथ भी अपने आप ही होता है और सनाथ भी अपने आप ही होता है। कोई दूसरा न तो रुष्ट होकर अनाथ बना सकता है न तुष्ट होकर सनाथ बना सकता है।

अब प्रश्न यह होता है, कि आत्मा, वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु या नन्दनवन बनता कैसे है ? अर्थात् कैसे कार्यों के करने से वैतरणी, कूटशाल्मली वृक्ष बनता है और कैसे कार्यों से कामधेनु, एवं नन्दनवन बनता है ? सनाथी मुनि के शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि सांसारिक गड़बड़ में फँस कर पाप एवं निषिद्ध कार्य करना, यह तो अपने आत्मा को वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष बनाना है, तथा सांसारिक झंझटो से निकल कर, आत्मा को मोक्ष की ओर बढ़ाना, संयम धारण करना, यह अपने आत्मा को कामधेनु एवं नन्दनवन बनाना है। सनाथी मुनि कहते हैं, कि पहले मेरा आत्मा ही वैतरणी नदी और कूट-शाल्मली वृक्ष बना हुआ था, इसी से स्वयं भी कष्ट भोग रहा था और दूसरों को भी कष्ट पहुंचा रहा था; लेकिन अब वही मेरा आत्मा, कामधेनु और नन्दनवन बन गया है, इससे आप भी आनन्द में हैं, तथा दूसरों को भी आनन्द पहुँचाता है।

राजा, जब मैं रोग-ग्रस्त था, तब कहता था कि मेरी आँखें, मेरा सिर और मेरा शरीर दुःख दे रहा है। यदि ये दुःख न दें, तो मुझे शांति हो जावे। उधर वैद्य कहते थे, कि वात-पित्त आदि में विषमता आगई है, इससे दुःख हो रहा है। यदि वात-पित्त आदि सम हो जावें, तो दुःख मिट जावे। उनकी समझ से, दवा,

कोई योजना रखी होती, तब तो उक्त सन्देह होना स्वाभाविक था; लेकिन उन्होंने ऐसी कोई योजना नहीं रखी है-ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं किया है-इसलिए यह सन्देह नहीं किया जा सकता, कि शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी आदि की झूठी कल्पना की होगी। शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी आदि बताने के साथ ही यह भी कहा है कि तुम्हारा आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, नन्दनवन और कामधेनु है। तुम्हारी आत्मा ही, दुःख एवं सुख का कर्त्ता है। इस प्रकार वैतरणी नदी तथा नन्दनवन आदि का अस्तित्व आत्मा में ही सिद्ध किया है और कहा है, कि तुम अपने आत्मा को, इनमें से चाहे जैसा बना सकते हो।

अब प्रश्न यह होता है कि वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन, हमारे आत्मा से दूर हैं और हमारा आत्मा इन से दूर है। ऐसी दशा में, आत्मा से इन सब का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, वैतरणी दी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन आदि सबका वेधायक आत्मा ही है। आत्मा ही विधायक है, इसलिए वैतरणी दी तथा नन्दनवन आदि दूर होने पर भी, समीप किस प्रकार ते हैं औ -आत्मा उनके समीप किस प्रकार पहुंच जाता है, बात नि [illegible] तें पर से समझ में आजावेगी।

एक अ [illegible] है। नीरोगता उससे दूर है। इसी प्रकार [illegible] रोग उससे दूर हैं। लेकिन रोगी आदमी और [illegible] ने कुपथ्य का सेवन किया, इससे रोगी

कोई योजना रखी होती, तब तो उक्त सन्देह होना स्वाभाविक था; लेकिन उन्होंने ऐसी कोई योजना नहीं रखी है—ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं किया है—इसलिए यह सन्देह नहीं किया जा सकता, कि शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी आदि की झूठी कल्पना की होगी। शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी आदि बताने के साथ ही यह भी कहा है कि तुम्हारा आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, नन्दनवन और कामधेनु है। तुम्हारी आत्मा ही, दुःख एवं सुख का कर्त्ता है। इस प्रकार वैतरणी नदी तथा नन्दनवन आदि का अस्तित्व आत्मा में ही सिद्ध किया है और कहा है, कि तुम अपने आत्मा को, इनमें से चाहे जैसा बना सकते हो।

अब प्रश्न यह होता है कि वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन, हमारे आत्मा से दूर हैं और हमारा आत्मा इन से दूर है। ऐसी दशा में, आत्मा से इन सब का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन आदि सबका विधायक आत्मा ही है। आत्मा ही विधायक है, इसलिए वैतरणी नदी तथा नन्दनवन आदि दूर होने पर भी, समीप किस प्रकार आजाते हैं और आत्मा उनके समीप किस प्रकार पहुंच जाता है, यह बात निम्न दृष्टान्त पर से समझ में आजावेगी।

एक आदमी बीमार है। नीरोगता उससे दूर है। इसी प्रकार एक आदमी स्वस्थ है और रोग उससे दूर हैं। लेकिन रोगी आदमी ने पथ्य और स्वस्थ आदमी ने कुपथ्य का सेवन किया, इससे रोगी

जो सहायता करे वही मित्र है। संकट के समय सहायता न करे, वह मित्र नहीं है किन्तु मित्र के रूप में छिपा हुआ शत्रु है। श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियों से कहा था कि प्रिये, तुम प्रेम दिखाती हो, मित्रता बताती हो, लेकिन मित्र वही है जो संकट के समय काम आवे। केवल सुख के समय, मित्रता का प्रदर्शन करने वाला ही, मित्र नहीं है। इसके लिए मै एक दृष्टान्त देता हूँ।

एक राजा का प्रधान था। प्रधान ने विचारा कि अपने समय असमय के लिए किसी को मित्र भी बना रखें। यह विचार कर उसने अपना एक नित्य मित्र बनाया। प्रधान, नित्य-मित्र की बहुत खातिर करता। उसे अपनी ही तरह खिलाता-पिलाता और पहनाता ओढ़ाता। नित्य-मित्र से वह किसी भी प्रकार का भेद-दुराव न रखता। नित्य-मित्र, प्रधान के और प्रधान नित्य-मित्र के साथ ही रहता। प्रधान ने, एक दूसरा पर्व-मित्र भी बनाया। वह पर्व-मित्र को आठवें, पन्द्रहवे दिन अपने यहां बुलाकर, उसकी खातिर करता, खिलाता-पिलाता और पहनाता ओढ़ाता। इन दोनों मित्रों का प्रधान को बहुत भरोसा था। प्रधान समझता था कि ये मित्र कष्ट के समय में मेरी सब प्रकार की सहायता करेंगे। दोनों मित्रों के प्रकट व्यवहार से भी ऐसा ही प्रतीत होता था।

इन दो मित्रों के सिवा, प्रधान ने, एक सेठ को भी मित्र बना रखा था। प्रधान का, सेठ से कोई विशेष व्यवहार न था, केवल सैन जुहार का ही सम्बन्ध था। प्रधान और सेठ जब कभी इधर-उधर मिल जाते, तब परस्पर जुहार कर लेते और इशारे से एक दूसरे की कुशल पूछ लेते। इन दोनों में इतनी ही मित्रता थी।

कुछ दिनों तक मित्रों के साथ प्रधान का मित्रतापूर्ण व्यवहार चलता रहा। प्रधान के साथ नित्य मित्र तो सदा और पर्व मित्र यदा-कदा आनन्द उड़ाता रहा। इनकी परीक्षा का कोई समय न आया। एक बार राजा की प्रधान पर कोप दृष्टि हो गई। राजा ने आज्ञा दी कि प्रधान को पकड़ कर कारागार में डाल दो। राजा की आज्ञा का समाचार सुन कर प्रधान भयभीत हुआ। उसने विचारा, कि जो होना होगा सो तो होगा ही, लेकिन यदि इस समय मैं क्रुद्ध राजा के हाथ पड़ गया, तो मेरी बड़ी दुर्दशा होगी। इसलिए इस समय राजा के हाथ न पड़ना ही अच्छा है।

इस प्रकार विचार कर, प्रधान घर छोड़ कर भाग निकला। उसे सबसे अधिक अपने नित्य मित्र का विश्वास था, इसलिए वह अपने नित्य मित्र के पास गया। प्रधान ने नित्य मित्र से, राजा के कोप का वृत्तान्त कह कर कहा कि मेरे घर पर राजा ने पहरा लगा दिया है, मैं जैसे तैसे निकल भागा हूँ, इस समय यदि मैं पकड़ा जाऊँगा, तो मेरी बड़ी दुर्दशा होगी, इज्जत मिट्टी में मिल जावेगी, इसलिए तुम मुझे कहीं छिपने का स्थान दो और मुझे बचाने का प्रयत्न करो। प्रधान की बात के उत्तर में, नित्य मित्र ने कहा, कि जिस पर राजा का कोप है, उसे मैं अपने घर में कदापि नहीं रख सकता। नित्य मित्र की यह बात सुन कर, प्रधान को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह नित्य मित्र से कहने लगा कि अरे! तू यह क्या कहता है। मैं तेरा और तू मेरा मित्र है न। आज तक अपने साथ रहे, साथ और समान खाया पिया और आज समय पड़ने पर इस तरह उत्तर देता है। नित्य मित्र ने, क्रुद्ध हो कर प्रधान से कहा कि

बस ! यहाँ से चला जा, नही तो अभी पत्थर से सिर फोड़ दूँगा या राजा को खबर देकर पकड़वा दूँगा। प्रधान अधिक क्या कहता ! वह चुपचाप भाग चला।

नित्य-मित्र के पास से रवाना होकर, प्रधान अपने पर्व-मित्र के यहां आया। पर्व-मित्र ने पहले तो प्रधान की खातिर की, लेकिन जब प्रधान ने अपना संकट सुना कर, पर्व-मित्र से सहायता एवं रक्षा की याचना की, तब पर्व-मित्र ने हाथ जोड़ कर प्रधान से कहा कि मै राजा के अपराधी को अपने यहाँ रखने में असमर्थ हूँ। यदि राजा को खबर हो जावेगी, तो वह मेरा घर खुदवा कर फिकवा देगा। इसलिए कृपा करके आप यहाँ से पधार जाइये। हाँ, यदि आप भूखे हो, तो मै आपको भोजन करादूँ और यदि द्रव्य की आवश्यकता हो, तो द्रव्य ले जाइये, लेकिन यहाँ मत ठहरिये।

नित्य-मित्र ने प्रधान के साथ जो व्यवहार किया था, उसके अनुभव ने, प्रधान में यह साहस न होने दिया कि वह पर्व-मित्र से और कुछ कहता। वह, पर्व-मित्र के यहाँ से यह विचार कर चलता बना, कि इसके साथ तो मैने, नित्य-मित्र से कम ही मित्रता का व्यवहार किया था, फिर भी यह पत्थर मारने को तो तैयार नहीं हुआ !

प्रधान, सैन जुहारी मित्र, सेठ के यहाँ गया। रात का समय था। सेठ के घर का द्वार बन्द हो चुका था। नित्य-मित्र और पर्व-मित्र की ओर से रक्षा के लिए स्थान नहीं मिलाथा किन्तु मित्रता के विपरीत व्यवहार हुआ था, इसलिए प्रधान को अपने

सेन जुहारी मित्र सेठ से किसी प्रकार की आशा तो न थी, फिर भी उसने सडक पर खडे होकर सेठ को आवाज दी, सेठ ने द्वार खोल कर पूछा कौन है ? प्रधान ने कहा इधर आइये, मैं बताता हूँ। सेठ प्रधान के समीप गया। प्रधान को देख कर सेठ ने आश्चर्यान्वित हो कहा—कि आप इस समय कैसे ? प्रधान ने उत्तर दिया, कि मुझे आपसे कुछ कहना है। सेठ ने कहा, कि कुछ कहना है, तो घर मे चल कर कहिये, यहाँ सडक पर खडे रह कर बात करना ठीक नहीं। प्रधान ने कहा—कि आप मेरी बात यहीं सुन लें तो अच्छा होगा, मुझे घर मे ले जाने पर सभव है कि आपकी कोई हानि हो। क्योंकि इस समय मुझ पर राजा का कोप है। सेठ ने उत्तर दिया, कि यदि ऐसा है, तो सड़क पर खड रह कर बात करना और भी बुरा है। आप घर मे चलिये, जो होगा सो देखा जावेगा।

सेठ, प्रधान को अपने घर मे लिवा ले गया। घर मे पहुँच कर, सेठ ने, प्रधान से कहा, कि पहले आप शौचादि आवश्यक कार्य से निपट लीजिये, जिससे फिर निश्चिन्त होकर अपन बात चीत करें। सेठ के कथनानुसार प्रधान ने हाथ मुँह धोया। फिर सेठ ने, प्रधान को भोजन कराया। प्रधान को ऐसे समय मे भोजन कब अच्छा लग सकता था, फिर भी उसने सेठ के अत्यधिक आग्रह पर थोड़ा—बहुत भोजन किया। भोजन कर चुकने के पश्चात् सेठ ने प्रधान से कहा, कि अब आप सब वृत्तान्त कहिये, परन्तु मैं आपका मित्र हूँ, इसलिए आप कोई बात छिपाइये या झूठ मत कहिये, किन्तु सच्ची २ बात बताइये, जिससे

कुछ उपाय किया जा सके। प्रधान ने यह बात स्वीकार की।

प्रधान, सेठ से कहने लगा, कि मेरे लिये मेरे विरोधी लोगों ने, राजा से अमुक अमुक बातों की चुगली की है। इन्हीं बातों पर से, राजा मुझ पर कुपित हैं, लेकिन वास्तव में ये बातें गल्त हैं और मैं निर्दोष हूँ। यदि राजा ने मुझे अवकाश दिया होता, या मुझ से पूछा होता, तब तो मैं सब बातें बता देता परन्तु इस समय तो राजा के पास जाना, अपनी इज्जत खोना है। विरोधी लोगों ने जो बातें राजा से कही हैं, उनमें की अमुक-अमुक बात तो अमुक मिसल में, या अमुक बही में लिखी हुई है। हाँ, अमुक बात की गल्ती मेरे से अवश्य हुई है।

प्रधान ने इस प्रकार अपने ऊपर लगाये जाने वाले सभी अभियोगों एवं उनकी सफाइयों से सेठ को परिचित कर दिया और जो भूल हुई थी, उसे भूल मान लिया। प्रधान की सब बातें सुन कर, सेठ ने प्रधान से कहा, कि कोई चिन्ता की बात नहीं है। सब कुछ अच्छा ही होगा। अब जब तक राजा की कोप-दृष्टि न मिट जावे, तब तक आप इसी घर में रहिये, किसी प्रकार का संकोच न करिये। आपने मुझे सच्ची बातों से परिचित कर दिया हैं, इसलिए परिणाम भी अच्छा ही होगा।

प्रधान को, सेठ की बातों से बहुत धैर्य मिला। वह, सेठ के यहाँ ही रहा। दूसरे दिन सेठ राजा के पास पहुँचा। राजा से, सेठ ने अपने आने की सूचना कराई। राजा ने विचारा कि यह सेठ अपने यहां कभी कभी ही आता है, और जब भी आता है, किसी न किसी काम से। आज भी यह किसी काम से

ही आया होगा। इस प्रकार विचार कर, राजा ने सेठ को अपने पास बुलाया। उचित शिष्टाचार और थोड़ी बहुत इधर उधर की बातों के पश्चात् सेठ ने प्रधान का किस्सा छेड़ा। सेठ ने राजा से कहा, कि प्रधानजी के विषय में बहुत से समाचार सुनने में आये हैं, और मालूम हुआ है कि आप प्रधानजी पर रुष्ट हैं तथा प्रधान जी भाग भी गये हैं, सो क्या ये बातें सच्ची हैं? राजा ने उत्तर दिया—हाँ सेठ, प्रधान बड़ा बेईमान निकला। उसने राज्य का बहुत नुकसान किया और अब भाग गया, लेकिन भाग कर कहाँ जावेगा? जहाँ होगा, वहाँ से पकड़वा मँगवाऊँगा और उसे दण्ड दूँगा।

सेठ—अपराधी को दण्ड तो मिलना ही चाहिए और आप के हाथ भी बड़े हैं, प्रधानजी भाग कर कहाँ जावेंगे, परन्तु प्रश्न यह है, कि प्रधान के बिना राज्य का प्रबन्ध कौन करेगा?

राजा—दूसरा प्रधान लावेंगे।

सेठ—यदि दूसरा प्रधान भी ऐसा ही बेईमान निकला तो?

राजा—उसकी जाँच करेंगे, तब रखेंगे।

सेठ—मेरी प्रार्थना यह है, कि जब आप उस नये प्रधान की जाँच करेंगे, तो पुराने प्रधान की ही जाँच क्यों न कर ली जावे? पुराने प्रधान के जिन जिन कामों के विषय में शिकायत है, उन उन कामों की कागजपत्र आदि से जाँच कर ली जावे, जिसमें मालूम तो हो जावे कि वास्तव में प्रधान की बेईमानी है, या नहीं। प्रधानजी मेरे मित्र थे, वे प्राय नित्य ही मुझे मिला करते थे और दरबार में जो काम करते उनका भी जिक्र किया करते थे।

प्रधानजी के कार्यों का बहुत समाचार मुझे भी मालूम है, इसलिए मैं भी इस जॉच में कुछ सेवा दे सकूँगा।

राजा को सेठ की बात ठीक जँची। उसने प्रधान के विरुद्ध लगाये गये सब अभियोग, सेठ को बतलाये। सेठ ने एक एक अभियोग के लिए राजा से कहा, कि इस अभियोग के विषय में प्रधानजी ने मुझ से यह कहा था, कि अमुक फाइल में—या अमुक बही में—सब खुलासा है। सेठ के कथनानुसार, राजा ने फाइलें और बहियें देखीं, तो इसमें प्रधान की कोई बेईमानी मालूम नहीं हुई। कुछ अभियोगों के लिए सेठ ने कहा कि यह प्रधानजी से गल्ती हुई। प्रधानजी मुझसे भी कहते थे, कि अमुक काम में मेरे से अमुक गल्ती हो गई है। इतना बड़ा राजकाज चलाने वाले से यदि ऐसी गल्ती हो जावे तो कोई आश्चर्य या बेईमानी की बात तो नहीं हो सकती।

इस प्रकार धीरे धीरे सेठ ने राजा के सामने प्रधान को सभी अभियोगों में निर्दोष सिद्ध कर दिया। राजा को मालूम हो गया कि प्रधान निर्दोष है; और पिशुन लोगों ने मुझ से प्रधान की झूँठी बातें कह कर, मुझे प्रधान पर कुपित किया है। मैंने भी मूर्खतावश बिना जॉच किये ही प्रधान को पकड़ने की आज्ञा दे दी। अच्छा हुआ जो प्रधान भाग गया, नहीं तो मै उसकी बहुत खराबी करता।

राजा, सेठ से कहने लगा—कि आपने बहुत अच्छा किया, जो ये सब बातें बतला दीं और प्रधान को निर्दोष सिद्ध किया। वास्तव में प्रधान निर्दोष एवं ईमानदार है, बेईमान लोगों की बातों में पड़ कर ही मैंने उसकी प्रतिष्ठा पर हाथ डाला है, लेकिन अब क्या हो

सकता है ? जो होना था, वह हो चुका। अब तो केवल यह प्रश्न है कि प्रधानजी को पुन किस प्रकार प्राप्त किया जावे। सेठ ने उत्तर दिया कि यदि आप मुझे और प्रधानजी को क्षमा करें, और प्रधानजी की प्रतिष्ठा को जो धक्का पहुंचा है, उनका सम्मान बढ़ा कर उस क्षति की पूर्ति करें तो, मैं प्रधानजी को ढूँढ लाऊँ। राजा ने यह बात स्वीकार की, तब सेठ ने कहा कि प्रधानजी मेरे ही यहाँ हैं, आप पधारिये।

सेठ के साथ, हाथी घोड़े आदि सहित राजा, प्रधान को लाने के लिए सेठ के घर को चला। नगर में भी हल्ला हो गया, कि राजा, प्रधान को लाने जा रहे हैं, इससे नगर के लोग भी राजा के साथ हो गये। गाजे बाजे से राजा, सेठ के घर पहुचा। सेठ ने घर मे जा कर प्रधानजी से कहा कि चलिये, आपको राजा लेने के लिए आये हैं। सेठ की यह बात सुन कर, प्रधान घबराया। यह समझा, कि राजा मुझे पकड़ने आये हैं। उसने सेठ से कहा, कि क्या आप मुझे पकड़ा देंगे ? सेठ ने उत्तर दिया—नहीं, आप घबराइये मत, राजा आपको सम्मानपूर्वक लेने के लिए आये हैं, और द्वार पर हाथी लिये खडे हैं। राजा ने आपको निरपराधी पाया, इसी का यह परिणाम है।

सेठ की बात से, प्रधान को प्रसन्नता हुई। वह बाहर आकर राजा से मिला। राजा ने प्रधान को हाथी पर बैठा कर शहर में घुमाया, तथा पुन: प्रधान पद प्रदान किया।

यह दृष्टान्त देकर, श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियों से पूछा—प्रिये, तुम्हारी दृष्टि में, प्रधान के तीनों मित्र में से कौनसा

मित्र अच्छा था ? जम्बू महाराज की रानियों ने उत्तर दिया कि पहला नित्य-मित्र तो किसी काम का ही नहीं था ऐसे मित्र का तो मुँह भी न देखना चाहिए। वह तो मित्र नहीं, किन्तु मित्र के रूप में नीच शत्रु था। दूसरा पर्व-मित्र, मध्यम है। उसने नीच नित्य-मित्र की तरह अशिष्ट व्यवहार तो नहीं किया, लेकिन मित्रता का पालन भी नहीं किया। तीसरा सैन-जुहारी मित्र, उत्तम है। उसने मित्रता का पालन करके संकट के समय मित्र की सहायता की।

जम्बू स्वामी कहने लगे, कि उस प्रधान की ही तरह, मैंने भी अपने तीन मित्र बना रखे हैं। पहला नित्य-मित्र, यह शरीर है। इस शरीर को नित्य ही नहलाता-धुलाता, सजाता-पहनाता और खिलाता-पिलाता हूँ। मैं इसे दूसरा नहीं समझता। लेकिन जब कर्म रूपी राजा बदलता है, जब वृद्धावस्था या रुग्णावस्था आती है, तब, सबसे पहले यह शरीर ही धोखा देता है। उस समय यह शरीर, पत्थर मारने ऐसे काम करता है। दूसरा मित्र, कुटुम्ब-परिवार है, जिसमें तुम लोग भी सम्मिलित हो। यद्यपि तुम लोग अभी मुझसे इतना प्रेम करती हो लेकिन जब कर्म रूपी राजा, मुझसे बदल कर मेरा शत्रु बनेगा, तब क्या तुम लोग, मेरी किसी प्रकार की सहायता कर सकोगी ? उस समय, पर्व-मित्र की तरह यह तो न कहोगी, कि भूखे हो, तो भोजन करा दें; दवा चाहो, तो दवा का प्रबन्ध कर दें, या हम अपने आभूषण दे दें ! क्या उस समय तुम मेरी रक्षा कर सकोगी ? मुझे कोई सहायता पहुंचा सकोगी ? कदापि नहीं।

मैने अपना तीसरा मित्र, सुधर्मा स्वामी को बना रखा है। यद्यपि सुधर्मा स्वामी हैं सैन-जुहारी मित्र ही, उनसे नित्य-मित्र और पर्व-

मित्र की तरह कोई विशेष व्यवहार नहीं है, फिर भी उन्होंने मुझे ऐसा उपाय बताया, कि जिसके करने पर मैं, कर्मरूपी शत्रुओं से लड़ सकता हूँ और उन पर विजय प्राप्त कर सकता हूँ। उनने मुझे सिखाया है, कि तेरे आत्मा मे जो कमी है, तेरे मे जो अनाथता है उसे निकाल, फिर तेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। उन्होंने मुझसे कहा है, कि तेरा मित्र भी तू ही है और तेरा शत्रु भी तू ही है।

तात्पर्य यह, कि मित्र वही होता है, जो सङ्कट के समय काम आये। जम्बू महाराज के कहे हुए दृष्टान्त मे, प्रधान पर लौकिक सङ्कट था, इसलिए लौकिक मित्र ने सहायता की, लेकिन पारलौकिक सङ्कट के समय, लौकिक मित्र सहायता नहीं कर सकता। उस समय, अपना आत्मा ही अपनी सहायता कर सकता है। क्योंकि, परलोक मे, इसका मित्र यही है, दूसरा नहीं। आत्मा स्वय का मित्र बन कर, स्वय की सहायता तभी कर सकता है, जब वह स्वय की मित्रता के कार्य करता हो। सङ्कट के समय सहायता करे, वही मित्र है और जो सङ्कट के समय काम न आवे, किन्तु सङ्कट बढ़ा दे, वही शत्रु है।

अच्छे काम मे लगा हुआ आत्मा, स्वय का मित्र, तथा सुप्रतिष्ठ है और बुरे काम मे लगा हुआ आत्मा, स्वय का शत्रु तथा दुष्प्रतिष्ठ है। उदाहरण के लिए, एक ने अपने कानों से, शास्त्र श्रवण किया और दूसरे ने, वैश्या का गाना सुना। इन दोनों मे से, शास्त्र श्रवण करने वाला आत्मा, स्वय का मित्र एव सुप्रतिष्ठ बना और वैश्या का शृंगार रस पूर्ण गाना सुनने वाला आत्मा अपने आपका शत्रु एव दुष्प्रतिष्ठ बना।

आत्मा को प्राप्त-इन्द्रिय, मन और बुद्धि साधनों से, दोनों ही प्रकार के काम किये जा सकते हैं। यानी ऐसे अच्छे काम भी किये जा सकते हैं, जिनसे आत्मा स्वयं का मित्र और सुप्रतिष्ठ बने, और ऐसे बुरे काम भी किये जा सकते हैं, जिनसे आत्मा, स्वयं का शत्रु एवं दुष्प्रतिष्ट बने। इन्द्रिय, मन, और बुद्धि के कामों पर से ही, आत्मा, मित्र, शत्रु, दुष्प्रतिष्ठ, सुप्रतिष्ठ और सनाथ या अनाथ बनता है।

सनाथ बने हुए व्यक्ति को, कभी दुःख या कष्ट तो होते ही नहीं। सांसारिक लोग जिन्हें घोर से घोर कष्ट समझते हैं, उन कष्टों के समय में भी, सनाथ बना हुआ व्यक्ति, हँसता ही रहता है। शरीर से, चर्म खींचे जाने पर भी, सनाथ बने हुए व्यक्ति को दुःख नहीं होता। वह तो यही समझता रहता है कि यह सब, मैंने ही—मेरे लिए—किया है, इसमें सुख या दुःख मानने की कौनसी बात है। सुख दुःख मानने से, कष्ट के समय रोने एवं सुख के समय हँसने से तो और हानि है, तथा यही अनाथता बढ़ाने या अनाथता में डालने का कारण है। मैं, सनाथ तभी हूँ, जब दुःख के समय भी हँसता रहूँ। दुःख को भी सुख मानने से तथा दुःख के समय भी हँसते रहने से, आत्मा की रही सही अनाथता भी दूर होगी। इस प्रकार विचार कर, सनाथ बना हुआ व्यक्ति, मृत्यु के समय भी हँसता रहता है दुःख नहीं करता। वह जानता है कि किसी भी समय रोने से कुछ लाभ नहीं है, किन्तु ऐसा करना, आत्मा को अनाथ बनाना है। उसको, इस बात पर विश्वास रहता है, कि आत्मा और शरीर, तलवार और म्यान

की भांति, भिन्न भिन्न हैं। 'मैं' आत्मा हूँ, शरीर, नहीं हूँ। शरीर को चाहे कोई कितना ही कष्ट दे, उससे मेरा कुछ नहीं बिगड़ सकता। मैं तो नती ही हूँ, जिसे कोई कष्ट दे ही नहीं सकता। मौत भी मेरा कुछ नहीं बिगाड सकती है, क्योंकि मैं अमर हूँ। सनाथ बना हुआ व्यक्ति गीता के कहे हुए निम्न श्लोक को बिलकुल ठीक मानता है। गीता मे कहा है —

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्यो ऽयमक्लेद्यो ऽशोष्य एव च ।
नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन ॥

अध्याय २ रा।

अर्थात्—यह आत्मा, शस्त्र से नहीं कट सकता, इसे आग नहीं जला सकती, यह पानी से नहीं भीग सकता और इसे हवा नहीं सोख सकती। यह अछेद्य है, कट नहीं सकता, न जलाया, भिगोया या सुखाया ही जा सकता है। यह नित्य, व्यापक, स्थिर, अचल और सनातन—यानी सदा रहने वाला है।

अनाथता को त्यागकर, सनाथ बनना ही आत्म तत्व को समझ कर उसके अनुसार आचरण करना है। जो आत्म तत्व को जान चुका, वह न तो किसी को भय देता ही है, न किसी से भयभीत ही होता है। वह, हर्ष अमरोष आदि सब से परे रहता है। गीता मे कहा है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्ण-सुख दुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित ।

अर्थात्—जो शत्रु, मित्र, मान, अपमान, सर्दी, गर्मी, और सुख तथा दुःख में समान भाव रखता है, जो वासना-रहित है, जो निन्दा स्तुति में तुल्य भावना रखता है और जो मौनी है, वही सनाथ है ।

ये, सनाथ बने हुए व्यक्ति के लक्षण हैं । इन लक्षणों से ही सनाथ व्यक्ति पहचाना जाता है ।

यद्यपि सनाथी मुनि के उपदेश को सुनकर, राजा श्रेणिक अनाथता देने वाली वस्तुओं को त्याग न सका, लेकिन उसको यह श्रद्धा अवश्य हो गई; कि ये वस्तुएँ अनाथता देने वाली हैं । अब तक, वह इन्हीं वस्तुओं को, सनाथ बनाने वाली मानता था, मनुष्य-जन्म को, भोग के लिए जानता था और संयम को, मनुष्य-जन्म का दुरुपयोग एवं अपमान समझता था । लेकिन अब उसकी श्रद्धा, इसके विपरीत हो गई । अब वह, इन वस्तुओं के वास्तविक रूप को समझने लगा है । अब उसकी श्रद्धा, शुद्ध हो गई है ।

शास्त्रकारों का कथन है, कि कल्याण साधने में, श्रद्धा का शुद्ध होना आवश्यक है । श्रद्धा के अनुसार आचरण करना, न करना, अपनी अपनी शक्ति पर निर्भर है, लेकिन श्रद्धा तो शुद्ध ही होनी चाहिए । श्रद्धा शुद्ध होने पर, यदि परिस्थिति-वश किसी

बुरे कार्य में प्रवृत्त होना भी पड़ा, तो शुद्ध श्रद्धावाला उस कार्य को समझेगा बुरा ही, और शुद्ध श्रद्धा के अभाव में, वह बुरा कार्य भी अच्छा मालूम होगा। जो *आदमी, बुरे कार्य को बुरा ही, समझता है, उससे वह बुरा कार्य कभी छूट सकता सम्भव है, लेकिन जो बुरे काम को बुरा ही नहीं समझता, वह उसे क्यों छोड़ेगा ? शुद्धाचरण करना, प्रत्येक की शक्ति से परे की बात है, प्रत्येक आदमी, ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सकता है लेकिन शुद्ध श्रद्धा, प्रत्येक आदमी धारण कर सकता है। शुद्ध श्रद्धा के होने पर, शुद्धाचरण दुर्लभ नहीं माना जाता, लेकिन अशुद्ध श्रद्धा के होने पर, शुद्धाचरण दुर्लभ है। और यदि व्यवहार दृष्टि से किसी में शुद्धाचरण हुआ भी, तब भी, तात्त्विक दृष्टि से तो वह अशुद्धाचरण ही है। इसी कारण शास्त्र में कहा है—

सद्धा परम दुल्लहा।

अर्थात्-श्रद्धा होना बहुत दुर्लभ है।

राजा श्रेणिक की श्रद्धा, अब तक अशुद्ध थी, लेकिन अब शुद्ध हो गई। इस शुद्ध श्रद्धा से—सयम न ले सकने पर भी—राजा श्रेणिक ने, तीर्थङ्कर गोत्र बाँध लिया। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए, शुद्ध श्रद्धा धारण करना, उचित एव आवश्यक है। जब तक श्रद्धा शुद्ध न हो, तब तक कैसा भी ऊँचा धर्म क्यों न हो, प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु शुद्ध श्रद्धा होने पर, ऊँचे धर्म को प्राप्त करना, कोई कठिन कार्य नहीं है।

आत्मा को, यह सर्वोत्तम मनुष्य शरीर, बड़े पुण्य से प्राप्त हुआ है। यह शरीर प्राप्त होने से पूर्व, आत्मा ने, न मालूम कौन

कौन-से शरीर धारण किये थे, और न मालूम कैसे-कैसे कष्टों को सहा था। अनन्त काल तक, अन्य-अन्य शरीर धारण करते रहने के पश्चात्, इसे यह शरीर प्राप्त हुआ है।

यह मनुष्य शरीर, कैसा उत्कृष्ट है, यह बात तभी मालूम हो सकती है, जब इसकी तुलना दूसरे जीव के शरीर से की जावे। किसी वस्तु की विशेष कीमत तभी मानी जाती है, जब वह वस्तु, अन्य वस्तुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रतीत हो। इसी प्रकार, मनुष्य शरीर की विशेषता भी तभी ज्ञात हो सकती है, जब इसकी तुलना, पशु, पक्षी आदि के शरीर से करके देखी जावे। वैसे तो, आंख, नाक, कान, आदि पशु के भी होते हैं और मनुष्य के भी, बल्कि मनुष्य की अपेक्षा पशु के बड़े होते है, फिर भी पशु-शरीर की अपेक्षा, मनुष्य शरीर बड़ा ठहरता है। क्योंकि, पशु में, विवेक नहीं है। पशु शरीर और पशु की इन्द्रियाँ, विवेक-रहित हैं। लेकिन मनुष्य में विवेक है, मनुष्य-शरीर और मनुष्य की इन्द्रियाँ, विवेक सहित हैं। विवेक अपना लाभ-हानि विचार कर सकने की शक्ति-होने से, मनुष्य शरीर, अन्य समस्त जीवों के शरीर से उत्कृष्ट माना जाता है। ऐसा उत्कृष्ट शरीर प्राप्त होना, कम पुण्य की बात नहीं है।

मनुष्य शरीर प्राप्त होना तो बड़े पुण्य का फल है ही, लेकिन स्वास्थ्य, एवं सर्वाङ्ग सम्पन्न मनुष्य-शरीर का प्राप्त होना, और भी महान् पुण्य का फल है। क्योंकि मनुष्य-शरीर पाकर भी बहुत से लोग, अँधे, बहरे, गूँगे, या पंगु आदि होते हैं। बहुत से मनुष्य, जन्मजात पागल, बुद्धिहीन या और किन्हीं रोगों से घिरे होते हैं। यदि ऐसे लोगों में पुण्य की कमी न होती, तो इस

प्रकार का क्यों होना पडता ? उनमें पुण्य की कमी है, स्वस्थ एव सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण मनुष्य की अपेक्षा, वे, कम पुण्यवान है, तभी वे, अङ्गहीन या रोगी हैं। इस प्रकार, पशु-शरीर की अपेक्षा मनुष्य-शरीर उत्तम है और अस्वस्थ एव अङ्गहीन मनुष्य शरीर की अपेक्षा स्वस्थ एव सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण मनुष्य-शरीर, बडे पुण्य से प्राप्त हुआ है, यह बात स्पष्ट है।

अब देखना यह है, कि ऐसा सर्वोत्तम मनुष्य शरीर पाकर करना क्या चाहिए ? यदि इसे खाने पीने या विषय भोग में ही लगा दिया, तब तो इसे उत्कृष्ट माने जाने का कोई कारण नहीं रहता। क्योंकि, यह कार्य तो पशु शरीर से भी हो सकता है। बल्कि इस विषय में, मनुष्य की अपेक्षा पशु, कहीं बढे हुए होते हैं। इसलिए खाने-पीने और दुर्विषय भोग में लगने के कारण मनुष्य शरीर उत्कृष्ट नहीं माना जा सकता। मनुष्य शरीर, इसलिए उत्कृष्ट माना जाता है, कि इस शरीर को पाकर, आत्मा, अपने आप को सनाथ बना सकता है, जन्म मरण से मुक्त कर सकता है और समस्त कष्टों का अन्त करके, अक्षय सुख प्राप्त कर सकता है। यह न करके, यदि मनुष्य शरीर को सासारिक विषय भोग में डाल दिया, तब तो इस उत्कृष्ट शरीर द्वारा वह काम किया, जो काम निकृष्ट माने जानेवाले पशु पक्षी के शरीर में भी नहीं किया गया था। पशु पक्षी के शरीर में तो आत्मा ने, शुद्ध परिणाम रखने की यह करणी की, जिससे यह मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ। लेकिन मनुष्य शरीर पाकर, दुर्विषय भोग में पड़ा हुआ आत्मा, वह करणी कर रहा है, जिससे नरक निगोद में पड़े।

आत्मा को, शरीर के साथ ही जो विवेक प्राप्त हुआ है, भोग प्रवृत्त होने वाला, इस विवेक का दुरुपयोग कर रहा है। यद्यपि विवेक द्वारा दुर्विषय-भोग से निवृत्ति के कार्य्य करने चाहिए, लेकिन दुर्विषय-भोग में प्रवृत्त आत्मा, विवेक द्वारा दुर्विषय-भोग में अधिकाधिक प्रवृत्त होने के कार्य्य करता है, विवेक को, भोग की सुविधा ढूँढने मे लगाता है, अधिकाधिक भोग प्राप्त करने में लगाता है, तथा उस नीति को भंग करने में लगाता है, जिस नीति का पालन पशु भी करते हैं। मनुष्य-शरीर भोग से निवर्तने के लिए है, भोग में प्रवृत्त होने के लिए नहीं। भोग में प्रवृत होना, मनुष्य शरीर के ध्येय के बिलकुल विपरीत है।

मुनि ने, अनाथता सनाथता का जो वर्णन किया है। उससे यह बात सिद्ध हो चुका, कि सांसारिक-वैभव तथा भोगादि में पड़ने पर, यह आत्मा अनाथ होता है और इनसे निवर्त कर संयम लेने पर सनाथ होता है। यदि कोई आदमी, सर्वविरति संयम न ले सके और देशविरति संयम ले, तब भी वह, सनाथता के मार्ग का अनुसरण करनेवाला है और कभी पूर्ण सनाथ भी बन सकता है। अनाथ आत्मा, निरन्तर दुःख ही भोगता रहता है, और सनाथ आत्मा, दुःख-मुक्त हो जाता है। सनाथता-अनाथता का यह भेद, मनुष्य ही समझ सकता है और मनुष्य ही अनार्थता से निकल कर सनाथ हो सकता है। मनुष्य होकर भी यदि अनाथता सनाथता के भेद को न समझ, अनाथता से निकल कर सनाथ होने की चेष्टा न की, तो कहना चाहिये कि उसने दुर्लभ मनुष्य-जन्म का वास्तविक लाभ नहीं लिया। तात्पर्य यह कि मनुष्य-शरीर

मे विवेक एवम् अनाथता से निकल कर सनाथ बनने की क्षमता है, इसी से यह उत्कृष्ट माना जाता है।

मुनि ने, श्रेणिक राजा के समीप, यह तो सिद्ध कर दिखाया, कि असयमी जीवन अनाथतापूर्ण है। अर्थात, ससार व्यवहार में रहना अनाथता है और ससार व्यवहार त्याग कर सयम स्वीकार करना, सनाथता है। अब मुनि यह बताते हैं, कि कोई आदमी सयम स्वीकार कर भी, किस प्रकार अनाथ हो जाते हैं।

इस दूसरी अनाथता यानी सयम ले चुकने पर भी आन वाली अनाथता का वर्णन सनाथी मुनि, कई अभिप्राय से करते हैं। एक अभिप्राय तो सयमी लोगों को सावधान करना है। उन्हें यह बतलाना है, कि तुम अनाथता से निकलने के लिए ही, ससार व्यवहार त्याग कर साधु हुए हो, लेकिन यदि तुमने साधुता के नियमों का पालन न किया, साधु नियम के पालने मे असावधानी से काम लिया, या जिन पदार्थों को त्याग कर सयम लिया है, उन्हीं से फिर प्रेम किया, तो जिस अनाथता से छुटकारा पाने के लिए साधु हुए हो उससे भी अधिक अनाथता म पड जाओगे।

इस वर्णन से, सनाथी मुनि का दूसरा अभिप्राय उन लोगों को उलाहना देना है, जो सयम लेकर सयम के नियमों का पालन नहीं करते हैं, सयम के नियम पालन म असावधानी रखते हैं, या संयम लेकर भी, त्यागे हुए पदार्थों मे आसक्ति या उनकी कामना रखते हैं। जो लोग अनाथता को जानते ही नहीं, या जान कर सनाथ हो गये हैं, या सनाथ होने की चेष्टा कर रहे हैं, उन्हें तो उलहना देने का कोई कारण ही नहीं है। उलहना तो उसी को दिया जाता है, जो

जानबूझ कर बुरे काम करता है।

इस दूसरी अनाथता के वर्णन का तीसरा बहुत बड़ा अभिप्राय, जनता को सावधान करना है। सनाथी मुनि, राजा श्रेणिक को यह बताते हैं कि यद्यपि संयम लेना, सनाथता को अपनाना है और इस कारण अनाथ लोगों की दृष्टि में संयमी पूज्य है, लेकिन संयम लेने वालों में भी, कई अनाथ ही होते हैं। बल्कि ऐसे अनाथ होते हैं, जैसा अनाथ, संयम न ले सकने वाला भी नहीं होता।

संयम लेकर अनाथ बने हुए और संयम न लेकर भी अनाथ बने हुए व्यक्ति, वेश-भूषा मे समान हो सकते हैं, लेकिन गुणों में समान नहीं हो सकते हैं। सनाथता गुणों मे है, केवल वेष-भूषा में ही नही है। यद्यपि आदरणीय वेश भी है, लेकिन तब, जब गुण-युक्त हो। गुण रहित वेश की पूजा करना, भगवान् महावीर का सिद्धांत नहीं है।

अनाथता से निकल कर सनाथ बनने वाले संयमी को, जनता, अपना गुरु मानती है और अपने पारलौकिक जीवन की नाव को, उसके सहारे छोड़ देती है। लेकिन जब तक आचार-विचार से यह विश्वास न कर लिया जावे, कि यह वास्तव में सनाथ है इसके पहले अपना आत्मा उसे सौंप देना, केवल अन्ध विश्वास है। संयमी को अपना गुरु, इसीलिए माना जाता है, कि वे सांसारिक बन्धनों को त्याग कर सनाथ बने हैं, लेकिन उन्होंने सांसारिक बन्धनों को त्यागा है या नहीं, जिस संयम में दीक्षित हुए हैं, उसके नियमों का पालन करते हैं, या नहीं, यह जानना आवश्यक है। यह पहचान, केवल वेश से नहीं हो सकती। वेश में तो सनाथ

में विचर एवम् अनाथता से निकल कर सनाथ बनने की क्षमता है, इसी से यह उत्कृष्ट माना जाता है।

मुनि ने, श्रेणिक राजा के समीप, यह तो सिद्ध कर दिखाया, कि असंयमी जीवन अनाथतापूर्ण है। अर्थात, संसार व्यवहार में रहना अनाथता है और संसार व्यवहार त्याग कर संयम स्वीकार करना, सनाथता है। अब मुनि यह बताते हैं, कि कोई आत्मी संयम स्वीकार कर भी, किस प्रकार अनाथ हो जाते हैं।

इस दूसरी अनाथता यानी संयम ले चुकने पर भी आन वाली अनाथता का वर्णन सनाथी मुनि, कई अभिप्राय से करते हैं। एक अभिप्राय तो संयमी लोगों को सावधान करना है। उन्हें यह बतलाना है, कि तुम अनाथता से निकलने के लिए ही, संसार व्यवहार त्याग कर साधु हुए हो, लेकिन यदि तुमने साधुता के नियमों का पालन न किया, साधु नियम के पालने में असावधानी से काम लिया, या जिन पदार्थों को त्याग कर संयम लिया है, उन्हीं से फिर प्रेम किया, तो जिस अनाथता से छुटकारा पाने के लिए साधु हुए हो उससे भी अधिक अनाथता में पड़ जाओगे।

इस वर्णन से, सनाथी मुनि का दूसरा अभिप्राय उन लोगों को उलाहना देना है, जो संयम लेकर संयम के नियमों का पालन नहीं करते हैं, संयम के नियम पालने में असावधानी रखते हैं, या संयम लेकर भी, त्यागे हुए पदार्थों में आसक्ति या उनकी कामना रखते हैं। जो लोग अनाथता को जानते ही नहीं, या जान कर सनाथ हो गये हैं, या सनाथ होने की चेष्टा कर रहे हैं, उन्हें तो उलहना देने का कोई कारण ही नहीं है। उलहना तो उसी को दिया जाता है, जो

जानबूझ कर बुरे काम करता है।

इस दूसरी अनाथता के वर्णन का तीसरा बहुत बड़ा अभिप्राय, जनता को सावधान करना है। सनाथी मुनि, राजा श्रेणिक को यह बताते हैं कि यद्यपि संयम लेना, सनाथता को अपनाना है और इस कारण अनाथ लोगों की दृष्टि में संयमी पूज्य हैं, लेकिन संयम लेने वालों में भी, कई अनाथ ही होते हैं। बल्कि ऐसे अनाथ होते हैं, जैसा अनाथ, संयम न ले सकने वाला भी नहीं होता।

संयम लेकर अनाथ बने हुए और संयम न लेकर भी अनाथ बने हुए व्यक्ति, वेश-भूषा से समान हो सकते हैं, लेकिन गुणों में समान नहीं हो सकते हैं। सनाथता गुणों मे है, केवल वेष-भूषा में ही नहीं है। यद्यपि आदरणीय वेश भी है, लेकिन तब, जब गुण-युक्त हो। गुण रहित वेश की पूजा करना, भगवान् महावीर का सिद्धांत नहीं है।

अनाथता से निकल कर सनाथ बनने वाले संयमी को, जनता, अपना गुरु मानती है और अपने पारलौकिक जीवन की नाव को, उसके सहारे छोड़ देती है। लेकिन जब तक आचार-विचार से यह विश्वास न कर लिया जावे, कि यह वास्तव में सनाथ है इसके पहले अपना आत्मा उसे सौंप देना, केवल अन्ध विश्वास है। संयमी को अपना गुरु, इसीलिए माना जाता है, कि वे सांसारिक बन्धनों को त्याग कर सनाथ बने हैं, लेकिन उन्होंने सांसारिक बन्धनों को त्यागा है या नहीं, जिस संयम में दीक्षित हुए हैं, उसके नियमों का पालन करते है, या नही, यह जानना आवश्यक है। यह पहचान, केवल वेश से नहीं हो सकती। वेश में तो सनाथ

और अनाथ, ऐसे दोनों ही प्रकार के रहते हैं। वेशधारी परन्तु अनाथ सयमी को अपना आत्मा सौंप देने से, लाभ के बजाय हानि है। सनाथ और अनाथ वेशधारी की पहिचान कैसे हो सकती है? अनाथ वेशधारी के प्रधान लक्षण क्या है, यह बात सभी लोग नहीं जानते। सनाथी मुनि, इस प्रकार के अनाथ लोगों की पहिचान कराने के लिए ही, इस दूसरी अनाथता का वर्णन करते हैं।

आज कल, साधु वेश रख कर असाधुता के काम करने वाले लोगों की कमी नहीं है। सनाथ मुनि ने, इस दूसरी अनाथता का वर्णन, लगभग ढाई हजार वर्ष पहले किया है, इससे प्रकट है, कि ऐसे लोग उस समय भी थे। तुलसीदासजी ने भी ऐसे लोगों के लक्षण बता कर, उनकी निन्दा की है। उन्होंने कहा है—

जे जन्मे कलिकाल कराला, करतब वायस वेष मराला।
वचक भक्त कहाइ राम के किंकर कचन कोह काम के॥

अर्थात्—कराल कलियुग में जन्मने वाले लोग, काम तो कौए के करते हैं और वेश हंस का रखते हैं। वे ठग, राम के भक्त कहा कर भी काम, क्रोध एवम् द्रव्य के गुलाम बने रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि मुनि वेश में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो साधु कहला कर भी, असाधुता के काम करते हैं। एक ही वेश में, दोनों प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, इसलिए पहचान कठिन हो जाती है। उनकी पहचान कराने के लिए ही, सनाथी मुनि, इस दूसरी अनाथता का वर्णन करते हैं।

इस दूसरी अनाथता को समझना भी, जनता का कर्त्तव्य है। इससे मुख्य लाभ तो यह है कि कुगुरु सदगुरु का निर्णय हो जाता

है। यह वेशधारी, वास्तव में निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी–निर्ग्रन्थ धर्म का पालन करने वाला है, या नहीं! यह बात मालूम हो जाती है। यह मालूम होने से, जनता अनेक हानियों से भी बच जाती है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति साधु-वेशधारी है। उस व्यक्ति का आचरण देखकर नहीं, किन्तु केवल वेश के कारण विश्वास किया गया, इसलिए उसके द्वारा किसी भी समय, धन, जन, प्रतिष्ठा और धर्म की हानि हो सकती है। यदि वेश के साथ ही, उसके आचरण के सम्बन्ध में भी विश्वास कर लिया जावे, तो फिर ऐसी हानि की आशंका नहीं रहती। इसलिए सनाथी मुनि द्वारा वर्णित, दूसरी अनाथता के लक्षणों को ध्यान में रख कर, इन लक्षणों पर से संयम वेशधारी अनाथ को पहचान लेना, जनता के लिए, प्रत्येक दृष्टि से हितकारी है।

कुछ लोगों ने, यह सिद्धान्त बना रखा है, कि 'अपने-यानी साधु साध्वियों के–चरित्र सम्बन्धी शास्त्राज्ञा से, गृहस्थ को परिचित न किया जावे। परिचित कर देने पर, गृहस्थ लोग अपने को पद-पद पर टोकेंगे, इससे अपनी मनमानी न चल सकेगी।' इस प्रकार के विचार से, कई लोग, साधुता के आचार से गृहस्थों को अपरिचित रखते हैं, लेकिन ऐसा करना, उनकी संयम पाल सकने की अक्षमता के सिवा और कुछ नहीं कहला सकता। जो संयम पालनेमें वीर होगा, वह, इस प्रकार का सिद्धान्त कभी न बनावेगा। वह तो सनाथी मुनि द्वारा वर्णित, इस दूसरी अनाथता को जनता के सन्मुख विस्तृत रूप में रख कर, यह घोषणा करेगा, कि अनाथता के इन लक्षणों में से, यदि कोई लक्षण हम पर घटता हो, तो हमें उलाहना दो और ऐसा

उपाय करो, कि इस में से अनाथता का यह लक्षण मिट जावे।

कई आदमी, गृह ससार त्याग कर और सयम को अपना कर भी, अनाथता मे पड जाते है। सयम लेकर भी अनाथता मे कैसे पडते है, और फिर अनाथता मे पडना कितना एव कैसा बुरा है? यह बताने के लिए, सनाथी मुनि कहते है—

इमा हु अएणा वि अणाहया निवा,
तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि।
नियण्ठधम्म लहियाण वी जहा,
सीयन्ति एगे बहु कायरानरा ॥३८॥

अर्थ—हे राजा, एक अनाथता और है, जिसे तुम स्थिर चित्त होकर सुनो। सनाथ बनाने वाले निर्ग्रन्थ धर्म को प्राप्त करके भी, बहुत से कायरलोग पतित हो जाते है और निर्ग्रन्थपने मे दु ख पाते है।

कुछ लोग कहते है—हम गुरु है, अतएव जो कुछ भी करते है, वही ठीक है। परन्तु अनाथी मुनि ऐसा नहीं कहते। वह कहते है—कितनेक साधु कायर होकर अनाथ ही बने रहते है और निर्ग्रन्थ-अवस्था मे भी दु ख पाते है।

इस आलोचना को सुनकर, सभव है कुछ साधुओं और साध्वियों को अप्रसन्नता हो और व रुष्ट भी हो जाएँ, किन्तु जो बात शास्त्र मे आई है, वह तो कहनी ही पडेगी। जब हम दूसरों की टीका टिप्पणी एव आलोचना करते है तो अपनी निज की टीका टिप्पणी और आलोचना से क्यों डरना चाहिए? इस टीका को सुनकर साधुओं को तो ऐसा सोचना चाहिए कि ससार मे जो

पाप होता है, उसका उत्तरदायित्व हमारे ऊपर ही है। अगर हम साधु पवित्र रहें तो संसार के समस्त पाप भस्मीभूत हो जाएँ! अगर हम अपने भीतर छिपे पापों को न रहने दें तो स्वयं पवित्र हो जाएँ और दूसरों को पवित्र कर सकें।

जैसे श्वेत चादर पर पड़ा हुआ काला धब्बा आँखों को चुभता है उसी प्रकार साधुओं का सनाथता में से निकलकर फिर अनाथ बन जाना महापुरुषों को चुभता है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! अब मै तुम्हें एक जुदा प्रकार की अनाथता बतलाता हूँ। तुम एकाग्र और निश्चल चित्त होकर सुनोः—

अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक से यह बात कहकर एक महान् सिद्धान्त की सूचना की है। इस सिद्धान्त-तत्त्व को ध्यान में रखने की खास आवश्यकता है।

लोग कहते हैं—इतना उपदेश सुनने पर भी हमें ज्ञान क्यों नहीं होता? उन्हें समझना चाहिए कि उपदेश श्रवण करने में भी चित्त को एकाग्र और निश्चल करना पड़ता है। मन एकाग्र न हुआ तो उपदेश श्रवण का फल नहीं होता।

योगियों का चित्त एकाग्र होता है। योग शास्त्र में क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरोध यह पाँच चित्तवृत्तियाँ बतलाई गई हैं। इन पाँचों का विवेचन करने के लिए लम्बा समय चाहिए, परन्तु अभी बहुत विस्तार न करके संक्षेप में ही कहता हूँ।

मन में राग-द्वेष को बढ़ाने वाली रजोगुणमयी जो वृत्ति होती है, अर्थात् मन जब राग-द्वेषवर्द्धक रजोगुण में ही आनन्द

मानता है, उस समय की मनोवृत्ति क्षिप्त वृत्ति कहलाती है।

तमोगुण प्रधान वृत्ति मूढ़ वृत्ति है। मादक पदार्थों का सेवन करने मे आनन्द मानना मूढ़वृत्ति का ही परिणाम है। कोई-कोई चित्त को निश्चल करने के लिए अफीम, भग, गाजा आदि मादक पदार्थों का सेवन करते हैं। इस प्रकार तामसिक पदार्थों का सेवन करके चित्त को निश्चल बनाना भी मूढ वृत्ति है।

शब्द, रूप, रस, गध आदि इन्द्रिय विषयों में आनन्द मानना चित्त की विक्षिप्त वृत्ति है। शास्त्र के कथनानुसार इन तीन वृत्तियों के पश्चात् की जो एकाग्र वृत्ति है, उसका अवलम्बन करके धर्म श्रवण किया जाय तो शास्त्र का तत्त्व समझ मे आता है।

यह एकाग्र वृत्ति ही योगी की वृत्ति है और इसी मे योग साधना होती है। जब तक चित्त मे एकाग्र वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, तब तक शास्त्र की बात समझ मे नहीं आती।

आप यहाँ शास्त्र श्रवण करने के लिए आये हैं, तथापि अगर आप राग द्वेष मे पडे हैं; रूप, रस, गध आदि की अभिलाषा का सेवन कर रहे हैं, अथवा निद्रा ले रहे हैं, तो आपका चित्त क्षिप्त, मूढ या विक्षिप्त वृत्ति में ही रह रहा है और ऐसी स्थिति मे शास्त्र श्रवण करने पर भी ज्ञान की उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है? शास्त्र की बात सुनकर ज्ञान तो तभी हो सकता है जब चित्त मे एकाग्रता हो।

कदाचित् श्रोताओं का चित्त एकाग्र हो या न हो, पर शास्त्र सुनाने वाले वक्ता का चित्त तो एकाग्र होना ही चाहिए। आज कल हम साधुओं पर भी आपकी क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त चित्तवृत्ति का

प्रभाव पड़ा है। हम से भी कहा जाता है कि जमाने को देखकर बोलना-चलना चाहिए। किन्तु जमाने को देखकर आपको खुश करने के लिए हम सत्य को दबा रक्खें तो कहना चाहिए कि फिर तो हम भी पहले की तीन वृत्तियों में ही रहे ! हमारी चित्तवृत्ति भी एकाग्र हुई नहीं कही जा सकती। हम साधुओं को तो चित्त एकाग्र करके सत्य वस्तु-तत्त्व ही प्रकट करना चाहिए। उससे कोई प्रसन्न हो तो अच्छा और अप्रसन्न हो तो अच्छा।

मित्रों ! आपसे भी यही कहना है कि आप भी चित्त को एकाग्र कर शास्त्र श्रवण करें। इस प्रकार मेरे कहने पर भी अगर आप एकाग्रतापूर्वक शास्त्र न सुने तो आपकी मर्जी, किन्तु मुझे तो एकाग्र होकर ही शास्त्र श्रवण करना चाहिए। साधुओं का तो यही कर्त्तव्य है कि वे अपनी चित्त वृत्ति को बिखरी न रखकर एकाग्र करें।

कितनेक साधु अपनी चित्तवृत्ति को संयम में स्थिर न करके सामाजिक सुधार के नाम पर सांसारिक झंझटों में फँस जाते हैं, किन्तु ऐसा करना उचित नहीं है। साधुओं को तो अपनी चित्त-वृत्ति संयम में ही स्थिर रखनी चाहिए। राजा श्रेणिक ने मुनि के उपदेश को एकाग्र भाव से सुना तो तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया। यह सम्पत्ति कुछ साधारण नहीं है। तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति है और आत्मा का शाश्वत कल्याण करने की निमित्त है।

कह सकते हो कि संसार के झंझटों में मन को किस प्रकार एकाग्र किया जाय ? किन्तु संसार के संकटों के समय तो मन और अधिक एकाग्र रहना चाहिए।

कुछ लोगों का ख्याल है कि गृहस्थों के सामने साधु-आचार संबंधी बातें कहना अनावश्यक है। साधु आचार का विचार तो एक जगह बैठकर साधुओं को ही आपस में कर लेना चाहिए। गृहस्थों के सामने उन बातों को रखने से कोई लाभ नहीं है।

अगर यह ख्याल सही होता तो अनाथ मुनि को श्रेणिक राजा के सामने भी यह चर्चा नहीं करनी चाहिए थी। किन्तु हम देखते हैं कि अनाथ मुनि राजा के सामने साधु आचार की चर्चा कर रहे हैं। इससे विदित होता है कि गृहस्थों के सामने साधु आचार की चर्चा करना अयोग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त साधु भीतर ही भीतर अपने आचार की चर्चा कर लिया करें और गृहस्थों के सामने न करें तो उन्हें कैसे पता चले कि कौन साधु है और कौन नहीं? इस प्रकार गृहस्थों के समक्ष साधु-समाचारी की बातें रख कर यह प्रकट किया गया है कि जो साधु आगम के अनुसार आचरण करते हों, उन्हें साधु मानो और जो तदनुसार आचरण न करते हों, उन्हें साधु न मानो।

कहा जा सकता है कि आगम में कथन होने पर भी कैसे यह निर्णय किया जाय कि यह है या नहीं? क्योंकि कितने ही साधु ऊपर से तो आगमानुसार व्यवहार करते हैं, किन्तु गृहस्थों को क्या पता कि वे भीतर से भी वैसा ही करते हैं या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आपको साधु की अपेक्षा आगम को अधिक प्रमाणभूत मानना चाहिए और देखना चाहिए कि आगम के विधान के अनुसार इसका आचरण है या नहीं? आप गृहस्थ भी निर्ग्रन्थप्रवचन के दास हैं। उसे जीवन-व्यवहार में लाना तो

अपनी-अपनी शक्ति और परिस्थिति पर निर्भर है, किन्तु श्रद्धा तो उस पर दृढ़ ही रखनी चाहिए। और जो साधु हैं उन्हें निर्ग्रन्थ-प्रवचन के अनुसार ही चलना चाहिए। जो शास्त्र के अनुसार नहीं चल सकता, उसके साधुपन त्याग कर चले जाने की शास्त्र निन्दा नही करता। किन्तु साधु-अवस्था मे रहकर शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति करने वालों की तो अनाथ मुनि भी टीका कर रहे हैं।

लेकिन मूल प्रश्न अभी कायम है। कोई साधु ऊपर-ऊपर से शास्त्रानुकूल व्यवहार करता हो और भीतर से न करता हो तो उस अवस्था मे कैसे निर्णय किया जाय कि वह वास्तव मे शास्त्र के अनुसार व्यवहार करता है या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि भीतर-भीतर कुछ करना और ऊपर कुछ और ही तरह का प्रदर्शन करना, यह भूतकाल मे हुआ है, वर्त्तमान में होता है और भविष्य में भी होगा। इस प्रवृत्ति को रोका नही जा सकता। अतएव आपको तो निर्ग्रन्थप्रवचन पर ही श्रद्धा रखनी चाहिए और देखना चाहिए कि व्यवहार में साधु का आचरण उसके अनुकूल है या नहीं। आप पूर्ण नहीं है, जिससे की किसी के आन्तरिक भावों को या आन्तरिक वास्तविकता को जान सके। अपूर्ण के लिए तो व्यवहार देखना ही उचित है। अतएव जो साधु व्यवहार में निर्ग्रन्थप्रवचन का पालन करते हैं, उन्हे साधु के रूप में मानना चाहिए और जो नहीं पालन करते, उन्हे नहीं मानना चाहिए। आपको ध्यान रखना है कि अपूर्ण जनो के लिए निश्चय को जानने का कोई अचूक साधन नहीं है। अपूर्ण तो व्यवहार से ही सब बाते जान सकते हैं।

उदाहरणार्थ—आपने किसी को अपनी दुकान पर मुनीम बना

कर रक्खा। वह मुनीम व्यवहार में बराबर जमा—खर्च का हिसा
रखता है। ऐसी स्थिति में आप उस पर विश्वास करेंगे अथव
नहीं? निश्चय में उसका हृदय कैसा है, यह बात आप नहीं जानते
किन्तु व्यवहार का पालन वह बराबर कर रहा है। ऐसी स्थिति
आप उसे मुनीम मानेंगे। इसके विपरीत, अगर किसी का हृद
साफ हो परन्तु व्यवहार में काम बराबर न करता हो आप क्य
करेंगे? आप यही कहेंगे कि जो मुनीम व्यवहार को नहीं जानत
उसकी हमें आवश्यकता नहीं। राजशासन में भी यही बात है
पुलिस विभाग हो अथवा न्यायविभाग हो, जो कायदे के अनुसा
काम करता है, उससे कोई कुछ नहीं कहता। वहा कायदे का पाल
करना आवश्यक है। हृदय कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों
हो, पर जो कायदे का पालन नहीं करता, वह उपालभ का पा
बनता है।

साराश यह है कि जब तक पूर्णता न आ जाय तब तक व्यवहा
द्वारा ही किसी बात की परीक्षा हो सकती है। यद्यपि व्यवहार
साथ निश्चय की भी आवश्यकता है, किन्तु निश्चय तो आत्मसाक्ष
से ही जाना जा सकता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन।

अर्थात्—श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते है, दूसरे लोग भ
उन्हीं का अनुकरण करके आचरण करने लगते हैं, क्योंकि व्य
वहार में आचरण ही देखा जा सकता है, निश्चय को देखना हमारे
लिए शक्य नहीं है। अतएव निश्चय के साथ व्यवहार का पालन
करना ही चाहिए।

●

हमारे यहां से प्रकाशित

जवाहर साहित्य की सूची

नं०	नाम	विषय	मूल्य
	श्री जवाहर किरणावली		
१.	प्रथम किरण	दिव्य-दान	१।)
२.	द्वितीय ,,	दिव्य-जीवन	१)
३.	तृतीय ,,	दिव्य-संदेश	१।)
४.	चतुर्थ ,,	जीवन-धर्म	१॥)
५.	पांचवीं ,,	सुबाहुकुमार	१।॥)
६.	छट्ठी ,,	रुक्मिणी विवाह	।॥)
७.	सातवीं ,,	श्रावणमास के व्याख्यान	२)
८	आठवीं ,,	सम्यक्त्व-पराक्रम [प्रथम भाग]	१।)
९.	नवीं ,,	,, ,, [दूसरा भाग]	१॥)
१०.	दसवीं ,,	,, ,, [तीसरा भाग]	१।)
११.	ग्यारहवीं ,,	,, ,, [चौथा भाग]	।॥)
१२.	बारहवीं ,,	,, ,, [पांचवां भाग]	।॥)
१३.	तेरहवीं ,,	धर्म और धर्मनायक	२)
१४.	चौदहवीं ,,	राम वन-गमन [प्रथम भाग]	१।)
१५.	पन्द्रहवीं ,,	,, ,, [द्वितीय भाग]	।॥)
१६.	सोलहवीं ,,	अंजना	१)
१७.	सत्रहवीं ,,	पांडव-चरित्र [प्रथम भाग]	१।)
१८.	अट्ठारहवीं ,,	,, ,, [द्वितीय भाग]	१।)
१९.	उन्नीसवीं ,,	बीकानेर के व्याख्यान	२)

कर रक्खा। यह मुनीम व्यवहार में बराबर जमा—खर्च का हिसा रखता है। ऐसी स्थिति में आप उस पर विश्वास करेंगे अथव नहीं ? निश्चय में उसका हृदय कैसा है, यह बात आप नहीं जानते किन्तु व्यवहार का पालन वह बराबर कर रहा है। ऐसी स्थिति में आप उसे मुनीम मानेंगे। इसके विपरीत, अगर किसी का हृद साफ हो परन्तु व्यवहार में काम बराबर न करता हो आप क्य करेंगे ? आप यही कहेंगे कि जो मुनीम व्यवहार को नहीं जानता उसकी हम आवश्यकता नहीं। राजशासन में भी यही बात है पुलिस विभाग हो अथवा न्यायविभाग हो, जो कायदे के अनुसा काम करता है, उससे कोई कुछ नहीं कहता। वहां कायदे का पालन करना आवश्यक है। हृदय कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो, पर जो कायदे का पालन नहीं करता, वह उपालभ का पा बनता है।

सारांश यह है कि जब तक पूर्णता न आ जाय तब तक व्यवहा द्वारा ही किसी बात की परीक्षा हो सकती है। यद्यपि व्यवहार के साथ निश्चय की भी आवश्यकता है, किन्तु निश्चय तो आत्मसाक्षी से ही जाना जा सकता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।

अर्थात्—श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोक भी उन्हीं का अनुकरण करके आचरण करने लगते हैं क्योंकि व्य वहार में आचरण ही देखा जा सकता है, निश्चय को देखना हमारे लिए शक्य नहीं है। अतएव निश्चय के साथ व्यवहार का पालन करना ही चाहिए।